विषय-सूची

विषय — पृष्ठ

गल्प (Short Stories)

नाटकीय साहित्य (Dramatic Literature)

* यह चिह्न स्वर्गवासी लेखकों का सूचक है।

गद्य-रत्न-माला

College Section

सङ्कलनकर्त्ता और सम्पादक—

महामहोपाध्याय, रायबहादुर

गौरीशङ्कर-हीराचन्द ओझा
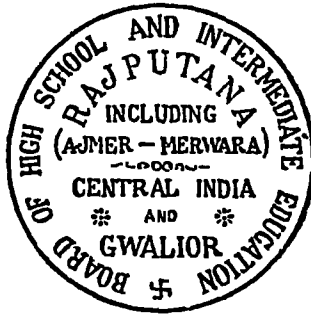
Published by

The Educational Publishers, Ltd., Ajmer

under the authority of the

Board of High School and Intermediate Education,
Rajputana (including Ajmer-Merwara),
Central India and Gwalior, Ajmer.

1936.

Price Rs. 1/4.

दुष्यन्त—(आप-ही-आप) यह कथा तौ मुझी पर लगती है। अब इस बालक की मा का नाम पूछूँ। (सोचकर) परन्तु पराई स्त्री का वृत्तान्त पूछना अन्याय है।

(तपस्विनी मिट्टी का मोर लिये हुए आती है)

तपस्विनी—हे सर्वदमन ! यह शकुन्तलावण्य देख।

बालक—(बड़े चाव से देखकर) कहाँ है शकुन्तला मेरी मा ?

दोनों तपस्विनी—यह मा के प्यारे नाम से धोखा खा गया।

दूसरी तपस्विनी—मुन्ना, मैंने तौ यह कहा था कि इस मिट्टी के सुन्दर मोर को देख।

दुष्यन्त—(आप-ही-आप) क्या इसकी मा का नाम शकुन्तला है ? हुआ करो, एक नाम के अनेक मनुष्य होते हैं। कहीं मुझे दुःख देने को नाम का उच्चारण ही मृगतृष्णा न बनाया हो।

बालक—मुझे यह मोर बहुत अच्छा लगता है।

[खिलौने को लेता है]

पहली तपस्विनी—(घबड़ाकर) हाय ! हाय ! इसकी बाँह से रक्षाबंधन कहाँ गया ?

दुष्यन्त—घबड़ाओ मत, जब यह नाहर के बच्चे से खेल रहा था, इसके हाथ से गंडा गिर गया, सो यह पड़ा है।

[ंडा उठाने को झुकता है]

बाबू मथुराप्रसाद शिवहरे के प्रबन्ध से
दी फ़ाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर
में मुद्रित

प्रथमावृत्ति ५००
द्वितीयावृत्ति ७०००

उपयोग और महत्त्व जानना पड़ा हो। आजकल आग जलाना बहुत ही सीधी और सहज बात हो गई है। थोड़ा-सा सूखा खर, कुछ सूखे हुए पत्ते, एकाध टुकड़ा काग़ज़ या ज़रा-सा कोयला ही आग सुलगाने के लिये यथेष्ट होता है। बस एक दियासलाई का काम है। अब चाहे आप उसपर भोजन पका लीजिये और चाहे सरदी से बचने के लिये उससे कमरा गरम कर लीजिए। जब आग ज़रा ठंढी पड़ने लगे, तब उसपर थोड़ी-सी लकड़ियाँ, पत्तियाँ या कोयले डाल दीजिए, वह फिर दहकने लगेगी। पर आरम्भ में थोड़ी सी लकड़ियाँ या पत्तियाँ डालकर आग को बुझने न देना उतना सहज नहीं था, जितना सहज आजकल हम और आप उसे समझते हैं। ढेर-सी आग सुलगा दीजिये और उसके पास लकड़ियाँ, पत्तियाँ या कोयले रख दीजिए जब सरदी लगेगी, तब बिल्ली या कुत्ता उसके पास तो आकर बैठ जायगा; पर जब वह आग बुझने लगेगी, तब और लकड़ियाँ, पत्तियाँ या कोयले डालकर उसे फिर से सुलगाना उस बिल्ली या कुत्ते को कभी न सूझेगा। किसी होशियार कुत्ते या बन्दर को, संभव है कि, बुझती हुई आग फिर से सुलगाना सिखलाया जा सके, पर उसमें सबसे पहले एक सिखलानेवाले की ज़रूरत पड़ेगी। प्राचीन काल में मनुष्य को ऐसा गुरु भला कहाँ मिल सकता था जो उसे आग सुलगाना सिखलाता! उसे तो स्वयं अपने ही ज्ञान और अनुभव से सब कुछ सीखना पड़ा था।

प्राचीन काल में मनुष्य को सबसे बड़ी शिक्षा उसकी

वक्तव्य
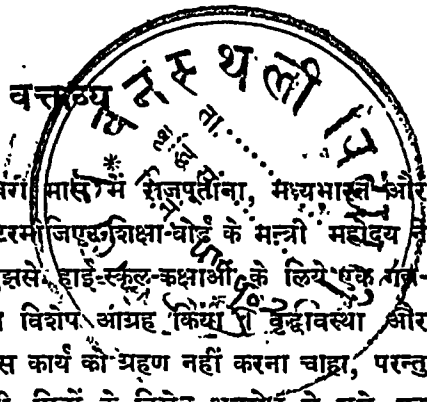
ई० स० १९३४ के जनवरी मास में राजपूताना, मध्यभारत और ग्वालियर के हाई-स्कूल तथा इंटरमीजिएट शिक्षा-बोर्ड के मन्त्री महोदय ने बोर्ड के प्रस्ताव के अनुसार मुझसे हाई-स्कूल-कक्षाओं के लिये एक गद्य-सङ्कलन-ग्रन्थ प्रस्तुत करने का विशेष आग्रह किया। वृद्धावस्था और शारीरिक अस्वस्थतावश मैंने इस कार्य को ग्रहण नहीं करना चाहा, परन्तु कतिपय माननीय साहित्य-प्रेमी मित्रों के विशेष अनुरोध से मुझे यह स्वीकार करना पड़ा। अप्रेल मास में चुने हुए लेखों की अस्थायी सूची बोर्ड-कार्यालय में भेजी गई। तदनन्तर हिन्दी-कोर्स-कमेटी के सदस्यों के साथ दो दिन तक पूर्ण विचार-विनिमय के पश्चात् संग्राह्य पाठों का अन्तिम निर्णय हुआ।

इस संग्रह में एक-एक विषय के लेख एक साथ रखे गए हैं, जिससे विद्यार्थियों को एक विषय के लेखकों की शैली का तुलनात्मक अध्ययन करने में सुविधा हो। पाठों का सङ्कलन करते समय भाषा और विषय दोनों का पूरा विचार रखा गया है। लेखों को गद्य के विकास-क्रम के अनुसार नहीं रखा है, किन्तु परिशिष्ट में सब लेखकों की भाषा तथा शैली आदि का संक्षिप्त विवेचन किया गया है, जिससे विभिन्न रचनाओं के पठन के साथ-साथ छात्र गद्य-विकास का सम्बन्ध जान सकेंगे। सब प्रकार का उत्कृष्ट एवं उपयोगी साहित्य छात्रों के सम्मुख रहे, यही दृष्टि पाठों के विषयों के चुनाव में रही है। अन्तिम पाठ 'मातृभूमि' को छात्रों के लिए कुछ कठिन जानकर उसपर टिप्पणी दी गई है। जहाँ तक हो सका, लेखकों की भाषा में परिवर्तन नहीं किया गया है। पुस्तक के आधी छपने पर प्रेस ने बतलाया कि चुने हुए सब पाठों का 'मैटर' निर्धारित पृष्ठ-संख्या में नहीं छप सकेगा, तब विवश होकर सन् १९३७ की हाई-स्कूल-

यदि ऐसे साहित्य को हम शुद्ध साहित्यिक क्रमागत इतिहास की कुंजी कहें, तो कोई अत्युक्ति न होगी। अतः हिन्दीवालों को अब इस प्रकार की आलोचना की ओर भी ध्यान देना चाहिए और तुलनात्मक आलोचना के साहित्य की सृष्टि करनी चाहिए।

—श्यामसुंदरदास

परीक्षा के लिए पठनीय पाठों के अतिरिक्त कुछ अन्य लेखों का प्रस्तुत ग्रन्थ में समावेश नहीं हो सका।

आशा है, पाठों की सुरुचि-सम्पन्नता, उपादेयता और सामयिकता का ध्यान रखते हुए यह सङ्कलन-ग्रन्थ हाई-स्कूल-कक्षाओं के लिये उपयुक्त सिद्ध होगा। इसके सिवा इन पाठों को पढ़कर छात्रों में उत्तम साहित्य के अध्ययन की ओर प्रवृत्ति होगी, जिससे उत्कृष्ट लेखकों की रचनाओं का गम्भीर अध्ययन करते हुए वे स्वयं कालान्तर में विद्वान् एवं साहित्य-सेवी बन सकेंगे। प्रस्तुत ग्रन्थ के बहुत थोड़े समय में छपने पर भी इसका प्रूफ़-संशोधन सावधानी पूर्वक हुआ है। फिर भी छपते समय कहीं-कहीं अनुस्वार तथा मात्राओं के टूटने और अक्षरों के हट जाने से कुछ शब्दों का रूपान्तर हो गया है, अतः सहृदय पाठक उन्हें सुधारकर पढ़ें।

मैं उन सब लेखकों का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने अपनी रचनाओं को इसमें सम्मिलित करने की मुझे सहर्ष अनुमति प्रदान की है। प्रकाशकों में इंडियन प्रेस, प्रयाग, काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा, आगरा के गयाप्रसाद एण्ड सन्स, गंगा-ग्रन्थागार, लखनऊ और चित्रों के प्रबन्ध में सहायता देने के कारण 'कुमार' संपादक श्रीयुत रविशङ्कर रावल धन्यवाद के पात्र हैं। अन्त में मैं अपने आयुष्मान् पुत्र प्रोफ़ेसर रामेश्वर ओझा, एम्० ए० का नामोल्लेख आवश्यक समझता हूं, क्योंकि यदि सङ्कलन, सम्पादन, संशोधन आदि सब कार्यों में मुझे उसका पूर्ण सहयोग और अनवरत परिश्रम सुलभ न होता, तो इस सङ्कलन-ग्रन्थ को हिन्दी-प्रेमियों के सम्मुख उपस्थित करना असम्भव नहीं तो अतिदुष्कर अवश्य था।

अजमेर,
वैशाखी पूर्णिमा,
सं० १९९२ वि०

गौरीशङ्कर-हीराचन्द ओझा.

सोमनाथ के मंदिर में सोने और चाँदी की अनेक रत्नजटित मूर्तियाँ थीं। पास ही २०० मन सोने की साँकल थी, जिसके साथ घंटे बँधे होते थे। महमूद ग़ज़नवी उसी मंदिर से एक करोड़ रुपयों से अधिक मूल्य की संपत्ति लूट में ले गया था। इसी तरह वह मथुरा और कन्नौज प्रभृति स्थानों से भी अनन्त धन-राशि ले गया। यदि भारत की तत्कालीन संपत्ति की जानकारी करनी हो तो उत्तर और दक्षिण भारत के उस समय के बने हुए सैकड़ों भव्य मंदिरों को देखना चाहिये, जिनके कलश, मूर्तियाँ या स्तंभ सोने, चाँदी अथवा रत्नों से जटित थे।

—गौरीशंकर-हीराचन्द ओझा

"हमारे कोलाहल-पूर्ण जीवन-पथ में परिवर्तन की वायु सदा चलती रही है। आनेवाले दिवस की व्यथाएँ बीते हुए दिवस के दुःखों का स्थान ले लेती हैं। एक स्वप्न के बाद दूसरा स्वप्न आता है, एक समस्या के अनन्तर दूसरी समस्या उपस्थित होती है; और अंत में काल जीवनरूपी जाल को विच्छिन्न कर देता है।

"हमारे लिये दुःख और यातनाएँ हैं, अपने गर्व के खंडित रहस्य हैं, पराजय के कठिन पाठ हैं। हमारे लिये ऐसे पुष्प हैं, जो दुष्प्राप्य हैं; ऐसे फल हैं, जो वर्जित हैं। हमारे लिये वह परम शान्ति कहाँ, जिसपर, हे पद्मासीन भगवान् बुद्ध, तुमने अधिकार प्राप्त कर लिया है!

"हम अपनी कष्ट-साध्य अभिलाषाओं की तृप्ति में असफल रहते हैं; उस दैवी उच्च शिखर पर चढ़ते हुए हमारे पैर थक जाते और हमारे विश्वास शिथिल पड़ जाते हैं। परंतु संसार की कोई वस्तु हमारी ईश्वरीय वासना को न रोक सकती और न उसपर विजय प्राप्त कर सकती है।

"अन्त-स्थान दूर और अस्पष्ट है, परंतु वह निरन्तर हमें अपनी ओर बुला रहा है। हमारे सम्पूर्ण जीवन के दिवस अनन्त के एक क्षण-मात्र हैं। हे पद्मासीन, तुम्हारे निर्वाण-पद को हम कैसे प्राप्त कर सकेंगे?"

सरोजिनी की कविता में स्थान-स्थान पर उनके स्त्रीत्व का परिचय मिलता है। प्रत्येक विषय पर उन्होंने स्त्री के विचार-केन्द्र से दृष्टि डाली है और उसी प्रकार वर्णन भी किया है, जैसा कि

विषय पृष्ठ

निबन्ध (Essays)

---

† द्रौपदी, भीम और युधिष्टिर के।

गद्य-रत्न-माला

साहित्योपासक

प्रातःकाल महाशय प्रवीण ने बीस दफ़ा उबाली हुई चाय का प्याला तैयार किया और बिना शक्कर और दूध के पी गये। यही उनका नाश्ता था। महीनों से मीठी, दूधिया चाय न मिली थी। दूध और शक्कर उनके लिये जीवन के आवश्यक पदार्थों में न थी। घर में गये ज़रूर, कि पत्नी को जगाकर पैसे माँगें; पर उसे फटे-मैले लिहाफ़ में निद्रा-मग्न देखकर जगाने की इच्छा न हुई। सोचा, शायद मारे सर्दी के बेचारी को रात-भर नींद न आई होगी, इस वक्त जाकर आँख लगी है। कच्ची नींद जगा देना उचित न था। चुपके से चले आये।

चाय पीकर उन्होंने क़लम-दवात सँभाली और वह किताब लिखने में तल्लीन हो गये, जो उनके विचार में इस शताब्दी की सबसे बड़ी रचना होगी, जिसका प्रकाशन उन्हें गुमनामी से निकाल कर ख्याति और समृद्धि के स्वर्ग पर पहुँचा देगा।

आध-घण्टे बाद पत्नी आँखें मलती हुई आकर बोली—क्या

तुम चाय पी चुके ? प्रवीण ने सहास मुख से कहा—हाँ, पी चुका। बहुत अच्छी बनी थी।

'पर दूध और शक्कर कहाँ से लाये ?'

'दूध और शक्कर तो कई दिनों से नहीं मिलता। मुझे आज-कल सादा चाय ज्यादा स्वादिष्ठ लगती है। दूध और शक्कर मिलाने से उसका स्वाद बिगड़ जाता है। डाक्टरों की भी यही राय है, कि चाय हमेशा सादा पीनी चाहिये। योरप में तो दूध का बिलकुल रिवाज नहीं है। यह तो हमारे यहाँ के मधुर-प्रिय रईसों की ईजाद है।'

'जाने तुम्हें फीकी चाय कैसे अच्छी लगती है। मुझे जगा क्यों न लिया ! पैसे तो रखे थे।'

महाशय प्रवीण फिर लिखने लगे। जवानी ही में उन्हें यह रोग लग गया था, और आज बीस साल से वह उसे पाले हुए थे। इस रोग में देह घुल गई, स्वास्थ्य घुल गया और चालीस की अवस्था में बुढ़ापे ने आ घेरा; पर यह रोग असाध्य था। सूर्योदय से आधी रात तक यह साहित्य का उपासक अन्तर्जगत् में डूबा हुआ, समस्त संसार से मुँह मोड़े, हृदय के पुष्प और नैवेद्य चढ़ाता रहता था। पर भारत में सरस्वती की उपासना लक्ष्मी की अभक्ति है। मन तो एक ही था। दोनों देवियों को एक साथ कैसे प्रसन्न करता, दोनों के वरदान का पात्र क्यों कर बनता, और लक्ष्मी की अकृपा केवल धनाभाव के रूप में न प्रकट होती थी। उसकी सबसे निर्दय क्रीड़ा यह थी, कि पत्रों के सम्पादक और

पुस्तकों के प्रकाशक उदारतापूर्वक सहृदयता का दान भी न देते थे। कदाचित् सारी दुनिया ने उसके विरुद्ध कोई षड्यंत्र-सा रच डाला था। यहाँ तक कि इस निरंतर अभाव ने उसमें आत्म-विश्वास को जैसे कुचल दिया था। कदाचित् अब उसे यह ज्ञात होने लगा था, कि उसकी रचनाओं में कोई सार, कोई प्रतिभा नहीं है और यह भावना अत्यन्त हृदय-विदारक थी। यह दुर्लभ मानव-जीवन यों ही नष्ट हो गया! यह तस्कीन भी नहीं कि संसार ने चाहे उसका सम्मान न किया हो; पर उसकी जीवन-कृति इतनी तुच्छ नहीं! जीवन की आवश्यकताएँ घटते-घटते संन्यास की सीमा को भी पार कर चुकी थीं। अगर कोई सन्तोष था, तो यह कि उनकी जीवन-सहचरी त्याग और तप में उनसे भी दो क़दम आगे थी। सुमित्रा इस दशा में भी प्रसन्न थी। प्रवीणजी को दुनिया से शिकायत हो, पर सुमित्रा जैसे गेंद में भरी हुई वायु की भाँति उन्हें बाहर की ठोकरों से बचाती रहती थी। अपने भाग्य का रोना तो दूर की बात थी, इस देवी ने कभी माथे पर बल भी न आने दिया।

सुमित्रा ने चाय का प्याला समेटते हुए कहा—तो जाकर घंटा-आध-घंटा कहीं घूम-फिर क्यों नहीं आते। जब मालूम हो गया कि प्राण देकर काम करने से भी कोई नतीजा नहीं, तो व्यर्थ क्यों सिर खपाते हो।

प्रवीण ने बिना मस्तक उठाये, कागज़ पर क़लम चलाते हुए कहा—लिखने में कम-से-कम यह सन्तोष तो होता है, कि

कुछ कर रहा हूँ। सैर करने में तो मुझे ऐसा जान पड़ता है, कि समय का नाश कर रहा हूँ।

'यह इतने पढ़े-लिखे आदमी नित्य प्रति हवा खाने जाते हैं, तो अपने समय का नाश करते हैं ?'

'मगर इनमें अधिकांश वही लोग हैं, जिनके सैर करने से उनकी आमदनी में बिलकुल कमी नहीं होती। अधिकांश तो सरकारी नौकर हैं, जिनको मासिक वेतन मिलता है, या ऐसे पेशों के लोग हैं, जिनका लोग आदर करते हैं। मैं तो मिल का मजूर हूँ। तुमने किसी मजूर को हवा खाते देखा है ? जिन्हें भोजन की कमी नहीं, उन्हीं को हवा की भी ज़रूरत है। जिनको रोटियों के लाले हैं, वे हवा खाने नहीं जाते। फिर स्वास्थ्य और जीवन-वृद्धि की ज़रूरत उन लोगों को है, जिनके जीवन में आनन्द और स्वाद है। मेरे लिये तो जीवन भार है। इस भार को सिर पर कुछ दिन और बनाये रहने की अभिलाषा मुझे नहीं है।'

सुमित्रा ये निराशा में डूबे हुए शब्द सुनकर आँखों में आँसू भरे अन्दर चली गई। उसका दिल कहता था, इस तपस्वी की कीर्ति-कौमुदी एक दिन अवश्य फैलेगी, चाहे लक्ष्मी की अकृपा बनी रहे; किन्तु प्रवीण महोदय अब निराशा की उस सीमा तक पहुँच चुके थे, जहाँ से प्रतिकूल दिशा में उदय होने वाली आशा-मय उषा की लाली भी नहीं दिखाई देती।

(२)

एक रईस के यहाँ कोई उत्सव है। उसने महाशय प्रवीण को

भी निमंत्रित किया है। आज उनका मन आनन्द के घोड़े पर बैठा हुआ नाच रहा है। सारे दिन वह इसी कल्पना में मग्न रहे। राजा साहब किन शब्दों में उनका स्वागत करेंगे और वह किन शब्दों में उनको धन्यवाद देंगे; किन प्रसंगों पर वार्तालाप होगा और किन महानुभावों से उनका परिचय होगा, सारे दिन वह इन्हीं कल्पनाओं का आनन्द उठाते रहे। इस अवसर के लिये उन्होंने एक कविता भी रची, जिसमें जीवन की एक उद्यान से तुलना की थी। अपनी सारी धारणाओं की उन्होंने आज उपेक्षा कर दी, क्योंकि रईसों के मनोभावों को वह आघात न पहुँचा सकते थे।

दोपहर ही से उन्होंने तैयारियाँ शुरू कीं। हजामत बनाई, साबुन से नहाया, सिर में तेल डाला। मुश्किल कपड़ों की थी। मुद्दत गुज़री, जब उन्होंने एक अचकन बनवाई थी। उसकी दशा भी उन्हीं की दशा जैसी जीर्ण हो चुकी थी। जैसे ज़रा सी सर्दी या गर्मी से उन्हें ज़ुकाम या सिर-दर्द हो जाता था, उसी तरह वह अचकन भी नाज़ुक-मिज़ाज थी। उसे निकाला और झाड़-पोंछ कर रक्खा।

सुमित्रा ने कहा—तुमने व्यर्थ ही यह निमंत्रण स्वीकार किया। लिख देते, मेरी तबीयत अच्छी नहीं है। इन फटे-हालों जाना तो और भी बुरा है।

प्रवीण ने दार्शनिक गंभीरता से कहा—जिन्हें ईश्वर ने हृदय और परख दी है, वे आदमियों की पोशाक नहीं देखते—उनके

गुण और चरित्र देखते हैं, आखिर कुछ बात तो है कि राजा साहब ने मुझे निमंत्रित किया। मैं कोई ओहदेदार नहीं, ज़मीदार नहीं, जागीरदार नहीं, ठेकेदार नहीं, केवल एक साधारण लेखक हूँ। लेखक का मूल्य उसकी रचनाएँ होती हैं। इस एतबार से मुझे किसी भी लेखक से लज्जित होने का कारण नहीं है।

सुमित्रा उसकी सरलता पर दया करके बोली—तुम कल्पनाओं के संसार में रहते-रहते प्रत्यक्ष संसार से अलग हो गये हो। मैं कहती हूँ, राजा साहब के यहाँ लोगों की निगाह सबसे ज़्यादा कपड़ों ही पर पड़ेगी। सरलता ज़रूर अच्छी चीज़ है, पर इसका अर्थ यह तो नहीं कि आदमी फूहड़ बन जाय।

प्रवीण को इस कथन में कुछ सार जान पड़ा। विद्वज्जनों की भाँति उन्हें भी अपनी भूलों को स्वीकार करने में कुछ विलम्ब न होता था। बोले—मैं समझता हूँ, दीपक जल जाने के बाद जाऊँ।

'मैं तो कहती हूँ, जाओ ही क्यों ?'

'अब तुम्हें कैसे समझाऊँ, प्रत्येक प्राणी के मन में आदर और सम्मान की एक क्षुधा होती है। तुम पूछोगी यह क्षुधा क्यों होती है ? इसलिये, कि यह हमारे आत्म-विकास की एक मंज़िल है। हम उस महासत्ता के सूक्ष्मांश हैं, जो समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। अंश में पूर्ण (अंशी) के गुणों का होना लाज़िमी है। इसलिये कीर्ति और सम्मान, आत्मोन्नति और ज्ञान की ओर हमारी स्वाभाविक रुचि है। मैं इस लालसा को बुरा नहीं समझता।

सुमित्रा ने गला छुड़ाने के लिये कहा—अच्छा भई जाओ, मैं तुमसे बहस नहीं करती, लेकिन कल के लिये कोई व्यवस्था करते आना, क्योंकि मेरे पास केवल एक आना और रह गया है। जिनसे उधार मिल सकता था उनसे ले चुकी और जिससे लिया उसे देने की नौबत नहीं आई। मुझे तो अब और कोई उपाय नहीं सूझता।

प्रवीण ने एक क्षण के बाद कहा—दो-एक पत्रिकाओं से मेरे लेखों के रुपये आने वाले हैं। शायद कल तक आ जायँ। और अगर कल उपवास ही करना पड़े, तो क्या चिन्ता? हमारा धर्म है काम करना। हम काम करते हैं और तन-मन से करते हैं। अगर इसपर भी हमें फ़ाका करना पड़े, तो मेरा दोष नहीं। मर ही तो जाऊँगा। हमारे जैसे लाखों आदमी रोज मरते हैं। संसार का काम ज्यों-का-त्यों चलता रहता है। फिर इसका क्या ग़म कि हम भूखों मर जायँगे। मौत डरने की वस्तु नहीं। मैं तो कबीर-पंथियों का कायल हूँ, जो अर्थी को गाते-बजाते ले जाते हैं। मैं इससे नहीं डरता। तुम्हीं कहो, मैं जो कुछ करता हूँ, इससे अधिक और कुछ मेरी शक्ति के बाहर है या नहीं। सारी दुनिया मीठी नींद सोती होती है और मैं कलम लिये बैठा होता हूँ। लोग हँसी-दिल्लगी, आमोद-प्रमोद करते रहते हैं; मेरे लिये वह सब हराम है। यहाँ तक कि महीनों से हँसने की नौबत नहीं आई। होली के दिन भी मैंने तातील नहीं मनाई। बीमार भी होता हूँ, तो लिखने की फ़िक्र सिर पर सवार रहती है। सोचो, तुम बीमार थीं,

और मैं वैद्य के यहाँ जाने के लिये समय न पाता था। अगर दुनिया नहीं कदर करती, न करे, इसमें दुनिया का ही नुक़सान है। मेरी कोई हानि नहीं। दीपक का काम है जलना। उसका प्रकाश फैलता है, या उसके सामने कोई ओट है, उसे इससे प्रयोजन नहीं। मेरा भी ऐसा कौन मित्र, परिचित या सम्बन्धी है, जिसका मैं आभारी नहीं, यहाँ तक कि अब घर से निकलते शर्म आती है। सन्तोष इतना ही है, कि लोग मुझे बदनीयत नहीं समझते। वे मेरी कुछ अधिक मदद न कर सकें, पर उन्हें मुझसे सहानुभूति अवश्य है। मेरी खुशी के लिये इतना ही काफ़ी है, कि आज वह अवसर तो आया कि एक रईस ने मेरा सम्मान किया।

फिर सहसा उनपर एक नशा-सा छा गया। गर्व से बोले—नहीं, मैं अब रात को न जाऊँगा। मेरी ग़रीबी अब रुसवाई की हद तक पहुँच चुकी है। उसपर परदा डालना व्यर्थ है। मैं इसी वक्त जाऊँगा। जिसे रईस और राजे आमंत्रित करें, वह कोई ऐसा-वैसा आदमी नहीं हो सकता। राजा साहब साधारण रईस नहीं हैं। वह इस नगर के ही नहीं, भारत के विख्यात रईसों में हैं। अगर अब भी कोई मुझे नीचा समझे, तो वह खुद नीचा है।

(३)

सन्ध्या का समय है। प्रवीणजी अपनी फटा-पुराना अचकन और सड़े हुए जूते और बेढंगी-सी टोपी पहने घर से निकले। ख्वा-मख्वाह बाँगड़ू उचक्के-से मालूम होते थे। डील-डौल और चेहरे-मुहरे के आदमी होते, तो इस ठाठ में भी एक शान होती।

स्थूलता स्वयं रोब डालने वाली वस्तु है। पर साहित्य-सेवा और स्थूलता में विरोध है; अगर कोई साहित्य-सेवी मोटा-ताज़ा, डबल आदमी है, तो समझ लो उसमें माधुर्य नहीं, लोच नहीं, हृदय नहीं। दीपक का काम है, जलना। दीपक वही लबालब भरा होगा जो जला नहीं। अकबर ने कहा है—

"शिकम होता तो मैं इस अहद में फूला-फला होता।
सरापा-दिल बना हूँ इस सबब से कुश्तए-ग़म हूँ॥"

फिर भी आप अकड़े जाते हैं। एक-एक अंग से गर्व टपक रहा है।

यों घर से निकलकर वह दूकानदारों से आँखें चुराते, गलियों से निकल जाते थे। पर आज वह गरदन उठाए, उनके सामने से जा रहे हैं। आज वह उनके तक़ाज़ों का दंदाँ-शिकन जवाब देने को तैयार हैं। पर सन्ध्या का समय है, हरेक दूकान पर ग्राहक बैठे हुए हैं। कोई उनकी तरफ़ नहीं देखता। जिस रक़म को वह अपनी हीनावस्था में दुर्निवार समझते थे, वह दूकानदारों की निगाह में इतनी जोखिम न थी कि एक जाने-पहचाने आदमी को सरे-बाज़ार टोकते, विशेषकर जब वह आज किसी से मिलने जाते हुए मालूम होते थे।

प्रवीण ने एक बार सारे बाज़ार का चक्कर लगाया, पर जी न भरा। तब दूसरा चक्कर लगाया, पर वह भी निष्फल। तब वह ख़ुद हाफ़िज़ समद की दूकान पर जाकर खड़े हो गए। हाफ़िज़जी बिसाते का कारोबार करते थे। बहुत दिन हुए प्रवीण इस दूकान

से एक छतरी ले गये थे और अभी तक दाम न चुका सके थे।
प्रवीण को देखकर बोले—महाशयजी, अभी तक छतरी के दाम नहीं मिले। ऐसे सौ-पचास ग्राहक मिल जायँ, तो दिवाला ही हो जाय। अब तो बहुत दिन हुए।

प्रवीण की बाछें खिल गईं। दिली मुराद पूरी हुई। बोले—मैं भूला नहीं हूँ हाफ़िज़जी, इन दिनों काम इतना ज़्यादा था कि घर से निकलना मुश्किल था। रुपये तो नहीं हाथ आते, पर आप की दुआ से क़दरशिनासों की कमी नहीं। दो-चार आदमी घेरे ही रहते हैं। इस वक्त भी राजा साहब—अजी वही जो नुक्कड़वाले बँगले में रहते हैं—उन्हीं के यहाँ जा रहा हूँ। दावत है। रोज़ ऐसा कोई-न-कोई मौक़ा आता ही रहता है।

हाफ़िज़ समद प्रभावित होकर बोला—अच्छा! आप राजा साहब के यहाँ तशरीफ़ ले जा रहे हैं। ठीक है, आप जैसे बा-कमालों की क़दर रईस ही कर सकते हैं, और कौन करेगा; सुभानल्लाह! आप इस ज़माने में यकता हैं। अगर कोई मौका हाथ आ जाय, तो ग़रीबों को न भूल जाइयेगा। राजा साहब की अगर इधर निगाह हो जाय, तो फिर क्या पूछना। एक पूरा बिसाता तो उन्हीं के लिये चाहिये। ढाई-तीन लाख सालाना आमदनी है।

प्रवीण को ढाई-तीन लाख कुछ तुच्छ जान पड़े। ज़बानी जमा-ख़र्च है, तो दस-बीस लाख कहने में क्या हानि। बोले—ढाई-तीन लाख! आप तो उन्हें गालियाँ देते हैं। इनकी आमदनी दस लाख से कम नहीं। एक साहब का अन्दाज़ा तो बीस लाख का

है। इलाक़ा है, मकानात हैं, दूकानें हैं, ठेका है, अमानती रुपये हैं, और फिर सबसे बड़ी सरकार-बहादुर की निगाह है।

हाफ़िज़ ने बड़ी नम्रता से कहा—यह दूकान आप ही की है जनाब, बस इतनी ही अरज़ है। अरे मुरादी, ज़रा दो पैसे के अच्छे-से पान तो बनवा ला, आपके लिये। आइये, दो मिनट बैठिए। कोई चीज़ पसन्द हो तो दिखाऊँ। आपसे तो घर का वास्ता है।

प्रवीण ने पान खाते हुए कहा—इस वक्त तो मुआफ़ रखिए। वहाँ देर होगी। फिर कभी हाज़िर हूँगा।

वहाँ से उठकर एक कपड़ेवाले की दूकान के सामने रुके। मनोहरदास नाम था। इन्हें खड़े देखकर आँखें उठाईं। बेचारा इनके नाम को रो बैठा था। समझ लिया, शायद शहर में हैं ही नहीं। समझा, रुपये देने आए हैं। बोला—भाई प्रवीणजी! आपने तो बहुत दिनों दर्शन ही नहीं दिये। रुक्का कई बार भेजा, मगर प्यादे को आपके घर का पता ही न मिला। मुनीमजी, ज़रा देखो तो आपके नाम क्या है।

प्रवीणजी के प्राण तक़ाज़ों से सूख जाते थे, पर आज वह इस तरह खड़े थे, मानों उन्होंने कोई कवच धारण कर लिया है, जिसपर किसी अस्त्र का आघात नहीं हो सकता। बोले—ज़रा इन राजा साहब के यहाँ से लौट आऊँ, तो निश्चिंत होकर बैठूँ। इस समय जल्दी में हूँ।

राजा साहब पर मनोहरदास के कई हज़ार रुपये आते थे। फिर भी उनका दामन न छोड़ता था। एक के तीन वसूल करता।

उसने प्रवीणजी को उसी श्रेणी में रखा, जिसका पेशा रईसों को लूटना है। बोला—पान तो खाते जाइये महाशय। राजा साहब एक दिन के हैं, हम तो बारह मास के हैं। भाई साहब! कुछ कपड़े दरकार हों, तो ले जाइये। अब तो होली आ रही है। मौका हो तो ज़रा राजा साहब के खज़ानची से कहियेगा, पुराना हिसाब बहुत दिन से पड़ा हुआ है, अब तो सफ़ाई हो जाय। अब हम ऐसा कौन-सा नफ़ा ले लेते हैं, कि दो-दो साल हिसाब ही न हो।

प्रवीण ने कहा—इस समय पान-वान रहने दो भाई। देर हो जायगी। जब उन्हें मुझसे मिलने का इतना शौक़ है और मेरा इतना सम्मान करते हैं, तो अपना भी धर्म है, कि उनको मेरे कारण कष्ट न हो। हम तो गुण-ग्राहक चाहते हैं, दौलत के भूखे नहीं। कोई अपना सम्मान करे, तो उसकी गुलामी करें। अगर किसी को रियासत का घमंड हो, तो हमें भी उसकी परवाह नहीं।

(४)

प्रवीणजी राजा साहब के विशाल भवन के सामने पहुँचे, तो दिये जल चुके थे। अमीरों और रईसों की मोटरें खड़ी थीं। वरदी-पोश दरबान द्वार पर खड़े थे। एक सज्जन मेहमानों का स्वागत कर रहे थे। प्रवीणजी को देखकर वह ज़रा झिझके। फिर उन्हें सिर से पाँव तक देखकर बोले—आपके पास नवेद है?

प्रवीण जी की जेब में नवेद था। पर इस भेद-भाव पर उन्हें क्रोध आ गया। उन्हीं से क्यों नवेद माँगा जाय? औरों से भी क्यों न पूछा जाय? बोले जी नहीं, मेरे पास नवेद नहीं है। अगर

आप अन्य महाशयों से नवेद माँगते हो, तो मैं भी दिखा सकता हूँ। वरना मैं इस भेद को अपने लिए अपमान की बात समझता हूँ। आप राजा साहब से कह दीजिएगा, प्रवीणजी आए थे और द्वार से लौट गए।

'नहीं-नहीं, महाशय, अन्दर चलिए। मुझे आपसे परिचय न था। बेअदबी माफ़ कीजिए। आप ही जैसे महानुभावों से तो महफ़िल की शोभा है। ईश्वर ने आपको वह वाणी प्रदान की है कि क्या कहना।'

इस व्यक्ति ने प्रवीण को कभी न देखा था। लेकिन जो कुछ उसने कहा, वह हरेक साहित्यसेवी के विषय में कह सकते हैं, और हमें विश्वास है कि कोई साहित्यसेवी इस दाद की उपेक्षा नहीं कर सकता।

प्रवीण अन्दर पहुँचे, तो देखा, बारहदरी के सामने विस्तृत और सुसज्जित प्रांगण में बिजली के कुमकुमे अपना प्रकाश फैला रहे हैं। मध्य में एक हौज़ है, हौज़ में संगमरमर की परी, परी के सिर पर फ़ौवारा; फ़ौवारे की फुहारें रंगीन कुमकुमों से रंजित होकर ऐसी मालूम होती थीं, मानो इन्द्र-धनुष पिघलकर ऊपर से बरस रहा है। हौज़ के चारों ओर मेज़ें लगी हुई थीं। मेज़ों पर सुफ़ेद मेज़-पोश, ऊपर सुन्दर गुलदस्ते।

प्रवीण को देखते ही राजा साहब ने स्वागत किया—आइये, आइये, अबकी 'हंस' में आपका लेख देखकर दिल फड़क उठा।

मैं तो चकित हो गया। मालूम ही न था, कि इस नगर में आप-जैसे रत्न भी छिपे हुए हैं।

फिर उपस्थित सज्जनों से उनका परिचय देने लगे—आपने महाशय प्रवीण का नाम सुना होगा। वह आप ही हैं। क्या माधुर्य है, क्या प्रसाद है, क्या ओज है, क्या भाव है, क्या भाषा है, क्या सूझ है, क्या चमत्कार है, क्या प्रवाह है, कि वाह! वाह! मेरी तो आत्मा जैसे नृत्य करने लगती है।

एक सज्जन ने, जो अंग्रेज़ी सूट में थे, प्रवीण को ऐसी निगाह से देखा, मानों वह चिड़िया-घर के कोई जीव हों, और बोले—आपने अंग्रेज़ी के कवियों का भी अध्ययन किया है—बाइरन, शैली, कीट्स आदि?

प्रवीण ने रुखाई से जवाब दिया—जी हाँ, थोड़ा बहुत देखा तो है।

'आप इन महाकवियों में से किसी की रचनाओं का अनुवाद कर दें, तो आप हिन्दीभाषा की अमर सेवा करें।'

प्रवीण अपने को बाइरन, शैली आदि से जौ भर भी कम न समझते थे। वे अंग्रेज़ी के कवि थे, उनकी भाषा, शैली, विषय, व्यंजना, सभी अंग्रेज़ों की रुचि के अनुकूल थीं, उनका अनुवाद करना वह अपने लिये गौरव की बात न समझते थे, उसी तरह जैसे वे उनकी रचनाओं का अनुवाद करना अपने लिये गौरव की वस्तु न समझते। बोले—हमारे यहाँ आत्मदर्शन का अभी इतना अभाव नहीं है, कि हम विदेशी कवियों से भिक्षा माँगें।

मेरा विचार है, कि कम-से-कम इस विषय में भारत अब भी पश्चिम को कुछ सिखा सकता है।

यह अनर्गल बात थी। अंग्रेज़ी के भक्त महाशय ने प्रवीण को पागल समझा।

राजा साहब ने प्रवीण को ऐसी आँखों से देखा, जो कह रही थीं—ज़रा मौक़ा-महल देखकर बातें करो, और बोले—अंग्रेज़ी साहित्य का क्या पूछना! कविता में तो वह अपना जोड़ नहीं रखता।

अंग्रेज़ी के भक्त महाशय ने प्रवीण को सगर्व नेत्रों से देखा—हमारे कवियों ने अभी तक कविता का अर्थ ही नहीं समझा। अभी तक वियोग और नख-शिख को कविता का आधार बनाए हुए हैं।

प्रवीण ने ईंट का जवाब पत्थर से दिया—मेरा विचार है, कि आपने वर्तमान कवियों का अध्ययन नहीं किया, या किया, तो ऊपरी आँखों से।

राजा साहब ने अब प्रवीण की ज़बान बन्द कर देने का निश्चय किया—आप मिस्टर परांजपे हैं। प्रवीणजी, आपके लेख अँग्रेज़ी पत्रों में छपते हैं और बड़ी आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं।

इसका आशय यह था, कि अब आप ज्यादा न बहकिये।

प्रवीण समझ गये। परांजपे के सामने उन्हें नीचा देखना पड़ा। विदेशी वेश-भूषा और भाषा का यह भक्त इतना सम्मान पाये, यह उनके लिए असह्य था; पर करते क्या?

उसी वेश के दूसरे सज्जन आये। राजा साहब ने तपाक से उनका अभिवादन किया—आइये डाक्टर चड्ढा, कैसे मिज़ाज हैं?

डाक्टर साहब ने राजा साहब से हाथ मिलाया और फिर प्रवीण की ओर जिज्ञासा-भरी आँखों से देखकर पूछा—आपकी तारीफ़ ?

राजा साहब ने प्रवीण का परिचय दिया—आप भाषा के अच्छे कवि और लेखक हैं।

डाक्टर साहब ने ख़ास अन्दाज़ से कहा—'अच्छा ! आप कवि हैं !' और बिना कुछ पूछे आगे बढ़ गये।

फिर उसी वेश के एक और महाशय पधारे। यह नामी बैरिस्टर थे। राजा साहब ने उनसे भी प्रवीण का परिचय कराया। उन्होंने भी उसी अन्दाज़ से कहा—'अच्छा आप कवि हैं ?' और आगे बढ़ गये।

यह अभिनय कई बार हुआ। और हर बार प्रवीण को यही दाद मिली—'अच्छा ! आप कवि हैं ?'

यह वाक्य हर बार प्रवीण के हृदय पर एक नया आघात पहुँचाता था। उसके नीचे जो भाव था वह प्रवीण ख़ूब समझते थे। उसका सीधा-सादा आशय यह था—तुम अपने ख़याली पुलाव पकाते हो, पकाओ, यहाँ तुम्हारा क्या प्रयोजन ? तुम्हारा इतना साहस कि तुम यहाँ सभ्य-समाज में बेधड़क आओ !

प्रवीण मन-ही-मन अपने ऊपर झुँझला रहे थे। निमंत्रण पाकर उन्होंने अपने को धन्य माना था; पर यहाँ आकर उनका

जितना अपमान हो रहा था, उसके देखते तो वह संतोष की कुटिया स्वर्ग थी। उन्होंने अपने मन को धिक्कारा—तुम जैसे सम्मान के लोभियों का यही दण्ड है। अब तो आँखें खुलीं, तुम कितने सम्मान के पात्र हो! तुम इस स्वार्थमय संसार में किसी के काम नहीं आ सकते। वकील-बैरिस्टर तुम्हारा सम्मान क्यों करें, तुम उनके मुवक्किल नहीं हो सकते, न उन्हें तुम्हारे द्वारा कोई मुक़दमा पाने की आशा है। डाक्टर या हकीम तुम्हारा सम्मान क्यों करें, उन्हें तुम्हारे घर बिना फ़ीस आने की इच्छा नहीं। तुम लिखने के लिये बने हो, लिखे जाओ, बस! और संसार में तुम्हारा कोई प्रयोजन नहीं।

सहसा लोगों में हलचल पड़ गई। आज के प्रधान अतिथि का आगमन हुआ। यह महाशय हाईकोर्ट के जज नियुक्त हुए थे। इसी उपलक्ष्य में यह जल्सा हो रहा था। राजा साहब ने लपक-कर उनसे हाथ मिलाया और आकर प्रवीणजी से बोले—आप अपनी कविता तो लिख ही लाये होंगे?

प्रवीण ने कहा—मैंने कोई कविता नहीं लिखी।

'सच! तब तो आपने ग़ज़ब ही कर दिया। अरे भले आदमी, अब से कोई चीज़ लिख डालो। दो ही चार पंक्तियाँ हो जायँ। बस, ऐसे अवसर पर एक कविता का पढ़ा जाना लाज़िमी है।'

'मैं इतनी जल्द कोई चीज़ नहीं लिख सकता।'

'मैंने व्यर्थ ही इतने आदमियों से आपका परिचय कराया?'

'बिल्कुल व्यर्थ।'

'अरे भाई-जान, किसी प्राचीन कवि की ही कोई चीज़ सुना दीजिये। यहाँ कौन जानता है।'

'जी नहीं, क्षमा कीजियेगा। मैं भाट नहीं हूँ, न कथक हूँ।'

यह कहते हुए प्रवीणजी तुरन्त वहाँ से चल दिये। घर पहुँचे, तो उनका चेहरा खिला हुआ था।

सुमित्रा ने प्रसन्न होकर पूछा—इतनी जल्द कैसे आ गये?

'मेरी वहाँ कोई ज़रूरत न थी।'

'चलो चेहरा खिला हुआ है। खूब सम्मान हुआ होगा।'

'हाँ, सम्मान तो जैसी आशा न थी वैसा हुआ।'

'ख़ुश बहुत हो?'

इसी से कि आज मुझे हमेशा के लिये सबक़ मिल गया। मैं दीपक हूँ और जलने के लिये बना हूँ। आज मैं इस तत्त्व को भूल गया था। ईश्वर ने मुझे ज्यादा बहकने न दिया। मेरी यह क़ुटिया ही मेरे लिये स्वर्ग है। मैं आज यह तत्त्व पा गया, कि साहित्य-सेवा पूरी तपस्या है।

—प्रेमचन्द

यही मेरी मातृभूमि है

(१)

आज पूरे ६० वर्ष के बाद मुझे मातृभूमि—प्यारी मातृभूमि—के दर्शन प्राप्त हुए हैं। जिस समय मैं अपने प्यारे देश से विदा हुआ था और भाग्य मुझे पश्चिम की ओर ले चला था, उस समय मैं पूर्ण युवा था। मेरी नसों में नवीन रक्त संचालित हो रहा था। हृदय उमंगों और बड़ी बड़ी आशाओं से भरा हुआ था। मुझे अपने प्यारे भारतवर्ष से किसी अत्याचारी के अत्याचार या न्याय के बलवान् हाथों ने नहीं जुदा किया था। अत्याचारी के अत्याचार और क़ानून की कठोरताएँ मुझसे जो चाहे सो करा सकती हैं, मगर मेरी प्यारी मातृभूमि मुझसे नहीं छुड़ा सकतीं। वे मेरी उच्च अभिलाषाएँ और बड़े बड़े ऊँचे विचार ही थे, जिन्होंने मुझे देश-निकाला दिया था।

मैंने अमेरिका जाकर वहाँ ख़ूब व्यापार किया और व्यापार से धन भी पैदा किया तथा धन से आनन्द भी ख़ूब मनमाने लूटे। सौभाग्य से पत्नी भी ऐसी मिली, जो सौंदर्य में अपनी सानी आप ही थी। उसकी लावण्यता और सुन्दरता की ख्याति तमाम

अमेरिका में फैली थी। उसके हृदय में ऐसे विचार की गुंजायश भी न थी, जिसका संबंध मुझसे न हो। मैं उसपर तन-मन से आसक्त था और वह मेरी सर्वस्व थी। मेरे पाँच पुत्र थे, जो सुंदर, हृष्ट-पुष्ट और ईमानदार थे। उन्होंने व्यापार को और भी चमका दिया था। मेरे भोले-भाले नन्हें-नन्हें पौत्र गोद में बैठे हुए थे, जब कि मैंने प्यारी मातृभूमि के अंतिम दर्शन करने को अपने पैर उठाये। मैंने अनन्त धन, प्रियतमा पत्नी, सपूत बेटे और प्यारे-प्यारे जिगर के टुकड़े नन्हें-नन्हें बच्चे आदि अमूल्य पदार्थ केवल इसीलिये परित्याग कर दिये कि मैं प्यारी भारत-जननी का अन्तिम दर्शन कर लूँ। मैं बहुत बूढ़ा हो गया हूँ, १० वर्ष के बाद पूरे सौ वर्ष का हो जाऊँगा। अब मेरे हृदय में केवल एक ही अभिलाषा बाक़ी है कि मैं अपनी मातृभूमि का रजकण बनूँ।

यह अभिलाषा कुछ आज ही मेरे मन में उत्पन्न नहीं हुई, बल्कि उस समय भी थी जब मेरी प्यारी पत्नी अपनी मधुर बातों और कोमल कटाक्षों से मेरे हृदय को प्रफुल्लित किया करती थी। और जब कि मेरे युवा पुत्र प्रातःकाल आकर अपने वृद्ध पिता को सभक्ति प्रणाम करते, उस समय भी मेरे हृदय में एक काँटा-सा खटकता रहता था कि मैं अपनी मातृभूमि से अलग हूँ। यह देश मेरा देश नहीं है और मैं इस देश का नहीं हूँ।

मेरे धन था, पत्नी थी, लड़के थे और जायदाद थी; मगर न-मालूम क्यों, मुझे रह-रहकर मातृभूमि के टूटे-फूटे झोंपड़े, चार-छः बीघा मौरूसी ज़मीन और बालपन के लँगोटिया यारों की याद

अक्सर सता जाया करती। प्रायः अपार प्रसन्नता और आनंदोत्सवों के अवसर पर भी यह विचार हृदय में चुटकी लिया करता था कि "यदि मैं अपने देश में होता........!"

(२)

जिस समय मैं बम्बई में जहाज़ से उतरा, मैंने पहिले काले-काले कोट-पतलून पहिने टूटी-फूटी अँग्रेज़ी बोलते हुए मल्लाह देखे। फिर अंग्रेज़ी दूकानें, ट्राम और मोटर-गाड़ियाँ दीख पड़ीं। इसके बाद रबर-टायरवाली गाड़ियों की ओर मुँह में चुरट दाबे हुए आदमियों से मुठभेड़ हुई। मैंने रेल का विक्टोरिया टर्मिनस स्टेशन देखा। फिर मैं रेल में सवार होकर हरी-हरी पहाड़ियों के मध्य में स्थित अपने गाँव को चल दिया। उस समय मेरी आखों में आँसू भर आये और मैं खूब रोया, क्योंकि यह मेरा देश न था। यह वह देश न था, जिसके दर्शनों की इच्छा सदा मेरे हृदय में लहराया करती थी। यह तो कोई और देश था। यह अमेरिका या इंगलैंड था, मगर प्यारा भारत नहीं था।

रेलगाड़ी जंगलों, पहाड़ों, नदियों और मैदानों को पार करती हुई मेरे प्यारे गाँव के निकट पहुँची, जो किसी समय में फूल, पत्तों और फलों की बहुतायत तथा नदी-नालों की अधिकता से स्वर्ग की होड़ कर रहा था। मैं जब गाड़ी से उतरा, तो मेरा हृदय बाँसों उछल रहा था, अब अपना प्यारा घर देखूँगा—अपने बालपन के प्यारे साथियों से मिलूँगा। मैं इस समय बिलकुल भूल गया था

कि मैं ९० वर्ष का बूढ़ा हूँ। ज्यों-ज्यों मैं गाँव के निकट आता था, मेरे पग शीघ्र-शीघ्र उठते थे और हृदय में अकथनीय आनंद का स्रोत उमड़ रहा था। प्रत्येक वस्तु पर आँखें फाड़-फाड़कर दृष्टि डालता था। अहा! यह वही नाला है, जिसमें हम रोज़ घोड़े नहलाते थे और स्वयं भी डुबकियाँ लगाते थे। किन्तु अब उसके दोनों ओर काँटेदार तार लगे हुए थे और सामने एक बँगला था, जिसमें दो अंग्रेज़ बंदूकें लिए इधर-उधर ताक रहे थे। नाले में नहाने की सख्त मनाही थी।

गाँव में गया और निगाहें बालपन के साथियों को खोजने लगीं; किन्तु शोक! वे सब के सब मृत्यु के ग्रास हो चुके थे। मेरा घर—मेरा टूटा-फूटा झोंपड़ा—जिसकी गोद में मैं बरसों खेला था, जहाँ बचपन और बेफ़िक्री के आनंद लूटे थे और जिनका चित्र अभी तक मेरी आँखों में फिर रहा था, वही मेरा प्यारा घर अब मिट्टी का ढेर हो गया था।

(३)

यह स्थान ग़ैर-आबाद न था। सैकड़ों आदमी चलते-फिरते दृष्टि आते थे, जो अदालत-कचहरी और थाना-पुलिस की बातें कर रहे थे। उनके मुखों से चिन्ता, निर्जीवता, और उदासी प्रदर्शित होती थी और वे सब सांसारिक चिन्ताओं से व्यथित मालूम होते थे। मेरे साथियों के समान हृष्ट-पुष्ट बलवान् लाल चेहरेवाले नव-युवक कहीं न देख पड़ते थे। उस अखाड़े के स्थान पर, जिसकी जड़

मेरे हाथों ने डाली थी, अब एक टूटा-फूटा स्कूल था। उसमें दुर्बल और कान्तिहीन रोगियों की-सी सूरतवाले बालक फटे कपड़े पहिने बैठे ऊँघ रहे थे। उनको देखकर सहसा मेरे मुख से निकल पड़ा कि "नहीं नहीं, यह मेरा प्यारा देश नहीं है। यह देश देखने मैं इतनी दूर से नहीं आया हूँ—यह मेरा भारतवर्ष नहीं है।"

बरगद के पेड़ की ओर मैं दौड़ा, जिसकी सुहावनी छाया में मैंने बचपन के आनन्द उड़ाये थे, जो हमारे छुटपन का क्रीड़ा-स्थल और युवावस्था का सुखप्रद वासस्थान था। आह! इस प्यारे बरगद को देखते ही हृदय पर एक बड़ा आघात पहुँचा और दिल में महान् शोक उत्पन्न हुआ। उसे देखकर ऐसी-ऐसी दुःखदायक तथा हृदय-विदारक स्मृतियाँ ताज़ी हो गईं कि घंटों पृथ्वी पर बैठे-बैठे मैं आँसू बहाता रहा। हा! यही बरगद है, जिसकी डालों पर चढ़कर मैं फुनगियों तक पहुँचता था, जिसकी जटाएँ हमारी झूला थीं और जिसके फल हमें सारे संसार की मिठाइयों से अधिक स्वादिष्ट मालूम होते थे। मेरे गले में बाँहें डालकर खेलनेवाले लँगोटिया यार, जो कभी रूठते थे, कभी मनाते थे, कहाँ गये? हाय, मैं अब बिना घरबार का मुसाफ़िर क्या अकेला ही हूँ? क्या मेरा कोई भी साथी नहीं? इस बरगद के निकट अब थाना था और बरगद के नीचे कोई लाल साफ़ा बाँधे बैठा था। उसके आस-पास दस-बीस लाल पगड़ीवाले करबद्ध खड़े थे। वहाँ फटे-पुराने कपड़े पहिने दुर्भिक्षग्रस्त पुरुष जिसपर अभी चाबुकों की बौछार हुई थी, पड़ा सिसक रहा था। मुझे ध्यान

आया कि यह मेरा प्यारा देश नहीं है, कोई और देश है। यह योरोप है, अमेरिका है, मगर मेरी प्यारी मातृभूमि नहीं है—कदापि नहीं है।

इधर से निराश होकर मैं उस चौपाल की ओर चला, जहाँ शाम के वक़्त पिताजी गाँव के अन्य बुज़ुर्गों के साथ हुक्का पीते और हँसी-क़हक़हे उड़ाते थे। हम भी उस टाट के बिछौने पर कलाबाज़ियाँ खाया करते थे। कभी-कभी वहाँ पंचायत भी बैठती थी, जिसके सरपंच सदा पिताजी ही हुआ करते थे। इसी चौपाल के पास एक गोशाला थी, जहाँ गाँव भर की गायें रक्खी जाती थीं और बछड़ों के साथ हम यहीं किलोलें किया करते थे। शोक! कि अब उस चौपाल का पता तक न था। वहाँ अब गाँवों में टीका लगाने की चौकी और डाकख़ाना था।

उस समय इसी चौपाल से लगा एक कोल्हवाड़ा था, जहाँ जाड़े के दिनों में ईख पेरी जाती थी और गुड़ की सुगन्ध से मस्तिष्क पूर्ण हो जाता था। हम और हमारे साथी वहाँ गँडेरियों के लिए बैठे रहते और गँडेरियाँ करनेवाले मज़दूरों के हस्त-लाघव को देखकर आश्चर्य किया करते थे। वहाँ हज़ारों बार मैंने कच्चा रस और पक्का दूध मिलाकर पिया था और वहाँ आस-पास के घरों की स्त्रियाँ और बालक अपने-अपने घड़े लेकर आते थे और उनमें रस भरकर ले जाते थे। शोक है कि वे कोल्हू अब तक ज्यों-के-त्यों खड़े थे, किन्तु कोल्हवाड़े की जगह पर अब एक सन लपेटनेवाली मशीन लगी थी और उसके सामने एक तंबोली

और सिगरेटवाले की दूकान थी। इन हृदय-विदारक दृश्यों को देखकर मैंने दुःखित हृदय से, एक आदमी से, जो देखने में सभ्य मालूम होता था, पूछा—"महाशय, मैं एक परदेशी यात्री हूँ। रात भर लेट रहने की मुझे आज्ञा दीजियेगा?" इस आदमी ने मुझे शिर से पैर तक गहरी दृष्टि से देखा और कहने लगा कि "आगे जाओ, यहाँ जगह नहीं है।" मैं आगे गया और वहाँ से भी यही उत्तर मिला कि "आगे जाओ"। पाँचवी वार एक सज्जन से स्थान माँगने पर उन्होंने एक मुट्ठी चने मेरे हाथ पर रख दिये। चने मेरे हाथ से छूट पड़े और नेत्रों से अविरल अश्रु-धारा वहने लगी। मुख से सहसा निकल पड़ा कि "हाय, यह मेरा देश नहीं है, यह कोई और देश है। यह हमारा अतिथि-सत्कारकारी प्यारा भारत नहीं है—कदापि नहीं है।"

मैंने एक सिगरेट की डिब्बिया खरीदी और एक सुनसान जगह पर बैठकर सिगरेट पीते हुए पूर्व समय की याद करने लगा कि अचानक मुझे धर्मशाला स्मरण हो आई, जो मेरे विदेश जाते समय वन रही थी। मैं उस ओर लपका कि रात किसी प्रकार वहीं काट लूँ, मगर शोक! शोक!! महान् शोक!!! ज्यों-की-त्यों खड़ी थी, किन्तु उसमें ग़रीब यात्रियों के टिकने के लिये स्थान न था। मदिरा, दुराचार और द्यूत ने उसे अपना घर बना रक्खा था। यह दशा देखकर विवशतः मेरे हृदय से एक सर्द आह निकल पड़ी और मैं ज़ोर से चिल्ला उठा कि "नहीं, नहीं, नहीं और हज़ार वार नहीं है—यह मेरा प्यारा भारत नहीं है। यह कोई और

देश है। यह योरोप है, अमेरिका है, मगर भारत कदापि नहीं है।"

(४)

अँधेरी रात थी। गीदड़ और कुत्ते अपने-अपने कर्कश स्वर में उच्चारण कर रहे थे। मैं अपना दुःखित हृदय लेकर उसी नाले के किनारे जाकर बैठ गया और सोचने लगा—अब क्या करूँ? क्या फिर अपने पुत्रों के पास लौट जाऊँ और अपना यह शरीर अमेरिका की मिट्टी में मिलाऊँ। अब तक मेरी मातृभूमि थी; मैं विदेश में ज़रूर था, किन्तु मुझे अपने प्यारे देश की याद बनी थी, पर अब मैं देश-विहीन हूँ। मेरा कोई देश नहीं है। इसी सोच-विचार में मैं बहुत देर तक घुटनों पर शिर रक्खे मौन रहा। रात्रि नेत्रों में ही व्यतीत की। घंटेवाले ने तीन बजाये और किसी के गाने का शब्द कानों में आया। हृदय गद्गद् हो गया कि यह तो देश का ही राग है, यह तो मातृभूमि का ही स्वर है। मैं तुरंत उठ खड़ा हुआ और क्या देखता हूँ कि १५–२० वृद्धा स्त्रियाँ सफ़ेद धोतियाँ पहिने, हाथों में लोटे लिये स्नान को जा रहीं हैं, और गाती जाती हैं—

"हमारे प्रभु अवगुन चित न धरो—"

मैं इस गीत को सुनकर तन्मय हो ही रहा था कि इतने में मुझे बहुत आदमियों की बोलचाल सुन पड़ी। उनमें से कुछ लोग

हाथों में पीतल के कमंडलु लिये हुए शिव-शिव, हर-हर, गंगे-गंगे, नारायण-नारायण आदि शब्द बोलते हुए चले जाते थे। आनन्द-दायक और प्रभावोत्पादक राग से मेरे हृदय पर जो प्रभाव हुआ, उसका वर्णन करना कठिन है।

मैंने अमेरिका की चंचल-से-चंचल और प्रसन्न-से-प्रसन्न चित्त-वाली लावण्यवती स्त्रियों का आलाप सुना था, सहस्रों बार उनकी जिह्वा से प्रेम और प्यार के शब्द सुने थे, हृदयाकर्षक वचनों का आनन्द उठाया था, मैंने सुरीले पक्षियों का चहचहाना भी सुना था, किन्तु जो आनन्द, जो मज़ा और जो सुख मुझे इस राग में आया वह मुझे जीवन में कभी प्राप्त नहीं हुआ था। मैंने खुद गुनगुनाकर गाया—

"हमारे प्रभु अवगुन चित न धरो—"

मेरे हृदय में फिर उत्साह आया कि ये तो मेरे प्यारे देश की ही बातें हैं। आनन्दातिरेक से मेरा हृदय आनन्दमय हो गया। मैं भी इन आदमियों के साथ हो लिया और ६ मील तक पहाड़ी मार्ग पार करके उसी नदी के किनारे पहुँचा, जिसका नाम पतित-पावनी है, जिसकी लहरों में डुबकी लगाना और जिसकी गोद में मरना प्रत्येक हिन्दू अपना परम सौभाग्य समझता है। पतित-पावनी भागीरथी गंगा मेरे प्यारे गाँव से छः-सात मील पर बहती थीं। किसी समय घोड़े पर चढ़कर गंगा माता के दर्शनों की लालसा मेरे हृदय में सदा रहती थी। यहाँ मैंने हज़ारों मनुष्यों

को इस ठंडे पानी में डुबकी लगाते हुए देखा। कुछ लोग बालू पर बैठे गायत्री-मन्त्र जप रहे थे। कुछ लोग हवन करने में संलग्न थे। कुछ माथे पर तिलक लगा रहे थे और कुछ लोग सस्वर वेद-मन्त्र पढ़ रहे थे। मेरा हृदय फिर उत्साहित हुआ और मैं ज़ोर से कह उठा, 'हाँ, हाँ, यही मेरा प्यारा देश है, यही मेरी पवित्र मातृभूमि है, यही मेरा सर्वश्रेष्ठ भारत है और इसी के दर्शनों की मेरी उत्कट इच्छा थी तथा इसी की पवित्र धूलि के कण बनने की मेरी प्रबल अभिलाषा थी।"

(५)

मैं विशेष आनन्द में मग्न था। मैंने अपना पुराना कोट और पतलून उतारकर फेंक दिया और गंगा माता की गोद में जा गिरा, जैसे कोई भोला-भाला बालक दिन भर निर्दय लोगों के साथ रहने के बाद सन्ध्या को अपनी प्यारी माता की गोद में दौड़कर चला आये और उसकी छाती से चिपट जाय। हाँ, अब मैं अपने देश में हूँ। यह मेरी प्यारी मातृभूमि है। ये लोग मेरे भाई हैं और गंगा मेरी माता है।

मैंने ठीक गङ्गा के किनारे एक छोटी-सी कुटी बनवा ली है। अब मुझे सिवा राम-नाम जपने के और कोई काम नहीं है। मैं नित्य प्रातः-सायं गंगास्नान करता हूँ और मेरी प्रबल इच्छा है कि इसी स्थान पर मेरे प्राण निकलें और मेरी अस्थियाँ गंगा माता की लहरों की भेंट हों।

मेरी स्त्री और मेरे पुत्र बार-बार बुलाते हैं, मगर अब मैं यह गंगा माता का तट और अपना प्यारा देश छोड़कर वहाँ नहीं जा सकता। मैं अपनी मिट्टी गंगाजी को ही सौंपूँगा। अब संसार की कोई आकांक्षा मुझे इस स्थान से नहीं हटा सकती, क्योंकि यह मेरा प्यारा देश और यही प्यारी मातृभूमि है। बस, मेरी उत्कट इच्छा यही है कि मैं अपनी प्यारी मातृभूमि में ही अपने प्राण विसर्जन करूँ।

—प्रेमचन्द

न्याय-मन्त्री

(१)

यह घटना आज से २५०० वर्ष पहले की है।

एक दिन सन्ध्या-समय, जब आकाश में बादल लहरा-रहे थे, बुद्धगया नामक गाँव में एक परदेसी शिशुपाल ब्राह्मण के द्वार पर आया और नम्रता से बोला—क्या मुझे रात काटने के लिये स्थान मिल जायगा ?

शिशुपाल अपने गाँव में सबसे निर्धन थे। घोर दारिद्र ने भूखे बैल की नाईं उनकी हड्डियों का पंजर निकाल रक्खा था। उसकी आजीविका थोड़ी-सी भूमि पर चलती थी। परन्तु फिर भी परदेसी को द्वार पर देखकर उनका मुख खिल उठा, जैसे कमल सूर्य के उदय होने पर खिल उठता है।

उन्होंने मुस्कराते हुए कहा—"यह मेरा सौभाग्य है, आइए, पधारिए। अतिथि के चरणों से चौका पवित्र हो जायगा।"

परदेसी और ब्राह्मण दोनों अन्दर गये। भारतवर्ष में अतिथि-सत्कार की रीति बहुत प्रचलित थी। शिशुपाल के पुत्र ने अतिथि का सत्कार किया। परदेसी मुग्ध होगया। उसने ब्राह्मण से कहा—"आपका पुत्र बड़े काम का आदमी है, उसका

सेवा-भाव देखकर जी ख़ुश हो गया।"

शिशुपाल ने इस प्रकार सिर उठाया, जैसे किसी ने सर्प को छेड़दिया हो और नाक-भौं चढ़ाकर उत्तर दिया--"आप हमारे अतिथि हैं, अन्यथा ब्राह्मण ऐसे शब्द नहीं सुन सकते।"

परदेसी ने अपनी भूल पर लज्जित होकर कहा—"क्षमा कीजिये, मेरा यह अभिप्राय न था। परन्तु आजकल वे ब्राह्मण कहाँ हैं। अब तो आँखें उनके लिये तरसती हैं।"

शिशुपाल ने उत्तर दिया—"ब्राह्मण तो अब भी हैं, कमी केवल क्षत्रियों की है।"

"मैं आपका अभिप्राय नहीं समझा ?"

शिशुपाल ने एक लम्बी-चौड़ी वक्तृता आरम्भ कर दी, जिसको सुनकर परदेसी दंग रह गया। उसकी बातें ऐसी युक्तियुक्त और प्रभावशाली थीं कि परदेसी उनपर मुग्ध हो गया। इस छोटे-से गाँव में ऐसा विद्वान्, ऐसा तत्त्वदर्शी पंडित हो सकता है, इसकी उसे कल्पना भी न थी। उसने शिशुपाल का युक्ति-युक्त तर्क और शासन-पद्धति का इतना विशाल ज्ञान देखकर कहा—"मुझे ख़याल न था कि यहाँ गोबर में फूल खिला हुआ है। महाराज अशोक को पता लग जाय, तो आपको किसी ऊँचे पद पर नियुक्त कर दें।"

शिशुपाल के शुष्क होठों पर मुस्कराहट आ गई। जिसका अन्तःकरण कुढ़ रहा हो, जिसके नेत्र आँसू बरसा रहे हों, जिसका मस्तिष्क अपने आपे में न हो, उसके होठों पर हँसी ऐसी भयानक

प्रतीत होती है, जैसे श्मशान में चाँदनी, वरन् उससे भी अधिक। शिशुपाल की आँखें नीचे झुक गईं। उन्होंने थोड़ी देर बाद सिर ऊपर उठाया और कहा —"आजकल बड़ा अन्याय हो रहा है। जब देखता हूँ, मेरा रक्त उबलने लगता है।"

परदेसी ने पैंतरा बदलकर उत्तर दिया—शेर-बकरी एक घाट पानी पी रहे हैं।"

"रहने दो, मैं सब जानता हूँ।"

"दोष निकालना सुगम है, परन्तु कुछ करके दिखाना कठिन है।"

शिशुपाल ने अग्नि पर पड़े हुए पत्ते की नाईं झुलसकर उत्तर दिया—"अवसर मिले, तो दिखा दूँ कि न्याय किसे कहते हैं।"

"तो आप अवसर चाहते हैं?"

"हाँ, अवसर चाहता हूँ।"

"फिर कोई अन्याय न होगा?"

"सर्वथा न होगा।"

"कोई अपराधी दण्ड से न बचेगा?"

कदापि नहीं बचेगा।"

परदेसी ने सहज भाव से कहा—"यह बहुत कठिन है।"

"ब्राह्मण के लिये कोई कठिन नहीं। न्याय का डंका बजाकर दिखा दूँगा।"

परदेसी के मुख पर मुस्कराहट थी, नेत्रों में ज्योति। उसने

हँसकर उत्तर दिया—"यदि मैं अशोक होता, तो आपकी मनो-कामना पूर्ण कर देता।"

सहसा ब्राह्मण के हृदय में एक सन्देह उठा, परन्तु दूसरे ही क्षण में दूर हो गया, जिस तरह वायु के प्रबल झोंके अभ्रखण्ड को उड़ा ले जाते हैं।

(२)

दूसरे दिन शिशुपाल को महाराज अशोक के दरबार में बुलाया गया। इस समाचार से गाँव-भर में आग-सी लग गई। यह वह समय था, जब महाराज अशोक का राज्य आरम्भ हुआ था और दमननीति का दौर-दौरा था। उस समय महाराज ऐसे निर्दय और निठुर थे कि ब्राह्मणों और स्त्रियों को भी फाँसी पर चढ़ा दिया करते थे। उनकी निष्ठुर दृष्टि से बड़े-बड़े वीरों के भी प्राण सूख जाते थे। लोगों ने समझ लिया कि शिशुपाल के लिये यह बुलावा मृत्यु का बुलावा है। सबको विश्वास हो गया कि अब शिशुपाल जीवित न लौटेंगे। परिणाम यह हुआ कि शिशुपाल के संबन्धियों पर दुःख का पहाड़ टूट पड़ा और वे फूट-फूटकर रोने लगे। लोग धीरज बँधाते थे, परन्तु शिशुपाल के माथे पर बल न था। वे कहते थे—"जब मैंने कोई अपराध नहीं किया, राज्य के किसी नियम का प्रतिरोध नहीं किया, तब कोई मुझे क्यों फाँसी देने लगा। निस्संदेह राजा ऐसा अन्यायी और अंधा नहीं हो सकता कि निर्दोष ब्राह्मणों को दुःख देने लगे।" भय और आशंका की लहरों के मध्य में वे इस

प्रकार मौन खड़े थे, जैसे समुद्री चट्टान पानी के प्रहार में खड़ी रहती है। उन्होंने अपने पुत्र और स्त्री को समझाया, और पाटलिपुत्र की ओर चले।

साँझ हो गई थी, जब शिशुपाल पाटलिपुत्र पहुँचे, और जब राज-महल में पहुँचाए गए। उस समय तक उनको किसी बात का भय न था; परन्तु राज-महल की चमक-दमक देखकर उनपर भय छा गया, जिस प्रकार मनुष्य थोड़े जल में निर्भय रहता है, परन्तु गहराई में पहुँचकर घबरा जाता है। उनके हृदय में कई प्रकार के विचार उठने लगे। कभी सोचते, किसी ने कोई शिकायत न कर दी हो। जो जी में आता है, बेधड़क कह देता हूँ, कहीं इसका फल न भुगतना पड़े, कई शत्रु हैं। कभी सोचते, वह परदेसी पता नहीं कौन था? हो सकता है, कोई गुप्तचर ही हो और यह आग उसी की लगाई हो। तब तो उसने सब कुछ कह दिया होगा। कैसी मूर्खता की, जो एक अपरिचित से घुल-मिलकर बातें करता रहा, अब पछता रहा हूँ। कभी सोचते, कदाचित् मेरी दरिद्रता की दुःख-कथा यहाँ तक पहुँच गई हो, और महाराज ने मुझे कुछ देने को बुला भेजा हो, यह भी तो हो सकता है। इस विचार से हृदय-कमल खिल जाता, परन्तु फिर दूसरे विचार से मुरझा जाता। इतने में प्रतिहार ने आकर कहा—"महाराज आ रहे हैं।"

शिशुपाल का कलेजा धड़कने लगा। उनको ऐसा प्रतीत हुआ मानो प्राण होठों तक आ गए हैं। राजा का कितना प्रताप होता है, इसका पहली बार अनुभव हुआ। दृष्टि द्वार की ओर जम

गई। महाराज अशोक राजसी ठाठ से कमरे में दाखिल हुए और मुस्कराते हुए बोले—"ब्राह्मण देवता! आपने मुझे पहचाना?"

शिशुपाल घबराकर खड़े हो गये। इस समय उनका रोम-रोम काँप रहा था—ये वही थे।

(३)

हाँ, ये वही थे। शिशुपाल काँपकर रह गये। कौन जानता था कि शीतकाल की रात को एक ब्राह्मण के यहाँ आश्रय लेनेवाला परदेसी भारत का सम्राट् हो सकता है। शिशुपाल ने तुरन्त ही अपने हृदय को स्थिर कर लिया और कहा—"मुझे पता न था कि आप ही महाराज हैं, अन्यथा इतनी स्वतन्त्रता से बातचीत न करता।"

महाराज अशोक बोले—"हूँ।"

"परन्तु मैंने कोई बात ग़लत नहीं कही थी।"

"हूँ।"

"मैं प्रमाण दे सकता हूँ।"

महाराज ने कहा—"मैं नहीं चाहता।"

"तो मेरे लिये क्या आज्ञा है?"

"मैं आपकी परीक्षा करना चाहता हूँ।"

शिशुपाल के हृदय में सहसा एक विचार उठा—"क्या वह सच हो जायगा?"

महाराज ने कहा—"आपने कहा था कि यदि मुझे अवसर

दिया जाय, तो मैं न्याय का डंका बजा दूँगा। मैं आपके इस कथन की परीक्षा करना चाहता हूँ। आप तैयार हैं ?"

शिशुपाल ने हंस की तरह गर्दन ऊँची की और कहा—"हाँ, यदि महाराज की यही इच्छा है, तो मैं तैयार हूँ।"

"कल प्रातःकाल से तुम न्याय-मन्त्री नियत किये जाते हो। सारे नगर पर तुम्हारा अधिकार होगा।"

"बहुत अच्छा !"

"पाटलिपुत्र की पुलीस का प्रत्येक अधिकारी तुम्हारे आधीन होगा, और शान्ति रखने का उत्तरदायित्व केवल तुम्हीं पर होगा।"

"बहुत अच्छा !"

"यदि कोई दुर्घटना हो गई, अथवा कोई हत्या हो गई, तो इसका उत्तरदायित्व भी तुमपर होगा।"

"बहुत अच्छा !"

महाराज थोड़ी देर चुप रहे और फिर हाथ से अँगूठी उतार-कर बोले—"यह राजमुद्रा है। तुम कल प्रातःकाल की पहली किरण के साथ न्याय-मन्त्री समझे जाओगे। मैं देखूँगा, तुम अपने-आपको किस प्रकार सफल शासक सिद्ध कर सकते हो।"

(४)

एक मास व्यतीत हो गया। न्याय-मंत्री के न्याय और सुप्रबन्ध की चारों ओर धूम मच गई। ऐसा प्रतीत होता था, जैसे शिशुपाल ने नगर पर जादू डाल दिया है। उन्होंने चोर-डाकुओं को इस

प्रकार वश में कर लिया था, जैसे सर्प को बीन बजाकर सँपेरा वश में कर लेता है। उन दिनों यह अवस्था थी कि लोग दरवाज़े तक खुले छोड़ जाते थे, परन्तु किसी को अन्दर झाँकने का साहस न होता था। शिशुपाल का न्याय अन्धा और बहरा था, जो न सूरत देखता था, न सिफ़ारिश सुनता था। वह केवल दंड देना जानता था और दंड भी शिक्षाप्रद। नगर की दशा में आकाश-पाताल का अन्तर पड़ गया।

रात्रि का समय था। आकाश में तारे खेलते थे। एक पुरुष ने एक विशाल भवन के द्वार पर आवाज़ दी। झरोखे से किसी स्त्री ने सिर निकालकर पूछा—"कौन है?"

"मैं हूँ, दरवाज़ा खोल दो।"

"परन्तु वे यहाँ नहीं हैं।"

"परवा नहीं, तुम दरवाज़ा खोल दो।"

स्त्री ने कुछ सोचकर उत्तर दिया—"मैं नहीं खोलूँगी, तुम इस समय जाओ।"

उस व्यक्ति ने क्रोध से कहा—"दरवाज़ा खोल दो, नहीं तो मैं तोड़ डालूँगा।"

स्त्री ने उत्तर दिया—"जानते नहीं हो, नगर में शिशुपाल का राज्य है। अब कोई इस प्रकार बलात्कार नहीं कर सकता।"

उसने तलवार निकालकर दरवाज़े पर आक्रमण किया। सहसा एक पहरेदार ने आकर उसका हाथ थाम लिया, और कहा—"यह तुम क्या कर रहे हो?"

धनी ने उसकी ओर इस तरह देखा, जैसे भेड़िया भेड़ को देखता है, और क्रोध से बोला—"तुम कौन हो ?"

"मैं पहरेदार हूँ।"

"तुमको इस पद पर किसने नियत किया है ?"

"न्याय-मन्त्री ने।"

"मूर्खता न करो। मैं उसे भी मिट्टी में मिला सकता हूँ।"

पहरेदार ने साहस से उत्तर दिया—"परन्तु इस समय महाराज अशोक आ जायँ, तो भी न टलूँगा।"

"क्यों अपनी मृत्यु को बुला रहे हो ?"

"मैंने जो प्रण किया है, उसे पूरा करूँगा।"

"किससे प्रण किया है ?"

"न्याय-मन्त्री से।"

"क्या ?"

"यही कि जब तक तन में प्राण हैं और जब तक रुधिर का अन्तिम बिन्दु भी मेरे शरीर में शेष है, मैं अपने कर्त्तव्य से कभी पीछे हटूँगा।"

उस व्यक्ति ने तलवार खींच ली। पहरेदार ने पीछे हटकर कहा—"आप ग़लती कर रहे हैं। मैं नौकरी पर हूँ।"

परन्तु उस पुरुष ने सुना-अनसुना कर दिया और तलवार लेकर झपटा। पहरेदार ने भी तलवार खींचली। परन्तु वह अभी नया था, पहले ही वार में गिर गया, और मारा गया। उस पुरुष का लहू सूख गया। उसके हाथों के तोते उड़ गये। उसकी यह

इच्छा न थी कि पहरेदार को मार दिया जाय। वह उसे केवल डराना चाहता था, परन्तु घाव मर्म-स्थान पर लगा। उसने पहरेदार की लाश को एक ओर कर दिया और आप भाग निकला।

(५)

प्रातःकाल इस घटना की घर-घर में चर्चा थी। लोग हैरान थे कि इतना साहस किसे हो गया कि पुलीस के कर्मचारी को मार डाले, और फिर शिशुपाल के शासन में! राजधानी में आतङ्क छा गया। पुलीस के आदमी चारों ओर दौड़ते-फिरते थे, मानो यह उनके जीवन और मरण का प्रश्न हो; और न्याय-मन्त्री ने तो इस मामले की खोज में दिन-रात एक कर दिया। यह घटना उनके शासन-काल में पहली थी। उनको खाना-पीना भूल गया, आँखों से नींद उड़ गई। घातक की खोज में उन्होंने कोई कसर न उठा रक्खी, परन्तु कुछ पता न लगा।

असफलता का प्रत्येक दिन अशोक की क्रोधाग्नि को अधिकाधिक प्रज्वलित कर रहा था। वे कहते, तुमने कितने ज़ोर से न्याय का दावा किया था, अब क्या हो गया? न्याय-मंत्री लज्जा से सिर झुका लेते। महाराज पूछते—"घातक कब तक पकड़ा जायगा"। न्याय-मन्त्री उत्तर देते—"यत्न कर रहा हूँ, जल्दी ही पकड़ लूँगा।" महाराज कुछ दिन ठहरकर फिर पूछते—"हत्यारा पकड़ा गया?" न्याय-मंत्री कहते—"अभी नहीं।" महाराज का क्रोध भड़क उठता। उनकी आँखों से आग की चिनगारियाँ

निकलने लगतीं, बादल के समान गर्जकर बोलते—"मैं यह 'नहीं' सुनते-सुनते तंग आ गया हूँ।"

इसी प्रकार एक सप्ताह बीत गया, परन्तु हत्यारे का पता न लगा। अन्त में महाराज ने शिशुपाल को बुलाकर कहा—"तुम्हें तीन दिन की और अवधि दी जाती है। यदि इस बीच में भी घातक न पकड़ा गया, तो तुम्हें फाँसी दे दी जायगी।"

इस समाचार से नगर में हलचल-सी मच गई। एक ही मास के अन्दर-अन्दर शिशुपाल लोकप्रिय हो चुके थे। उनकी न्यायशीलता की चारों ओर धाक बँध गई थी। लोग महाराज को गालियाँ देने लगे। जहाँ चार मनुष्य इकट्ठे होते, इसी विषय पर बातचीत करने लगते। वे चाहते थे कि चाहे कुछ भी हो जाय, परन्तु शिशुपाल का बाल बाँका न हो। शिशुपाल स्वयं बड़ी उत्सुकता के साथ घातक की खोज में लीन थे, परन्तु व्यर्थ। यहाँ तक कि तीसरा दिन आ गया। अब कुछ ही घंटे बाक़ी थे।

रात्रि का समय था, शिशुपाल की आँखों में नींद न थी। वे नगर के एक घने बाज़ार के अन्दर घूम रहे थे। सहसा एक मकान की खिड़की खुली, और एक स्त्री ने झाँककर बाहर देखा। चारों ओर निस्तब्धता छाई हुई थी। स्त्री ने धीरे से कहा—"तुम कौन हो? पहरेदार!"

निराशा के अन्धकार में आशा की एक किरण चमक गई। शिशुपाल ने उत्तर दिया—"नहीं, मैं न्याय-मन्त्री हूँ।"

"ज़रा यहीं ठहरो।"

स्त्री खिड़की से पीछे हट गई और दीपक लेकर दरवाज़े पर आई। न्याय-मन्त्री को साथ लेकर वह अपने कमरे में गई और बोली—"आज अन्तिम रात्रि है ?"

न्याय-मन्त्री ने चुभती हुई दृष्टि से स्त्री की ओर देखा और शान्ति से उत्तर दिया—"हाँ, अन्तिम।"

शब्द साधारण थे, परन्तु इनका अर्थ साधारण न था। स्त्री तिलमिलाकर खड़ी हो गई और बोली—"मैं इस घटना को अच्छी तरह जानती हूँ।"

शिशुपाल की मृतप्राय देह में प्राण आ गये, धैर्य धरकर बोले—"तो सब कुछ बता दो।"

स्त्री ने उनके कान में कुछ कहा और सहमी हुई कबूतरी की तरह चारों ओर देखा।

(६)

दूसरे दिन दरबार में तिल रखने को स्थान न था। आज न्याय-मन्त्री का भाग्य-निर्णय होने को था। अशोक ने सिंहासन पर पैर रखते ही पुकारा—"न्याय-मन्त्री !"

शिशुपाल सामने आए। इस समय उनके मुख पर कोई चिन्ता, कोई घबराहट न थी।

महाराज ने पूछा—"हत्यारे का पता चला ?"

न्याय-मंत्री ने साहस-पूर्वक उत्तर दिया—"हाँ, चल गया।"

"पेश करो।"

न्याय-मंत्री ने सिर झुकाकर कुछ सोचा। इस समय उनके

हृदय में दो विरोधी शक्तियों का संग्राम हो रहा था। यह उनके मुख से स्पष्ट प्रतीत होता था। सहसा उन्होंने दृढ़ संकल्प से सिर उठाया और अपने एक उच्च अधिकारी को लक्ष्य करते हुए कहा—"धनवीर !"

"श्रीमन् !"

"गिरफ़्तार कर लो, मैं आज्ञा देता हूँ।"

संकेत राजा की ओर था, दरबार में निस्तब्धता छा गई। अशोक का चेहरा लाल हो गया, मानो वह तपा हुआ ताँबा हो। नेत्रों से अग्नि-कण निकलने लगे। वे तिलमिलाकर खड़े हो गए और बोले—"अरे ब्राह्मण ! अब तुझे यहाँ तक साहस हो गया।"

न्याय-मन्त्री ने ऐसा प्रकट किया, मानो कुछ सुना ही नहीं और अपने शब्दों को फिर दोहराया—"मैं आज्ञा देता हूँ, गिरफ़्तार कर लो। हत्यारा यही है।"

धनवीर पुतली की तरह आगे बढ़ा। दरबारियों का दम रुक गया। महाराज सिंहासन से नीचे उतर आये। न्याय-मंत्री ने कहा—"यह हत्यारा है। मेरी अदालत में पेश करो।"

धनवीर ने अशोक को हथकड़ी लगा ली और शिशुपाल की कचहरी की ओर ले चला। वहाँ सारा नगर उपस्थित था। शिशुपाल ने आज्ञा दी—अपराधी राजकुल से है, अतएव अकेला पेश किया जाय।

महाराज अशोक ने संकेत किया, मन्त्रीगण पीछे हट गए। महाराज उस जंगले में खड़े हो गए, जो अपराधियों के लिये नियत

था। किसी छत्रपति नरेश का अपने राज्य में स्वयं उसके नौकर के हाथों यह सम्मान हो सकता है, यह किसी को आशंका न थी; परन्तु शिशुपाल दृढ़ संकल्प के साथ न्यायासन पर विराजमान थे। उन्होंने आँख से महाराज को प्रणाम किया। हाथों को न्याय-रज्जु ने बाँध रक्खा था। वे धीरे से बोले—"तुमपर पहरेदार की हत्या का अभियोग है। तुम इसका क्या उत्तर देते हो?"

महाराज अशोक ने होंठ काटकर उत्तर दिया—"वह उद्दंड था।"

"तो तुम अपराध स्वीकार करते हो।"

"हाँ, मैंने उसको मारा है, परन्तु मैंने जान-बूझकर नहीं मारा।"

"वह उद्दंड नहीं था। मैं उसे चिरकाल से जानता हूँ।"

"वह उद्दंड था।"

"तुम झूठ बोलते हो। मैं तुम्हें मृत्यु-दंड देता हूँ।"

अशोक के नेत्र लाल हो गए। मन्त्रियों ने तलवारें निकाल लीं। कई आदमी शिशुपाल को गालियाँ देने लगे। कई एक ने यहाँ तक कह दिया—न्याय-मन्त्री पागल हो गया है। एक आवाज़ आई, तुम अपना सिर बचाओ। अशोक ने हाथ उठाकर मौन रहने का संकेत किया। चारों ओर फिर वही निस्तब्धता छा गई। न्याय-मन्त्री ने कड़ककर कहा—"आपका क्रोध करना सर्वथा अनुचित है। मैं इस समय न्याय-मन्त्री के आसन पर हूँ और न्याय करने बैठा हूँ। महाराज अशोक की दी हुई मुद्रा मेरे हाथ में है। यदि किसी ने शोर-शार किया, तो मैं उसको अदालत के अपमान के अपराध में गिरफ़्तार कर लूँगा।"

"अशोक! तुमने एक राजकर्मचारी की हत्या की है। मैं तुम्हारे वध की आज्ञा देता हूँ।"

महाराज ने सिर झुका दिया। इस समय उनके हृदय में ब्रह्मानन्द का समुद्र लहरें मार रहा था। सोचते थे—यह मनुष्य सोना है, जो अग्नि में पड़कर कुन्दन हो गया है। कहता था, मेरा न्याय अपनी धूम मचा देगा; वह वचन झूठ न था। इसने अपने कहने की लाज रख ली। ऐसे ही मनुष्य होते हैं, जिनपर जातियाँ अभिमान करती हैं, जिन पर लोग अपना तन-मन निछावर करने को उद्यत हो जाते हैं। उन्होंने एक विचित्र भाव से सिर ऊँचा किया और उपेक्षापूर्वक कहा—"मैं इस निर्णय के विरुद्ध कुछ नहीं बोल सकता।"

न्याय-मन्त्री ने एक कर्मचारी को हुक्म दिया। वह एक स्वर्ण-मूर्ति लेकर उपस्थित हुआ। न्याय-मंत्री ने खड़े होकर कहा—"महाशयो! यह सच है कि मैं न्याय-मन्त्री हूँ। यह भी सच है कि मेरा काम न्याय करना है। यह भी सच है कि एक राजकर्मचारी की हत्या की गई है। उसका दंड अवश्यम्भावी है; परन्तु शास्त्रों में राजा को ईश्वर का रूप माना गया है। उसे ईश्वर ही दंड दे सकता है। यह काम न्याय-मन्त्री की शक्ति से बाहर है। अतएवं मैं आज्ञा देता हूँ कि महाराज को चेतावनी देकर छोड़ दिया जाय और उनकी यह मूर्ति फाँसी पर लटकाई जाय, जिससे लोगों को शिक्षा मिले।"

न्याय-मन्त्री का जय-जयकार हुआ, लोग इस न्याय पर मुग्ध

हो गए। वे कहते थे, यह मनुष्य नहीं, देवता है, जो न किसी व्यक्ति से डरता है, न किसी शक्ति के आगे सिर झुकाता है। अन्तःकरण की आवाज़ सुनता है और उसपर निर्भयता से बढ़ा चला जाता है। और कोई होता तो महाराज के सामने हाथ बाँधकर खड़ा हो जाता। परन्तु इसने उन्हें "तुम" कहकर संबोधित किया है, मानो कोई साधारण अपराधी हो। उनके शरीर में रोमाञ्च हो आया। सहस्रों नेत्रों ने आनन्द के आँसू बहाये और सहस्रों जिह्वाओं ने ज़ोर-ज़ोर से कहा—"न्याय-मन्त्री की जय।"

रात हो गई थी, न्याय-मन्त्री राजमहल में पहुँचे और अशोक के सम्मुख अंगूठी और मुद्रा रखकर बोले—"महाराज! यह अपनी वस्तुएं सँभालें। मैं अपने गाँव वापस जाऊँगा।"

अशोक ने सम्मान-भरी दृष्टि से उनकी ओर देखकर कहा—"आज आपने मेरी आँखें खोल दी हैं। अब यह कैसे हो सकता है?"

"परन्तु श्रीमन्.....................।"

अशोक ने बात काटकर कहा—"आपका साहस और न्याय मैं कभी न भूलूँगा। यह बोझ आप ही उठा सकते हैं। मुझे अपने राज्य में कोई दूसरा व्यक्ति इस पद के योग्य नज़र नहीं आता।"

न्याय-मन्त्री निरुत्तर हो गये।

—सुदर्शन

ताई

(१)

"ताऊजी, हमें लेलगाली (रेलगाड़ी) ला दोगे ?"—कहता हुआ एक पंचवर्षीय बालक बाबू रामजीदास की ओर दौड़ा।

बाबू साहब ने दोनों बाँहें फैलाकर कहा—"हाँ बेटा, ला देंगे।"

उनके इतना कहते-कहते बालक उनके निकट आ गया। उन्होंने बालक को गोद में उठा लिया, और उसका मुख चूमकर बोले—"क्या करेगा रेलगाड़ी ?"

बालक बोला—"उसमें बैठकर बड़ी दूर जायँगे। हम भी जायँगे, चुन्नी को भी ले जायँगे। बाबूजी को नहीं ले जायँगे। हमें लेलगाली नहीं ला देते। ताऊजी, तुम ला दोगे, तो तुम्हें ले जायँगे।"

बाबू—"और किसको ले जायगा ?"

बालक दम-भर सोचकर बोला—"बछ, और किसी को नहीं ले जायँगे।"

पास ही बाबू रामजीदास की अर्द्धाङ्गिनी बैठी थीं। बाबू साहब ने उनकी ओर इशारा करके कहा—"और अपनी ताई को नहीं ले जायगा ?"

बालक कुछ देर तक अपनी ताई की ओर देखता रहा।

ताईजी उस समय कुछ चिढ़ी हुई-सी बैठी थीं। बालक को उनके मुख का वह भाव अच्छा न लगा; अतएव वह बोला—"ताई को नहीं ले जायँगे।"

ताईजी सुपारी काटती हुई बोलीं—"अपने ताऊजी ही को ले जा! मेरे ऊपर दया रख!"

ताई ने यह बात बड़ी रुखाई के साथ कही। बालक ताई के शुष्क व्यवहार को तुरत ताड़ गया। बाबू साहब ने फिर पूछा—"ताई को क्यों नहीं ले जायगा?"

बालक—"ताई हमें प्याल (प्यार) नहीं कलतीं।"

बाबू—"जो प्यार करें, तो ले जायगा?"

बालक को इसमें कुछ सन्देह था। ताई का भाव देखकर उसे यह आशा नहीं थी कि वह प्यार करेंगी। इससे बालक मौन रहा।

बाबू साहब ने फिर पूछा—"क्यों रे, बोलता नहीं? ताई प्यार करें, तो रेल पर बिठाकर ले जायगा?"

बालक ने ताऊजी को प्रसन्न करने के लिये केवल सिर हिलाकर स्वीकार कर लिया; परन्तु मुख से कुछ नहीं कहा।

बाबू साहब उसे अपनी अर्द्धाङ्गिनीजी के पास ले जाकर उनसे बोले—'लो, इसे प्यार कर लो, तो यह तुम्हें भी ले जायगा।' परन्तु बच्चे की ताई श्रीमती रामेश्वरी को पति की यह चुहलबाजी अच्छी न लगी। वह तुनककर बोलीं—"तुम्हीं रेल पर बैठकर जाओ, मुझे नहीं जाना है।"

बाबू साहब ने रामेश्वरी की बात पर ध्यान नहीं दिया। बच्चे

को उनकी गोद में बिठाने की चेष्टा करते हुए बोले—"प्यार नहीं करोगी, तो फिर रेल में नहीं बिठावेगा।—क्यों रे मनोहर?"

मनोहर ने ताऊ की बात का उत्तर नहीं दिया। उधर ताई ने मनोहर को अपनी गोद से ढकेल दिया। मनोहर नीचे गिर पड़ा। शरीर में तो चोट नहीं लगी; पर हृदय में चोट लगी। बालक रो पड़ा।

बाबू साहब ने बालक को गोद में उठा लिया; चुमकार-पुचकारकर चुप किया, और तत्पश्चात् उसे कुछ पैसे तथा रेलगाड़ी ला देने का वचन देकर छोड़ दिया। बालक मनोहर भय-पूर्ण दृष्टि से अपनी ताई की ओर ताकता हुआ उस स्थान से चला गया।

मनोहर के चले जाने पर बाबू रामजीदास रामेश्वरी से बोले—"तुम्हारा यह कैसा व्यवहार है? बच्चे को ढकेल दिया! जो उसके चोट लग जाती, तो?"

रामेश्वरी मुँह मटकाकर बोलीं—"लग जाती, तो अच्छा होता। क्यों मेरी खोपड़ी पर लादे देते थे? आप ही तो उसे मेरे ऊपर डालते थे, और अब आप ही ऐसी बातें करते हैं।"

बाबू साहब कुढ़कर बोले—"इसी को खोपड़ी पर लादना कहते हैं?"

रामेश्वरी—"और नहीं किसे कहते हैं? तुम्हें तो अपने आगे और किसी का दुःख-सुख सूझता ही नहीं। न-जाने कब किसका जी कैसा होता है। तुम्हें इन बातों की कोई परवा ही नहीं, अपनी चुहल से काम है।"

बाबू—"बच्चों की प्यारी-प्यारी बातें सुनकर तो चाहे जैसा जी हो, प्रसन्न हो जाता है। मगर तुम्हारा हृदय न-जाने किस धातु का बना हुआ है!"

रामेश्वरी—"तुम्हारा हो जाता होगा। और होने को होता भी है; मगर वैसा बच्चा भी तो हो! पराए धन से भी कहीं घर भरता है।"

बाबू साहब कुछ देर चुप रहकर बोले—"यदि अपना सगा भतीजा भी पराया धन कहा जा सकता है, तो फिर मैं नहीं समझता कि अपना धन किसे कहेंगे।"

रामेश्वरी कुछ उत्तेजित होकर बोली—"बातें बनाना बहुत आता है। तुम्हारा भतीजा है, तुम चाहे जो समझो, पर मुझे ये बातें अच्छी नहीं लगतीं। हमारे भाग ही फूटे हैं! नहीं तो ये दिन काहे को देखने पड़ते! तुम्हारा चलन तो दुनिया से निराला है। आदमी सन्तान के लिये न-जाने क्या-क्या करते हैं—पूजा-पाठ कराते हैं, व्रत रखते हैं; पर तुम्हें इन बातों से क्या काम? रात-दिन भाई-भतीजों में मगन रहते हो।"

बाबू साहब के मुख पर घृणा का भाव झलक आया। उन्होंने कहा—"पूजा-पाठ, व्रत, सब ढकोसला है। जो वस्तु भाग्य में नहीं, वह पूजा-पाठ से कभी प्राप्त नहीं हो सकती। मेरा तो यह अटल विश्वास है।"

श्रीमतीजी कुछ-कुछ रुआसे स्वर में बोलीं—"इसी विश्वास ने तो सब चौपट कर रक्खा है! ऐसे ही विश्वास पर सब बैठ जायँ, तो काम कैसे चले। सब विश्वास पर ही बैठे रहें, आदमी

काहे को किसी बात के लिये चेष्टा करे।"

बाबू साहब ने सोचा कि मूर्ख स्त्री के मुँह लगना ठीक नहीं। अतएव वह स्त्री की बात का कुछ उत्तर न देकर वहाँ से टल गए।

(२)

बाबू रामजीदास धनी आदमी हैं। कपड़े की आढ़त का काम करते हैं। लेन-देन भी है। इनके एक छोटा भाई है। उसका नाम है कृष्णदास। दोनों भाइयों का परिवार एक ही में है। बाबू रामजीदास की आयु ३५ वर्ष के लगभग है, और छोटे भाई कृष्ण-दास की २१ के लगभग। रामजीदास निस्सन्तान हैं। कृष्णदास के दो सन्तानें हैं। एक पुत्र—वही पुत्र, जिससे पाठक परिचित हो चुके हैं—और एक कन्या है। कन्या की आयु दो वर्ष के लगभग है।

रामजीदास अपने छोटे भाई और उनकी सन्तान पर बड़ा स्नेह रखते हैं—ऐसा स्नेह कि उसके प्रभाव से उन्हें अपनी सन्तान-हीनता कभी खटकती ही नहीं। छोटे भाई की सन्तान को वे अपनी ही सन्तान समझते हैं। दोनों बच्चे भी रामजीदास से इतने हिले हैं कि उन्हें अपने पिता से भी अधिक समझते हैं।

परन्तु रामजीदास की पत्नी रामेश्वरी को अपनी सन्तान-हीनता का बड़ा दुःख है। वह दिन-रात सन्तान ही के सोच में घुला करती हैं। छोटे भाई की सन्तान पर पति का प्रेम उनकी आँखों में काँटे की तरह खटकता है।

रात को भोजन इत्यादि से निवृत्त होकर रामजीदास शय्या

पर लेटे हुए शीतल और मन्द वायु का आनन्द ले रहे थे। पास ही दूसरी शय्या पर रामेश्वरी, हथेली पर सिर रक्खे, किसी चिन्ता में डूबी हुई थीं। दोनों बच्चे अभी बाबू साहब के पास से उठकर अपनी मा के पास गए थे।

बाबू साहब ने अपनी स्त्री की ओर करवट लेकर कहा—"आज तुमने मनोहर को इस बुरी तरह से ढकेला था कि मुझे अब तक उसका दुःख है। कभी-कभी तो तुम्हारा व्यवहार बिल्कुल ही अमानुषिक हो उठता है।"

रामेश्वरी बोलीं—"तुम्हीं ने मुझे ऐसा बना रक्खा है। उस दिन उस पंडित ने कहा था कि हम दोनों के जन्म-पत्र में संतान का जोग है, और उपाय करने से संतान हो भी सकती है। उसने उपाय भी बताए थे; पर तुमने उनमें से एक भी उपाय करके न देखा। बस, तुम तो इन्हीं दोनों में मगन हो। तुम्हारी इस बात से रात-दिन मेरा कलेजा सुलगता रहता है। आदमी उपाय तो करके देखता है। फिर होना न होना तो भगवान् के अधीन है।"

बाबू साहब हँसकर बोले—"तुम्हारी-जैसी सीधी स्त्री भी.... क्या कहूँ, तुम इन ज्योतिषियों की बातों पर विश्वास करती हो, जो दुनिया-भर के झूठे और धूर्त हैं! ये झूठ बोलने ही की रोटियाँ खाते हैं।"

रामेश्वरी तुनककर बोलीं—"तुम्हें तो सारा संसार झूठा ही दिखाई पड़ता है। ये पोथी-पुराण भी सब झूठे हैं? पंडित कुछ अपनी तरफ़ से तो बनाकर कहते ही नहीं हैं। शास्त्र में जो लिखा

है, वही वे भी कहते हैं। शास्त्र झूठा है, तो वे भी झूठे हैं। अँगरेज़ी क्या पढ़ी, अपने आगे किसी को गिनते ही नहीं। जो बातें बाप-दादे के ज़माने से चली आई हैं, उन्हें भी झूठा बताते हैं।"

बाबू साहब—"तुम बात तो समझती ही नहीं, अपनी ही ओटे जाती हो। मैं यह नहीं कहता कि ज्योतिष-शास्त्र झूठा है। संभव है, वह सच्चा हो। परन्तु ज्योतिषियों में अधिकांश झूठे होते हैं। उन्हें ज्योतिष का पूर्ण ज्ञान तो होता नहीं, दो-एक छोटी-मोटी पुस्तकें पढ़कर ज्योतिषी बन बैठते और लोगों को ठगते फिरते हैं। ऐसी दशा में उनकी बातों पर कैसे विश्वास किया जा सकता है?"

रामेश्वरी—"हूँ, सब झूठे ही हैं, तुम्ही एक बड़े सच्चे हो! अच्छा, एक बात पूछती हूँ। भला तुम्हारे जी में संतान की इच्छा क्या कभी नहीं होती?"

इस बार रामेश्वरी ने बाबू साहब के हृदय का कोमल स्थान पकड़ा। वह कुछ देर चुप रहे। तत्पश्चात् एक लम्बी साँस लेकर बोले—"भला ऐसा कौन मनुष्य होगा, जिसके हृदय में संतान का मुख देखने की इच्छा न हो। परन्तु किया क्या जाय? जब नहीं है, और न होने की कोई आशा ही है, तब उसके लिए व्यर्थ चिन्ता करने से क्या लाभ? इसके सिवा, जो बात अपनी संतान से होती, वही भाई की संतान से भी हो रही है। जितना स्नेह अपनी पर होता; उतना ही इनपर भी है। जो आनन्द उनकी बाल-क्रीड़ा से आता, वही इनकी क्रीड़ा से भी आ रहा है। फिर मैं नहीं समझता कि चिन्ता क्यों की जाय।"

रामेश्वरी कुढ़कर बोलीं—"तुम्हारी समझ को मैं क्या कहूँ? इसी से तो रात-दिन जला करती हूँ। भला यह तो बताओ कि तुम्हारे पीछे क्या इन्हीं से तुम्हारा नाम चलेगा?"

बाबू साहब हँसकर बोले—"अरे तुम भी कहाँ की पोच बातें लाईं। नाम संतान से नहीं चलता। नाम अपनी सुकृति से चलता है। तुलसीदास को देश का बच्चा-बच्चा जानता है। सूर-दास को मरे कितने दिन हो चुके? इसी प्रकार जितने महात्मा हो गए हैं, उन सबका नाम क्या उनकी संतान ही की बदौलत चल रहा है? सच पूछो, तो संतान से जितनी नाम चलने की आशा रहती है, उतनी ही नाम डूब जाने की भी संभावना रहती है। परन्तु सुकृति एक ऐसी वस्तु है, जिससे नाम बढ़ने के सिवा घटने की कभी आशंका रहती ही नहीं। हमारे शहर में राय गिरिधारी-लाल कितने नामी आदमी थे? उनके संतान कहाँ है? पर उनकी धर्मशाला और अनाथालय से उनका नाम अब तक चला जा रहा है, और अभी न-जाने कितने दिन तक चला जायगा।"

रामेश्वरी—"शास्त्र में लिखा है कि जिसके पुत्र नहीं होता, उसकी मुक्ति नहीं होती?"

बाबू—"मुक्ति पर मुझे विश्वास ही नहीं। मुक्ति है किस चिड़िया का नाम? यदि मुक्ति होना मान भी लिया जाय, तो यह कैसे माना जा सकता है कि सब पुत्रवानों की मुक्ति हो ही जाती है? मुक्ति का भी क्या सहज उपाय है? ये जितने पुत्रवाले हैं, सभी की तो मुक्ति हो जाती होगी?"

रामेश्वरी निरुत्तर होकर बोलीं—"अब तुमसे कौन बकवाद करे। तुम तो अपने सामने किसी को मानते ही नहीं।"

(३)

मनुष्य का हृदय बड़ा ममत्व-प्रेमी है। कैसी ही उपयोगी और कितनी ही सुन्दर वस्तु क्यों न हो, जब तक मनुष्य उसको पराई समझता है, तब तक उससे प्रेम नहीं करता। किन्तु भद्दी-से-भद्दी और बिल्कुल काम में न आनेवाली वस्तु को भी यदि मनुष्य अपनी समझता है, तो उससे प्रेम करता है। पराई वस्तु कितनी ही मूल्यवान् क्यों न हो, कितनी ही उपयोगी क्यों न हो, कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, उसके नष्ट होने पर मनुष्य कुछ भी दुःख का अनुभव नहीं करता; इसलिए कि वह वस्तु उसकी नहीं, पराई है। अपनी वस्तु कितनी ही भद्दी हो, काम में न आनेवाली हो, उसके नष्ट होने पर मनुष्य को दुःख होता है; इसलिए कि वह अपनी चीज़ है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मनुष्य पराई चीज़ से प्रेम करने लगता है। ऐसी दशा में भी जब तक मनुष्य उस वस्तु को अपनी बनाकर नहीं छोड़ता, अथवा अपने हृदय में यह विचार दृढ़ नहीं कर लेता कि यह वस्तु मेरी है, तब तक उसे सन्तोष नहीं होता। ममत्व से प्रेम उत्पन्न होता है, और प्रेम से ममत्व। इन दोनों का साथ चोली-दामन का-सा है। ये कभी पृथक् नहीं किये जा सकते।

यद्यपि रामेश्वरी को माता बनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ

था, तथापि उनका हृदय एक माता का हृदय बनने की पूरी योग्यता रखता था। उनके हृदय में वे गुण विद्यमान तथा अंतर्निहित थे, जो एक माता के हृदय में होते हैं, परन्तु उनका विकास नहीं हुआ था। उनका हृदय उस भूमि की तरह था, जिसमें बीज तो पड़ा हुआ है, पर उसको सींचकर और इस प्रकार बीज को प्रस्फुटित करके भूमि के ऊपर लानेवाला कोई नहीं। इसीलिए उनका हृदय उन बच्चों की ओर खिंचता तो था; परन्तु जब उन्हें ध्यान आता था कि ये बच्चे मेरे नहीं, दूसरे के हैं, तब उनके हृदय में उनके प्रति द्वेष उत्पन्न होता था, घृणा पैदा होती थी। विशेषकर उस समय उनके द्वेष की मात्रा और भी बढ़ जाती थी, जब वह यह देखती थीं कि उनके पति-देव उन बच्चों पर प्राण देते हैं, जो उनके (रामेश्वरी के) नहीं हैं।

शाम का समय था। रामेश्वरी खुली छत पर बैठी हवा खा रही थीं। पास ही उनकी देवरानी भी बैठी थीं। दोनों बच्चे छत पर दौड़-दौड़कर खेल रहे थे। रामेश्वरी उनके खेल को देख रही थीं। इस समय रामेश्वरी को उन बच्चों का खेलना-कूदना बड़ा भला मालूम हो रहा था। हवा में उड़ते हुए उनके बाल, कमल की तरह खिले हुए उनके नन्हें-नन्हें मुख, उनकी प्यारी-प्यारी तोतली बातें, उनका चिल्लाना, भागना, लोट जाना इत्यादि क्रीड़ाएँ उनके हृदय को शीतल कर रही थीं। सहसा मनोहर अपनी बहन को मारने दौड़ा। वह खिलखिलाती हुई दौड़कर रामेश्वरी की गोद में जा गिरी। उसके पीछे-पीछे मनोहर भी दौड़ता हुआ आया, और

वह भी उन्हीं की गोद में जा गिरा। रामेश्वरी उस समय सारा द्वेष भूल गईं। उन्होंने दोनों बच्चों को उसी प्रकार हृदय से लगा लिया, जिस प्रकार वह मनुष्य लगाता है, जो कि बच्चों के लिए तरस रहा हो। उन्होंने बड़ी सतृष्णता से दोनों को प्यार किया। उस समय यदि कोई अपरिचित मनुष्य उन्हें देखता, तो उसे यही विश्वास होता कि रामेश्वरी ही उन बच्चों की माता हैं।

दोनों बच्चे बड़ी देर तक उनकी गोद में खेलते रहे। सहसा उसी समय किसी के आने की आहट पाकर बच्चों की माता वहाँ से उठकर चली गई।

"मनोहर, ले रेलगाड़ी।"—कहते हुए बाबू रामजीदास छत पर आए। उनका स्वर सुनते ही दोनों बच्चे रामेश्वरी की गोद से तड़पकर निकल भागे। रामजीदास ने पहले दोनों को खूब प्यार किया, फिर बैठकर रेलगाड़ी दिखाने लगे।

इधर रामेश्वरी की नींद-सी टूटी। पति को बच्चों में मगन होते देखकर उनकी भौंहें तन गईं। बच्चों के प्रति हृदय में फिर वही घृणा और द्वेष का भाव जाग उठा।

बच्चों को रेलगाड़ी देकर बाबू साहब रामेश्वरी के पास आए, और मुसकिराकर बोले—आज तो तुम बच्चों को बड़ा प्यार कर रही थीं! इससे मालूम होता है कि तुम्हारे हृदय में भी इनके प्रति कुछ प्रेम अवश्य है।"

रामेश्वरी को पति की यह बात बहुत बुरी लगी। उन्हें अपनी कमजोरी पर बड़ा दुःख हुआ। केवल दुःख ही नहीं, अपने ऊपर

क्रोध भी आया। वह दुःख और क्रोध पति के उक्त वाक्य से और भी बढ़ गया। उनकी कमज़ोरी पति पर प्रकट हो गई, यह बात उनके लिए असह्य हो उठी।

रामजीदास बोले—"इसीलिये मैं कहता हूँ कि अपनी संतान के लिये सोच करना वृथा है। यदि तुम इनसे प्रेम करने लगो, तो तुम्हें ये ही अपनी संतान प्रतीत होने लगेंगे। मुझे इस बात से प्रसन्नता है कि तुम इनसे स्नेह करना सीख रही हो।"

यह बात बाबू साहब ने नितांत शुद्ध हृदय से कही थी; परन्तु रामेश्वरी को इसमें व्यंग्य की तीक्ष्ण गंध मालूम हुई। उन्होंने कुढ़-कर मन में कहा—इन्हें मौत भी नहीं आती। मर जायँ, पाप कटे! आठों पहर आँखों के सामने रहने से प्यार करने को जी ललचा ही उठता है। इनके मारे कलेजा और भी जला करता है।

बाबू साहब ने पत्नी को मौन देखकर कहा—"अब झेंपने से क्या लाभ? अपने प्रेम को छिपाने की चेष्टा करना व्यर्थ है। छिपाने की आवश्यकता भी नहीं।"

रामेश्वरी जल-भुनकर बोलीं—"मुझे क्या पड़ी है, जो मैं प्रेम करूँगी? तुम्हीं को मुबारिक रहे! निगोड़े आप ही आ-आके घुसते हैं। एक घर में रहने से कभी-कभी हँसना-बोलना ही पड़ता है। अभी परसों ज़रा यों ही ढकेल दिया, उसपर तुमने सैकड़ों बातें सुनाईं। संकट में प्राण हैं—न यों चैन, न वों चैन।"

बाबू साहब को पत्नी के वाक्य सुनकर बड़ा क्रोध आया। उन्होंने कर्कश स्वर में कहा—"न-जाने कैसे हृदय की स्त्री है।

अभी अच्छी खासी बैठी बच्चों को प्यार कर रही थी। मेरे आते ही गिरगिट की तरह रङ्ग बदलने लगी। अपनी इच्छा से चाहे जो करे, पर मेरे कहने से बल्लियों उछलती है। न-जाने मेरी बातों में कौन सा विष घुला रहता है। यदि मेरा कहना ही बुरा मालूम होता है, तो न कहा करूँगा; पर इतना याद रक्खो कि अब जो कभी इनके विषय में निगोड़े-सिगोड़े इत्यादि अपशब्द निकाले तो अच्छा न होगा! तुमसे मुझे ये बच्चे कहीं अधिक प्यारे हैं।"

रामेश्वरी ने इसका कोई उत्तर न दिया। अपने क्षोभ तथा क्रोध को वह आँखों द्वारा निकालने लगीं।

जैसे-ही-जैसे बाबू रामजीदास का स्नेह दोनों बच्चों पर बढ़ता जाता था, वैसे-ही-वैसे रामेश्वरी के द्वेष और घृणा की मात्रा भी बढ़ती जाती थी। प्रायः बच्चों के पीछे पति-पत्नी में कहा-सुनी हो जाती थी, और रामेश्वरी को पति के कटु वचन सुनने पड़ते थे। जब रामेश्वरी ने यह देखा कि बच्चों के कारण ही वह पति की नज़र से गिरती जा रही हैं, तब उनके हृदय में बड़ा तूफ़ान उठा। उन्होंने सोचा—पराए बच्चों के पीछे यह मुझसे प्रेम कम करते जाते हैं, मुझे हर समय बुरा-भला कहा करते हैं। इनके लिये ये बच्चे ही सब कुछ हैं, मैं कुछ भी नहीं! दुनिया मरती जाती है, पर इन दोनों को मौत नहीं। ये पैदा होते ही क्यों न मर गए। न ये होते, न मुझे ये दिन देखने पड़ते। जिस दिन ये मरेंगे, उस दिन घी के दिये जलाऊँगी। इन्होंने ही मेरा घर सत्यानास कर रक्खा है।

इसी प्रकार कुछ दिन व्यतीत हुए। एक दिन नियमानुसार

रामेश्वरी छत पर अकेली बैठी हुई थीं। उनके हृदय में अनेक प्रकार के विचार आ रहे थे। विचार और कुछ नहीं, वही अपनी निज की सन्तान का अभाव, पति का भाई की सन्तान के प्रति अनुराग इत्यादि। कुछ देर बाद जब उनके विचार स्वयं उन्हीं को कष्टदायक प्रतीत होने लगे, तब वह अपना ध्यान दूसरी ओर लगाने के लिये उठकर टहलने लगीं।

वह टहल ही रही थीं कि मनोहर दौड़ता हुआ आया। मनोहर को देखकर भृकुटी चढ़ गई, और वह छत की चहारदीवारी पर हाथ रखकर खड़ी हो गईं।

सन्ध्या का समय था। आकाश में रंग-बिरङ्गी पतंगें उड़ रही थीं। मनोहर कुछ देर तक खड़ा पतंगों को देखता और सोचता रहा कि कोई पतंग कटकर उसकी छत पर गिरे, तो क्या ही आनन्द आवे। देर तक पतंग गिरने की आशा करने के बाद वह दौड़कर रामेश्वरी के पास आया, और उनकी टाँगों में लिपटकर बोला—"ताई, हमें पतंग मँगा दो।" रामेश्वरी ने झिड़ककर कहा—"चल हट, अपने ताऊ से माँग जाकर।"

मनोहर कुछ अप्रतिभ होकर फिर आकाश की ओर ताकने लगा। थोड़ी देर बाद उससे फिर न रहा गया। इस बार उसने बड़े लाड़ में आकर अत्यन्त करुण-स्वर में कहा—"ताई पतंग मँगा दो; हम भी उड़ावेंगे।"

इस बार उसकी भोली प्रार्थना से रामेश्वरी का कलेजा कुछ पसीज गया। वह कुछ देर तक उसकी ओर स्थिर दृष्टि से देखती

रहीं। फिर उन्होंने एक लम्बी साँस लेकर मन-ही-मन कहा—यदि यह मेरा पुत्र होता, तो आज मुझसे बढ़कर भागवान् स्त्री संसार में दूसरी न होती। निगोड़-मारा कितना सुन्दर है, और कैसी प्यारी-प्यारी बातें करता है। यही जी चाहता है कि उठाकर छाती से लगा लें।

यह सोचकर वह उसके सिर पर हाथ फेरनेवाली ही थीं कि इतने में मनोहर उन्हें मौन देखकर बोला—"तुम हमें पतंग नहीं मँगवा दोगी, तो ताऊजी से कहकर तुम्हें पिटवावेंगे।"

यद्यपि बच्चे की इस भोली बात में भी बड़ी मधुरता थी, तथापि रामेश्वरी का मुख क्रोध के मारे लाल हो गया। वह उसे झिड़ककर बोलीं—"जा, कह दे अपने ताऊजी से। देखूँ, वह मेरा क्या कर लेंगे।"

मनोहर भयभीत होकर उनके पास से हट आया, और फिर सतृष्ण नेत्रों से आकाश में उड़ती हुई पतंगों को देखने लगा।

इधर रामेश्वरी ने सोचा—यह सब ताऊजी के दुलार का फल है, कि बालिस्त-भर का लड़का मुझे धमकाता है। ईश्वर करे इस दुलार पर बिजली टूटे।

उसी समय आकाश से एक पतंग कटकर उसी छत की ओर आई और रामेश्वरी के ऊपर से होती हुई छज्जे की ओर गई। छत के चारों ओर चहारदीवारी थी। जहाँ रामेश्वरी खड़ी हुई थीं, केवल वहीं पर एक द्वार था, जिससे छज्जे पर आ-जा सकते थे। रामेश्वरी उस द्वार में सटी हुई खड़ी थीं। मनोहर ने

पतंग को छज्जे पर जाते देखा। पतंग पकड़ने के लिये वह दौड़कर छज्जे की ओर चला। रामेश्वरी खड़ी देखती रहीं। मनोहर उनके पास से होकर छज्जे पर चला गया, और उनसे दो फ़ीट की दूरी पर खड़ा होकर पतंग को देखने लगा। पतंग छज्जे पर से होती हुई नीचे, घर के आँगन में, जा गिरी। एक पैर छज्जे की मुँडेर पर रख-कर मनोहर ने नीचे आँगन में झाँका, और पतंग को आँगन में गिरते देख प्रसन्नता के मारे फूला न समाया। वह नीचे जाने के लिये शीघ्रता से घूमा; परन्तु घूमते समय मुँडेर पर से उसका पैर फिसल गया। वह नीचे की ओर चला। नीचे जाते-जाते उसके दोनों हाथों में मुँडेर आ गई। वह उसे पकड़कर लटक गया और रामेश्वरी की ओर देखकर चिल्लाया—"ताई!" रामेश्वरी ने धड़कते हुए हृदय से इस घटना को देखा। उनके मन में आया कि अच्छा है, मरने दो, सदा का पाप कट जायगा। यही सोचकर वह एक क्षण के लिये रुकीं। उधर मनोहर के हाथ मुँडेर पर से फिसलने लगे। वह अत्यन्त भय तथा करुण नेत्रों से रामेश्वरी की ओर देखकर चिल्लाया—"अरी ताई!" रामेश्वरी की आँखें मनोहर की आँखों से जा मिलीं। मनोहर की यह करुण दृष्टि देखकर रामेश्वरी का कलेजा मुँह को आ गया। उन्होंने व्याकुल होकर मनोहर को पकड़ने के लिये अपना हाथ बढ़ाया। उनका हाथ मनोहर के हाथ तक पहुँचा ही था कि मनोहर के हाथ से मुँडेर छूट गई। वह नीचे आ गिरा। रामेश्वरी चीख मारकर छज्जे पर गिर पड़ीं।

रामेश्वरी एक सप्ताह तक बुखार में बेहोश पड़ी रहीं। कभी-कभी वह ज़ोर से चिल्ला उठतीं, और कहतीं—"देखो-देखो वह गिरा जा रहा है—उसे बचाओ—दौड़ो—मेरे मनोहर को बचा लो।" कभी वह कहतीं--"बेटा मनोहर, मैंने तुझे नहीं बचाया। हाँ, हाँ, मैं चाहती, तो बचा सकती थी—मैंने देर कर दी।" इस प्रकार के प्रलाप वह किया करतीं।

मनोहर की टाँग उखड़ गई थी। टाँग बिठा दी गई। वह क्रमशः फिर अपनी असली हालत पर आने लगा।

एक सप्ताह बाद रामेश्वरी का ज्वर कम हुआ। अच्छी तरह होश आने पर उन्होंने पूछा—"मनोहर कैसा है?"

रामजीदास ने उत्तर दिया—"अच्छा है।"

रामेश्वरी—"उसे मेरे पास लाओ।"

मनोहर रामेश्वरी के पास लाया गया। रामेश्वरी ने उसे प्यार से हृदय से लगाया। आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। हिचकियों से गला रुँध गया।

रामेश्वरी कुछ दिनों बाद पूर्ण स्वस्थ हो गईं। अब मनोहर की बहन चुन्नी से भी द्वेष और घृणा नहीं करतीं। और, महोहर तो अब उनका प्राणाधार हो गया है। उसके बिना उन्हें एक क्षण भी कल नहीं पड़ती।

—विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक

पुरस्कार

आर्द्रा नक्षत्र, आकाश में काले-काले बादलों की घुमड़, जिसमें देव-दुन्दुभी का गम्भीर घोष। प्राची के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण-पुरुष झाँकने लगा था—देखने लगा महाराज की सवारी। शैलमाला के अंचल में समतल उर्वरा भूमि से सोंधी बास उठ रही थी। नगर-तोरण से जय-घोष हुआ, भीड़ में गजराज का चामरधारी शुण्ड उन्नत दिखाई पड़ा। हर्ष और उत्साह का वह समुद्र हिलोरें भरता हुआ आगे बढ़ने लगा।

प्रभात की हेम-किरणों से अनुरंजित नन्हीं-नन्हीं बूँदों का एक झोंका स्वर्ण-मल्लिका के समान बरस पड़ा। मंगल-सूचना से जनता ने हर्ष-ध्वनि की।

रथों, हाथियों और अश्वारोहियों की पंक्ति जम गई। दर्शकों की भीड़ भी कम न थी। गजराज बैठ गया, सीढ़ियों से महाराज उतरे। सौभाग्यवती और कुमारी सुन्दरियों के दो दल, आम्रपल्लवों से सुशोभित मंगल-कलश और फूल, कुंकुम तथा खीलों से भरे थाल लिये, मधुर गान करते हुए आगे बढ़े।

महाराज के मुख पर मधुर मुस्क्यान थी। पुरोहित-वर्ग ने

स्वस्त्ययन किया। स्वर्ण-रंजित हल की मूठ पकड़कर महाराज ने जुते हुए सुन्दर पुष्ट बैलों को चलने का संकेत किया। बाजे बजने लगे। किशोरी कुमारियों ने खीलों और फूलों की वर्षा की।

कोशल का यह उत्सव प्रसिद्ध था। एक दिन के लिए महाराज को कृषक बनना पड़ा—उस दिन इन्द्र-पूजन की धूम-धाम होती, गोठ होती। नगर-निवासी उस पहाड़ी भूमि में आनन्द मनाते। प्रतिवर्ष कृषि का यह महोत्सव उत्साह से सम्पन्न होता; दूसरे राज्यों से भी युवक राजकुमार इस उत्सव में आकर बड़े चाव से योग देते।

मगध का एक राजकुमार अरुण अपने रथ पर बैठा बड़े कौतूहल से यह दृश्य देख रहा था।

बीजों का एक थाल लिये कुमारी मधूलिका महाराज के साथ थी। बीज बोते हुए महाराज जब हाथ बढ़ाते तब मधूलिका उनके सामने थाल कर देती। यह खेत मधूलिका का था, जो इस साल महाराज की खेती के लिए चुना गया था। इसलिए बीज देने का सम्मान मधूलिका ही को मिला। वह कुमारी थी। सुन्दरी थी। कौशेय-वसन उसके शरीर पर इधर-उधर लहराता हुआ स्वयं शोभित हो रहा था। वही कभी उसे सम्हालती और कभी अपने रूखे अलकों को। कृषक-बालिका के शुभ्र भाल पर श्रम-कणों की भी कमी न थी। वे सब बरौनियों में गुँथे जा रहे थे। सम्मान और लज्जा उसके अधरों पर मन्द मुस्कराहट के साथ सिहर उठते, किन्तु महाराज को बीज देने में उसने शिथिलता न दिखलाई। सब लोग

महाराज का हल चलाना देख रहे थे—विस्मय से, कौतूहल से। और अरुण देख रहा था कृषक-कुमारी मधूलिका को। आह! कितना भोला सौन्दर्य! कितनी सरल चितवन!

उत्सव का प्रधान कृत्य समाप्त हो गया। महाराज ने मधूलिका के खेत का पुरस्कार दिया, थाल में कुछ स्वर्ण-मुद्राएँ। वह राजकीय अनुग्रह था। मधूलिका ने थाली सिर से लगा ली, किन्तु साथ ही उसमें की स्वर्ण-मुद्राओं को महाराज पर न्योछावर करके बिखेर दिया। मधूलिका की उस समय की ऊर्जस्वित मूर्त्ति लोग आश्चर्य से देखने लगे। महाराज की भृकुटि भी ज़रा चढ़ी ही थी कि मधूलिका ने सविनय कहा—

"देव! यह मेरे पितृ-पितामहों की भूमि है। इसे बेचना अपराध है, इसलिए मूल्य स्वीकार करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है।"

महाराज के बोलने के पहले ही वृद्ध मन्त्री ने तीखे स्वर से कहा—"अबोध! क्या बक रही है? राजकीय अनुग्रह का तिरस्कार! तेरी भूमि से चौगुना मूल्य है; फिर कोशल का यह सुनिश्चित राष्ट्रीय नियम है। तू आज से राजकीय रक्षण पाने की अधिकारिणी हुई; इस धन से अपने को सुखी बना।"

"राजकीय रक्षण की अधिकारिणी तो सारी प्रजा है मंत्रिवर! ....महाराज को भूमि समर्पण करने में तो मेरा कोई विरोध न था और न है, किन्तु मूल्य स्वीकार करना असम्भव है।" मधूलिका उत्तेजित हो उठी थी।

महाराज के संकेत करने पर मंत्री ने कहा—"देव!

वाराणसी-युद्ध के अन्यतम वीर सिंहमित्र की यह एकमात्र कन्या है।" महाराज चौंक उठे—"सिंहमित्र की कन्या! जिसने मगध के सामने कोशल की लाज रख ली थी, उसी वीर की मधूलिका कन्या है?"

"हाँ, देव!" सविनय मंत्री ने कहा।

"इस उत्सव के परम्परागत नियम क्या हैं मंत्रिवर?" महाराज ने पूछा।

"देव, नियम तो बहुत साधारण हैं। किसी भी अच्छी भूमि को इस उत्सव के लिये चुनकर नियमानुसार पुरस्कार-स्वरूप उसका मूल्य दे दिया जाता है। वह भी अत्यन्त अनुग्रहपूर्वक, अर्थात् भूसम्पत्ति का चौगुना मूल्य उसे मिलता है। उस खेती को वही व्यक्ति वर्ष-भर देखता है। वह राजा का खेत कहा जाता है।"

महाराज को विचार-संघर्ष से विश्राम की अत्यन्त आवश्यकता थी। महाराज चुप रहे। जय-घोष के साथ सभा विसर्जित हुई। सब अपने-अपने शिविरों में चले गये। किन्तु मधूलिका को उत्सव में फिर किसी ने न देखा। वह अपने खेत की सीमा पर विशाल मधूक वृक्ष के चिकने हरे पत्तों की छाया में अनमनी चुपचाप बैठी रही।

× × × ×

रात्रि का उत्सव अब विश्राम ले रहा था। राजकुमार अरुण उसमें सम्मिलित नहीं हुआ—वह अपने विश्राम-भवन में जागरण कर रहा था। आँखों में नींद न थी। प्राची में जैसी गुलाली खिल

रही थी, वही रंग उसकी आँखों में था। सामने देखा, तो मुँडेर पर कपोती एक पैर पर खड़ी पंख फैलाये अँगड़ाई ले रही थी। अरुण उठ खड़ा हुआ। द्वार पर सुसज्जित अश्व था, वह देखते-देखते नगर-तोरण पर जा पहुँचा। रक्षकगण ऊँघ रहे थे। वे अश्व के पैरों के शब्द से चौंक उठे।

युवक कुमार तीर-सा निकल गया। सिन्धु देश का तुरंग प्रभात के पवन से पुलकित हो रहा था। घूमता-घूमता अरुण उसी मधूक वृक्ष के नीचे पहुँचा, जहाँ मधूलिका अपने हाथ पर सिर धरे हुए खिन्न निद्रा का सुख ले रही थी।

अरुण ने देखा, एक छिन्न माधवी-लता वृक्ष की शाखा से च्युत होकर पड़ी है। सुमन मुकुलित थे, भ्रमर निस्पन्द। अरुण ने अपने अश्व को मौन रहने का संकेत किया, उस सुषमा को देखने के लिये। परन्तु कोकिल बोल उठी। उसने अरुण से प्रश्न किया—"छिः, कुमारी के सोये हुए सौन्दर्य पर दृष्टिपात करनेवाले धृष्ट, तुम कौन?" मधूलिका की आँखें खुल पड़ीं। उसने देखा, एक अपरिचित युवक। वह संकोच से उठ बैठी। "भद्रे! तुम्हीं न कल के उत्सव की संचालिका रही हो?"

"उत्सव! हाँ उत्सव ही तो था।"

"कल उस सम्मान ...."

"क्यों-आपको कल का स्वप्न सता रहा है? भद्र! आप क्या मुझे इस अवस्था में सन्तुष्ट न रहने देंगे?"

"मेरा हृदय तुम्हारी उस छवि का भक्त बन गया है, देवि !"

"मेरे उस अभिनय का—मेरी बिडम्बना का। आह ! मनुष्य कितना निर्दय है ! अपरिचित, क्षमा करो ! जाओ अपने मार्ग।"

"सरलता की देवि ! मैं मगध का राजकुमार तुम्हारे अनुग्रह का प्रार्थी हूँ—मेरे हृदय की भावना अवगुण्ठन में रहना नहीं जानती। उसे अपनी·······"

"राजकुमार ! मैं कृषक-बालिका हूँ। आप नन्दन-विहारी और मैं पृथ्वी पर परिश्रम करके जीनेवाली। आज मेरी स्नेह की भूमि पर से मेरा अधिकार छीन लिया गया है। मैं दुःख से विकल हूँ। मेरा उपहास न करो !"

"मैं कोशल-नरेश से तुम्हारी भूमि तुम्हें दिलवा दूँगा।"

"नहीं, वह कोशल का राष्ट्रीय नियम है। मैं उसे बदलना नहीं चाहती—चाहे उससे मुझे कितना ही दुःख हो।"

"तब तुम्हारा रहस्य क्या ?"

"यह रहस्य मानव-हृदय का है, मेरा नहीं। राजकुमार, नियमों से यदि मानव-हृदय बाध्य होता, तो आज मगध के राजकुमार का हृदय किसी राजकुमारी की ओर न खिंचकर एक कृषक-बालिका का अपमान करने न आता।" मधूलिका उठ खड़ी हुई।

चोट खाकर राजकुमार लौट पड़ा। किशोर किरणों में उसका रत्न-किरीट चमक उठा। अश्व वेग से चला जा रहा था और मधूलिका निष्ठुर प्रहार करके क्या स्वयं आहत न हुई ? उसके

हृदय में टीस-सी होने लगी। वह सजल नेत्रों से उड़ती हुई धूल देखने लगी।

× × × ×

मधूलिका ने राजा का प्रतिदान-अनुग्रह नहीं लिया। वह दूसरे खेतों में काम करती और चौथे पहर रूखी-सूखी खाकर पड़ रहती। मधूक के वृक्ष के नीचे एक छोटी-सी पर्ण-कुटीर थी। सूखे डंठलों से उसकी दीवार बनी थी। मधूलिका का वही आश्रम था। कठोर परिश्रम से जो रूखा अन्न मिलता, वही उसकी साँसों को बढ़ाने के लिए पर्याप्त था। दुबली होने पर भी उसके अङ्ग पर तपस्या की कान्ति थी। आस-पास के कृषक उसका आदर करते। वह एक आदर्श बालिका थी। दिन, सप्ताह, महीने और वर्ष बीतने लगे।

शीतकाल की रजनी, मेघों से भरा आकाश, जिसमें बिजली की दौड़-धूप। मधूलिका का छाजन टपक रहा था, ओढ़ने की कमी थी। वह ठिठुरकर एक कोने में बैठी थी। मधूलिका अपने अभाव को आज बढ़ाकर सोच रही थी। जीवन से सामंजस्य बनाये रखनेवाले उपकरण तो अपनी सीमा निर्धारित रखते हैं, परन्तु उनकी आवश्यकता और कल्पना भावना के साथ बढ़ती-घटती-रहती है। आज बहुत दिनों पर उसे बीती हुई बात स्मरण हुई—"दो, नहीं-नहीं, तीन वर्ष हुए होंगे; इसी मधूक के नीचे, प्रभात में—तरुण राजकुमार ने क्या कहा था?"

वह अपने हृदय से पूछने लगी—उन चाटुकी के शब्दों के

सुनने के लिए उत्सुक-सी वह पूछने लगी—"क्या कहा था ?" दुःख-दग्ध हृदय उन स्वप्न-सी बातों को स्मरण रख सकता और स्मरण ही होता, तो भी कष्टों की इस काली निशा में वह कहने का साहस करता ? हाय री विडम्बना !

आज मधूलिका उस बीते हुए क्षण को लौटा लेने के लिये विकल थी। असहाय दारिद्र्य की ठोकरों ने उसे व्यथित और अधीर कर दिया है। मगध की प्रासाद-माला के वैभव का काल्पनिक चित्र—उन सूखे डंठलों के रन्ध्रों से नीचे नभ में—बिजली के आलोक में—नाचता हुआ दिखाई देने लगा। खिलवाड़ी शिशु जैसे श्रावण की सन्ध्या में जुगनू को पकड़ने के लिए हाथ लपकाता है, वैसे ही मधूलिका 'अभी वह, वह निकल गया', मन-ही-मन कह रही थी ! वर्षा ने भीषण रूप धारण किया। गड़गड़ाहट बढ़ने लगी। ओले पड़ने की सम्भावना थी। मधूलिका अपनी जर्जर झोंपड़ी के लिए काँप उठी। सहसा बाहर कुछ शब्द हुआ—"कौन है यहाँ ? पथिक को आश्रय चाहिए।"

मधूलिका ने डंठलों का कपाट खोल दिया। बिजली चमक उठी। उसने देखा, एक पुरुष घोड़े की डोर पकड़े खड़ा है। सहसा वह चिल्ला उठी—"राजकुमार !"

"मधूलिका ?" आश्चर्य से युवक ने कहा।

एक क्षण के लिए सन्नाटा छा गया। मधूलिका अपनी कल्पना को सहसा प्रत्यक्ष देखकर चकित हो गई, "इतने दिनों के

अरुण ने कहा—"कितना समझाया मैंने—परन्तु·······"

मधूलिका अपनी दयनीय अवस्था पर संकेत करने देना नहीं चाहती थी। उसने कहा—"और आज आपकी यह क्या दशा है?"

सिर झुकाकर अरुण ने कहा—"मैं मगध का विद्रोही निर्वासित कोशल में जीविका खोजने आया हूँ।"

मधूलिका उस अन्धकार में हँस पड़ी—"मगध के विद्रोही राजकुमार का स्वागत करे एक अनाथिनी कृषक-बालिका! यह भी एक विडम्बना है, तो भी मैं स्वागत के लिए प्रस्तुत हूँ।"

× × × ×

शीतकाल की निस्तब्ध रजनी, कुहरे से धुली हुई चाँदनी, हाड़ कँपा देनेवाला समीर, तो भी अरुण और मधूलिका दोनों पहाड़ी गह्वर के द्वार पर वट-वृक्ष के नीचे बैठे हुए बातें कर रहे हैं। मधूलिका की वाणी में उत्साह था, किन्तु अरुण जैसे अत्यन्त सावधान होकर बोलता हो।

मधूलिका ने पूछा—"जब तुम इतनी विपन्न अवस्था में हो, तो फिर इतने सैनिकों को साथ रखने की क्या आवश्यकता है?"

"मधूलिका! बाहुबल ही तो वीरों की आजीविका है। ये मेरे जीवन-मरण के साथी हैं। भला मैं इन्हें कैसे छोड़ देता? और करता ही क्या?"

"क्यों? हम लोग परिश्रम से कमाते और खाते हैं। अब तो तुम × × ×।"

"भूल न करो, मैं अपने बाहुबल पर भरोसा करता हूँ। नये राज्य की स्थापना कर सकता हूँ। निराश क्यों हो जाऊँ ?" अरुण के शब्दों में कल्पना थी; वह जैसे कुछ कहना चाहता था, पर कह न सकता था।

"नवीन राज्य ! ओहो, तुम्हारा उत्साह तो कम नहीं। भला कैसे ? कोई ढंग बताओ, तो मैं भी कल्पना का आनन्द ले लूँ।"

"कल्पना का आनन्द नहीं मधूलिका, मैं तुम्हें राजरानी के सम्मान में सिंहासन पर बिठाऊँगा ! तुम अपने छिने हुए खेत की चिन्ता करके भयभीत न हो।"

एक क्षण में सरला मधूलिका के मन में प्रमाद का अन्धड़ बहने लगा—द्वन्द्व मच गया। उसने सहसा कहा—"आह, मैं सचमुच आज तक तुम्हारी प्रतीक्षा करती थी, राजकुमार !"

अरुण ढिठाई से उसके हाथों को दबाकर बोला—"तो मेरा भ्रम था, तुम सचमुच मुझे प्यार करती हो ?"

युवती का वक्षःस्थल फूल उठा, वह हाँ भी नहीं कह सकी, ना भी नहीं। अरुण ने उसकी अवस्था का अनुभव कर लिया। कुशल मनुष्य के समान उसने अवसर को हाथ से न जाने दिया। तुरन्त बोल उठा—"तुम्हारी इच्छा हो, तो प्राणों से प्राण लगाकर मैं तुम्हें इसी कोशल के सिंहासन पर बिठा दूँ। मधूलिका, अरुण के खड्ग का आतंक देखोगी ?" मधूलिका एक बार काँप उठी। वह कहना चाहती थी, 'नहीं'; किन्तु उसके मुँह से निकला, "क्या ?"

"सत्य, मधूलिका, कोशल-नरेश तभी से तुम्हारे लिए चिन्तित हैं। यह मैं जानता हूँ, तुम्हारी साधारण-सी प्रार्थना वह अस्वीकार न करेंगे। और मुझे यह भी विदित है कि कोशल के सेनापति अधिकांश सैनिकों के साथ पहाड़ी दस्युओं का दमन करने के लिए बहुत दूर चले गये हैं।"

मधूलिका की आँखों के आगे बिजलियाँ हँसने लगीं। दारुण भावना से उसका मस्तक विकृत हो उठा। अरुण ने कहा—"तुम बोलती नहीं हो?"

"जो कहोगे वही करूँगी"—मंत्रमुग्ध-सी मधूलिका ने कहा।

× × × ×

स्वर्ण-मञ्च पर कोशल-नरेश अधलेटी अर्द्ध-निद्रित अवस्था में आँखें मुकुलित किये हैं। एक चामरधारिणी युवती पीछे खड़ी अपनी कलाई बड़ी कुशलता से घुमा रही है। चामर के शुभ्र आन्दोलन उस प्रकोष्ठ में धीरे-धीरे संचलित हो रहे हैं। ताम्बूल-वाहिनी प्रतिमा के समान दूर खड़ी है।

प्रतिहारी ने आकर कहा—"जय हो देव! एक स्त्री कुछ प्रार्थना करने आई है।"

आँख खोलते हुए महाराज ने कहा—"स्त्री! प्रार्थना करने आई है? आने दो।"

प्रतिहारी के साथ मधूलिका आई। उसने प्रणाम किया। महाराज ने स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखा और कहा—"तुम्हें कहीं देखा है।"

"तीन बरस हुए देव ! मेरी भूमि खेती के लिये ली गई थी।"

"ओह, तो तुमने इतने दिन कष्ट में बिताये ! आज उसका मूल्य माँगने आई हो, क्यों ? अच्छा, अच्छा, तुम्हें मिलेगा। प्रतिहारी !"

"नहीं महाराज, मुझे मूल्य नहीं चाहिये।"

"मूर्खे ! फिर क्या चाहिये ?"

"उतनी ही भूमि, दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की जङ्गली भूमि। वहीं मैं अपनी खेती करूँगी। मुझे एक सहायक मिल गया है। वह मनुष्यों से मेरी सहायता करेगा; भूमि को समतल भी तो बनाना होगा।"

महाराज ने कहा—"कृषक-बालिके ! वह बड़ी ऊबड़-खाबड़ भूमि है। तिसपर वह दुर्ग के समीप एक सैनिक महत्त्व रखती है।"

"तो फिर निराश लौट जाऊँ ?"

"सिंहमित्र की कन्या ! मैं क्या करूँ ? तुम्हारी यह प्रार्थना........!"

"देव ! जैसी आज्ञा हो।"

"जाओ, तुम श्रमजीवियों को उसमें लगाओ। मैं अमात्य को आज्ञापत्र देने का आदेश करता हूँ।"

"जय हो देव !" कहकर प्रणाम करती हुई मधूलिका राज-मन्दिर के बाहर आई।

× × × ×

दुर्ग के दक्षिण, भयावने नाले के तट पर, घना जङ्गल है।

आज वहाँ मनुष्यों के पद-संचार से शून्यता भंग हो रही थी। अरुण के छिपे हुए मनुष्य स्वतंत्रता से इधर-उधर घूमते थे। झाड़ियों को काटकर पथ बन रहा था। नगर दूर था; फिर उधर यों ही कोई नहीं आता था। फिर अब तो महाराज की आज्ञा से वहाँ मधूलिका का अच्छा खेत बन रहा था। किसको इसकी चिन्ता थी?

एक घने कुंज में अरुण और मधूलिका एक-दूसरे को हर्षित नेत्रों से देख रहे थे। सन्ध्या हो चली थी। उस निविड़ वन में उन नवागत मनुष्यों को देखकर पक्षीगण अपने नीड़ को लौटते हुए अधिक कोलाहल कर रहे थे।

प्रसन्नता से अरुण की आँखें चमक उठीं। सूर्य की अन्तिम किरणें झुरमुट से घुसकर मधूलिका के कपोलों से खेलने लगीं। अरुण ने कहा—"चार पहर और विश्वास करो और प्रभात में ही इस जीर्ण कलेवर कोशल-राष्ट्र की राजधानी श्रावस्ती में तुम्हारा अभिषेक होगा, और मगध से निर्वासित मैं एक स्वतंत्र राष्ट्र का अधिपति बनूँगा, मधूलिके!"

"भयानक! अरुण, तुम्हारा साहस देखकर मैं चकित हो रही हूँ। केवल सौ सैनिकों से तुम......"

"रात के तीसरे पहर मेरी विजय-यात्रा होगी, मधूलिके!"

"तो तुमको इस विजय पर विश्वास है?"

"अवश्य। तुम अपनी झोंपड़ी में यह रात बिताओ; प्रभात से तो राज-मन्दिर ही तुम्हारा लीला-निकेतन बनेगा।"

मधूलिका प्रसन्न थी; किन्तु अरुण के लिए उसकी कल्याण-कामना सशंक थी। वह कभी-कभी उद्विग्न-सी होकर बालकों के समान प्रश्न कर बैठती। अरुण उसका समाधान कर देता। सहसा कोई संकेत पाकर उसने कहा—"अच्छा, अन्धकार अधिक हो गया। अभी तुम्हें दूर जाना है और मुझे भी प्राणपण से इस अभियान के प्रारम्भिक कार्यों को अर्ध-रात्रि तक पूरा कर लेना चाहिये। इसलिए रात्रि-भर के लिये विदा!"

मधूलिका उठ खड़ी हुई। कँटीली झाड़ियों से उलझती हुई, क्रम से बढ़नेवाले अन्धकार में, वह अपनी झोंपड़ी की ओर चली।

× × × ×

पथ अन्धकार-मय था और मधूलिका का हृदय भी निविड़ तम से घिरा था। उसका मन सहसा विचलित हो उठा; मधुरता नष्ट हो गई। जितनी सुख-कल्पना थी, वह जैसे अन्धकार में विलीन होने लगी। वह भयभीत थी। पहला भय उसे अरुण के लिये उत्पन्न हुआ, यदि वह सफल न हुआ तो? फिर सहसा सोचने लगी, वह क्यों सफल हो? श्रावस्ती दुर्ग एक विदेशी के अधिकार में क्यों चला जाय? मगध कोशल का चिर-शत्रु! ओह, उसकी विजय! कोशल-नरेश ने क्या कहा था—"सिंहमित्र की कन्या।" सिंहमित्र कोशल का रक्षक वीर; उसी की कन्या आज क्या करने जा रही है? नहीं, नहीं। 'मधूलिका! मधूलिका!!' जैसे उसके पिता उस अन्धकार में पुकार रहे थे। वह पगली की तरह चिल्ला उठी। रास्ता भूल गई।

रात एक पहर बीत चली, पर मधूलिका अपनी झोंपड़ी तक न पहुँची। वह उधेड़-बुन में विक्षिप्त-सी चली जा रही थी। उसकी आँखों के सामने कभी सिंहमित्र और कभी अरुण की मूर्ति अन्धकार में चित्रित हो जाती। उसे सामने आलोक दिखाई पड़ा, वह बीच पथ में खड़ी हो गई। प्रायः एक सौ उल्काधारी अश्वारोही चले आ रहे थे और आगे-आगे एक वीर अधेड़ सैनिक था। उसके बायें हाथ में अश्व की वल्गा और दाहिने हाथ में नग्न खड्ग। अत्यन्त धीरता से वह टुकड़ी अपने पथ पर चल रही थी। परन्तु मधूलिका बीच पथ से हिली नहीं। प्रमुख सैनिक पास आ गया, पर मधूलिका अब भी नहीं हटी। सैनिक ने अश्व रोककर कहा—"कौन?" कोई उत्तर नहीं मिला। तब तक दूसरे अश्वारोही ने कड़ककर कहा—"तू कौन है स्त्री? कोशल के सेनापति को शीघ्र उत्तर दे।"

रमणी जैसे विकार-ग्रस्त स्वर में चिल्ला उठी—"बाँध लो मुझे, बाँध लो! मेरी हत्या करो। मैंने अपराध ही ऐसा किया है।"

सेनापति हँस पड़े। बोले—"पगली है।"

"पगली! नहीं, यदि वही होती, तो इतनी विचार-वेदना क्यों होती? सेनापति! मुझे बाँध लो। राजा के पास ले चलो।"

"क्या है? स्पष्ट कह।"

"श्रावस्ती का दुर्ग एक प्रहर में दस्युओं के हस्तगत हो जायगा। दक्षिणी नाले के पार उनका आक्रमण होगा।"

सेनापति चौंक उठे। उन्होंने आश्चर्य से पूछा—"तू क्या कह रही है?"

"मैं सत्य कह रही हूँ; शीघ्रता करो।"

सेनापति ने अस्सी सैनिकों को नाले की ओर धीरे-धीरे बढ़ने की आज्ञा दी और स्वयं बीस अश्वारोहियों के साथ दुर्ग की ओर बढ़े। मधूलिका एक अश्वारोही के साथ बाँध दी गई।

× × × ×

श्रावस्ती का दुर्ग, कोशल राष्ट्र का केन्द्र, इस रात्रि में अपने विगत वैभव का स्वप्न देख रहा था। भिन्न राजवंशों ने उसके प्रान्तों पर अधिकार जमा लिया है। अब वह कई गाँवों का अधिपति है। फिर भी उसके साथ कोशल के अतीत की स्वर्ण-गाथाएँ लिपटी हैं। वही लोगों की ईर्षा का कारण है। दुर्ग के प्रहरी चौंक उठे, जब थोड़े-से अश्वारोही बड़े वेग से आते हुए दुर्ग-द्वार पर रुके। जब उल्का के आलोक में उन्होंने सेनापति को पहचाना, तब द्वार खुला। सेनापति घोड़े की पीठ से उतरे। उन्होंने कहा—"अग्नि-सेन! दुर्ग में कितने सैनिक होंगे?"

"सेनापति की जय हो! दो सौ।"

"उन्हें शीघ्र एकत्र करो; परन्तु बिना किसी शब्द के। १०० को लेकर तुम शीघ्र ही चुपचाप दुर्ग के दक्षिण की ओर चलो। आलोक और शब्द न हो।"

सेनापति ने मधूलिका की ओर देखा। वह खोल दी गई। उसे अपने पीछे आने का संकेत कर सेनापति राज-मन्दिर की ओर

चढ़े। प्रतिहारी ने सेनापति को देखते ही महाराज को सावधान किया। वह अपनी सुख-निद्रा के लिए प्रस्तुत हो रहे थे। किन्तु सेनापति और साथ में मधूलिका को देखते ही चंचल हो उठे। सेनापति ने कहा—"जय हो देव! इस स्त्री के कारण मुझे इस समय उपस्थित होना पड़ा है।"

महाराज ने स्थिर नेत्रों से देखकर कहा—"सिंहमित्र की कन्या, फिर यहाँ क्यों? क्या तुम्हारा क्षेत्र नहीं बन रहा है? कोई बाधा? सेनापति! मैंने दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की भूमि इसे दी है। क्या उसी सम्बन्ध में तुम कहना चाहते हो?"

"देव! किसी गुप्त शत्रु ने उसी ओर से आज की रात में दुर्ग पर अधिकार कर लेने का प्रबन्ध किया है। और इसी स्त्री ने मुझे पथ में यह सन्देशा दिया है।"

राजा ने मधूलिका की ओर देखा। वह काँप उठी। घृणा और लज्जा से वह गड़ी जा रही थी। राजा ने पूछा—"मधूलिका, यह सत्य है?"

"हाँ, देव!"

राजा ने सेनापति से कहा—"सैनिकों को एकत्र करके तुम चलो, मैं अभी आता हूँ।" सेनापति के चले जाने पर राजा ने कहा—"सिंहमित्र की कन्या! तुमने एक बार फिर कोशल का उपकार किया। यह सूचना देकर तुमने पुरस्कार का काम किया है। अच्छा, तुम यहीं ठहरो। पहले उन आततायियों का प्रबन्ध करलूँ।"

× × × ×

अपने साहसिक अभिमान में अरुण बन्दी हुआ और दुर्ग उल्का के आलोक में अतिरंजित हो गया। भीड़ ने जय-घोष किया। सबके मन में उल्लास था। श्रावस्ती दुर्ग आज एक दस्यु के हाथ में जाने से बचा। आबाल-वृद्ध-नारी आनन्द से उन्मत्त हो उठे।

उषा के आलोक में सभा-मंडप दर्शकों से भर गया। बन्दी अरुण को देखते ही जनता ने रोष से हुंकार की—"वध करो!" राजा ने सबसे सहमत होकर कहा, "प्राणदण्ड।" मधूलिका बुलाई गई। वह पगली-सी आकर खड़ी हो गई। कोशल-नरेश ने पूछा—"मधूलिका, तुझे जो पुरस्कार लेना हो, माँग।" वह चुप रही।

राजा ने कहा—"मेरे निज की जितनी खेती है, मैं सब तुझे देता हूँ।" मधूलिका ने एक बार बन्दी अरुण की ओर देखा। उसने कहा—"मुझे कुछ न चाहिये।" अरुण हँस पड़ा! राजा ने कहा—"नहीं, मैं तुझे अवश्य दूँगा। माँग ले।"

"तो मुझे भी प्राणदण्ड मिले"—कहती हुई वह बन्दी अरुण के पास जा खड़ी हुई।

—जयशङ्कर 'प्रसाद'

सर्वदमन

(नेपथ्य में)—अरे देख, चपलता मत कर, क्या तू अपनी बान नहीं छोड़ेगा ?

दुष्यन्त—(कान लगाकर) हैं ! इस स्थान में चपलता का क्या काम ? यह ताड़ना किसको हो रही है । (जिधर बोल सुनाई दिया, उधर देखकर और आश्चर्य करके) अहा ! यह किसका पराक्रमी बालक है, जिसे दो तपस्विनी रोक रही हैं ।

दोहा—आधो पीयो मातु-थन जा शावक मृगराज ।
ताहि घसीटत केश गहि यह शिशु खेलन काज ॥

(एक बालक सिंघ के बच्चे को घसीटता हुआ लाता है, और दो तपस्विनी उसे रोकती हुई आती हैं)

बालक—अरे सिंघ ! तू अपना मुँह खोल, मैं तेरे दाँत गिनूँगा ।

पहली तपस्विनी—हे अन्याई ! तू इन पशुओं को क्यों सताता है ? हम तो इन्हें बाल-बच्चों के समान रखती हैं । हाय ! तेरा साहस बढ़ता ही जाता है । तेरा नाम ऋषियों ने "सर्वदमन" रक्खा है, सो ठीक ही है ।

दुष्यन्त—(आप-ही-आप) अहा ! क्या कारण है कि मेरा स्नेह इस बालक में ऐसा होता आता है, जैसा पुत्र में होता है। हो न हो, यह हेतु है कि मैं पुत्रहीन हूँ।

दूसरी तपस्विनी—जो तू बच्चे को छोड़ न देगा, तो यह सिंघनी तुझपर दौड़ेगी।

बालक—(मुसकाकर) ठीक है, सिंघनी का मुझे ऐसा ही डर है।

[मुँह चिढ़ाता है]

दुष्यन्त—

दोहा—दीखत बालक मोहि यह तेजस्वी बलबीर।
काठ काज जैसे अगिनि ठाड़ो है मतिधीर॥

पहली तपस्विनी—हे प्यारे बालक ! तू सिंघ के बच्चे को छोड़ दे, मैं तुझे और खिलौना दूँगी।

बालक—कहाँ है ? ला, दे दे।

[हाथ पसारता है]

दुष्यन्त—(लड़के के हाथ को देखकर) इस के तो लच्छन भी चक्रवर्तियों के-से हैं, क्योंकि—

दोहा—माँगि खिलौना लैन को जबहि पसार्‌यो हाथ।
जालगुँथी-सी आँगुरी सब दीखीं एक साथ॥
मनहुँ खिलायो कमल कछु प्रात अरुण ने आय।
नैक न पखुरिन बीच में अन्तर परत लखाय॥

दूसरी तपस्विनी—हे सुव्रता ! यह बातों से न मानेगा। जा, मेरी

कुटी में एक मिट्टी का मोर ऋषि-कुमार मारकंडेय के खेलने का रक्खा है, उसे ले आ।

पहली तपस्विनी—मैं अभी लिये आती हूँ।

[जाती है]

बालक—तब तक मैं इस सिंघ के बच्चे से खेलूँगा।

[यह कहकर तपस्विनो की ओर हँसता है]

दुष्यन्त—(आप-ही-आप) इसके खिलाने को मेरा जी कैसा ललचाता है।

घनाक्षरी

हाँसी बिन-हेत माहिं दीखति बतीसी कछू,
निकसी मनो है पाँति ओछी कलिकान की।
बोलन चहत बात टूटि-सी निकसि जात,
लागति अनूठी मीठी बानी तुतलान की॥
गोद तें न प्यारी और भावे मन कोई ठाँव,
दौरि-दौरि बैठें छोड़ि भूमि अँगनान की।
धन्य-धन्य वे हैं नर मैले जो करत गात,
कनिया लगाइ धूरि ऐसे सुवनान की॥

दूसरी तपस्विनी—यह मेरी बात तौ कान नहीं धरता (इधर-उधर -देखकर) कोई ऋषिकुमार यहाँ है ? (दुष्यन्त को देखकर) हे महात्मा, तुम्हीं आओ, कृपा करके इस बली बालक के हाथ से सिंघ के बच्चे को छुड़ाओ।

यह इसे खेल में ऐसा पकड़ रहा है कि छुड़ाना कठिन है ।

दुष्यन्त—अच्छा ।

[लड़के के पास जाकर और हँसकर]

चौपाई

आश्रम-बासिन की यह रीती । पशु-पालन में राखत प्रीती ॥
सो ऋषि-सुत दूषित तैं कीनी । उलटी वृत्ति यहाँ क्यों लीनी ॥
करत जन्म ही तें ये काजा । जो नहिं सोहत मुनिन-समाजा ॥
तैं यह कियो तपोबन ऐसो । कृष्ण-सर्प-शिशु चन्दन जैसो ॥

दूसरी तपस्विनी—हे बड़भागी ! यह ऋषिकुमार नहीं है ।

दुष्यन्त—सत्य है, यह तौ इसके आकार-सदृश काम ही कहे देते हैं, परन्तु मैंने तपोबन में इसका बास देख ऋषिपुत्र जाना था । (जैसी मन में लालसा है, लड़के का हाथ अपने हाथ में लेकर आप-ही-आप) अहा !

दोहा—ना जानूँ का वंश कौ अंकुर यहै कुमार ।
मो तन ऐतौ सुख भयो जाहि छुअत एक बार ॥
वा बड़-भागी के हिये किती न होय उमंग ।
उपज्यो जाके अंग तें ऐसो याको अंग ॥

तपस्विनी—(दोनों की ओर देखकर) बड़े अचंभे की बात है ।

दुष्यन्त—तुमको क्यों अचंभा हुआ ?

तपस्विनी—इसीलिये हुआ कि इस बालक की और तुम्हारी उनहार

बहुत मिलती है, और तुम्हें जाने बिना भी इसने तुम्हारा कहना मान लिया।

दुष्यन्त—(लड़के को खिलाता हुआ) हे तपस्विनी ! जो यह ऋषि-पुत्र नहीं, तो किसका वंश है ?

तपस्विनी—यह पुरुवंशी है।

दुष्यन्त—(आप-ही-आप) यह हमारे वंश में कैसे हुआ और इस भगवती ने मेरी उनहार का इसे क्यों कहा—हाँ, पुरु-वंशियों की यह रीति तो निश्चय है कि—

दोहा—छिति-पालन के कारने पहले लेत निवास।
जाय भवन ऐसेन में जहँ सब भोग-बिलास॥
पाछें बन में बसत हैं लै तरवर की छाँह।
इन्द्री जीतन को नियम धरि एकहि मन माँह॥

(प्रगट) परन्तु यह स्थान ऐसा नहीं है, जहाँ मनुष्य अपने बल से आ सके।

दूसरी तपस्विनी—तुम सच कहते हो, इसकी मा मेनका नाम अप्सरा की बेटी है, उसी के प्रताप से इसका जन्म देवपितर के इस तपोवन में हुआ है।

दुष्यन्त—(आप-ही-आप) यह दूसरी बात आशा उपजानेवाली हुई। (प्रगट) भला, इसकी मा किस राजर्षि की पत्नी है ?

दूसरी तपस्विनी—जिसने अपनी विवाहिता स्त्री को बिना अप-राध छोड़ दिया, उसका नाम कौन लेगा ?

दोनों तपस्विनी—मत उठाओ, मत उठाओ। हाय! इसने क्यों उठा लिया?

(दोनों अचंभे से छाती पर हाथ रखकर एक-दूसरी की ओर देखती हैं)

दुष्यन्त—तुमने मुझे इसके उठाने से किसलिये बरजा?

दूसरी तपस्विनी—सुनो महाराज! इस गंडे का नाम 'अपराजित' है; जिस समय इस बालक का जातकर्म हुआ, महात्मा मरीचि के पुत्र कश्यप ने यह दिया था। इसमें यह गुन है कि कदाचित् धरती पर गिर पड़े, तो इस बालक को और इसके मा-बाप को छोड़ और कोई न उठा सके।

दुष्यन्त—और कोई उठा ले तो?

पहली तपस्विनी—तो यह तुरंत साँप बनकर उसे डसता है।

दुष्यन्त—तुमने ऐसा होते कभी देखा है?

दोनों तपस्विनी—अनेक बार।

दुष्यन्त—(प्रसन्न होकर आप-ही-आप) अब मेरा मनोरथ पूरा हुआ, मैं क्यों आनंद न मनाऊँ।

[लड़के को गोद में लेता है]

दूसरी तपस्विनी—आओ सुव्रता, यह सुख का समाचार चलके शकुन्तला को सुनावें, वह बहुत दिन से वियोग के कठिन नेम कर रही है।

[दोनों जाती हैं]

बालक—मुझे छोड़ो, मैं अपनी मा के पास जाऊँगा।

दुष्यन्त—हे पुत्र! तू मेरे संग चलकर अपनी मा को सुख दीजो।

बालक—मेरा पिता तौ दुष्यन्त है, तुम नहीं हो।

दुष्यन्त—(मुसकाकर) यह विवाद भी मुझे प्रतीति कराता है।

(एक बेनी धारण किये शकुन्तला आती है)

शकुन्तला—(आप-ही-आप) मैं सुन तौ चुकी हूँ कि सर्वदमन के गंडे ने अवसर पाकर भी रूप न पलटा, परन्तु अपने भाग्य का मुझे कुछ भरोसा नहीं। हाँ, इतनी आशा है कि कदाचित् सानुमती का कहना सच्चा हो गया हो।

दुष्यन्त—(शकुन्तला को देखकर) अहा! यही प्यारी शकुन्तला है।

दोहा—नियम करत बीते दिवस दूबर अंग लखात।
सीस एक बेनी धरे बसन धूसरे गात॥
दीरघ बिरहाव्रत सती साधति सुख बिसराय।
मो निरदय के कारने अपने शील सुभाय॥

शकुन्तला—(पछतावे में रूप बिगड़े हुए राजा को देखकर) यह तौ मेरा पति-सा नहीं है; और जो नहीं है, तो कौन है, जिसने रक्षाबंधन पहने हुए मेरे बालक को अंग लगा-के दूषित किया।

बालक—(दौड़ता हुआ माता के पास जाकर) माता! यह पुरुष कौन है, जिसने पुत्र कहकर मुझे गोद में ले लिया।

दुष्यन्त—हे प्यारी, मैंने तेरे साथ निठुराई तौ बहुत की, परन्तु

परिणाम अच्छा हुआ, क्योंकि मैं देखता हूँ कि तैंने मुझे पहचान लिया ।

शकुन्तला—(आप-ही-आप) अरे मन ! तू धीरज धर, अब मुझे भरोसा हुआ कि विधाता ने ईर्षा छोड़ मुझपर दया की है । (प्रगट) यह तो निश्चय मेरा ही पति है ।

दुष्यन्त—हे प्यारी !

दोहा—सुधि आई सब भ्रम मिट्यो सफल भए मम काज ।
धन्य भाग सुमुखी लखूँ सनमुख ठाड़ी आज ॥
अंधकार मिटि ग्रहण कौ दूर होत जब सोग !
तुरत चंद्र सों रोहिनी करति आय संयोग ॥

शकुन्तला—महाराज की—

[इतना कहकर गद्‌गद् बानी हो आँसू गिराती है]

दुष्यन्त—

दोहा—यदपि शब्द 'जय' कंठ में आँसुन रोक्यो आय ।
पै न कछू शंका रही मैं लीनी जय पाय ॥
दरसन तौ मुख कौ भयो सुमुखी मोहि रसाल ।
बिना लखोटा हू लगे अधर-ओठ अति लाल ॥

बालक—हे मा ! यह पुरुष कौन है ?

शकुन्तला—बेटा ! अपने भाग्य से पूछ ।

दुष्यन्त—(शकुन्तला के पैरों में गिरता है)

दोहा—मन तें प्यारी दूर अब डारि बिलग अपमान ।
वा छिन मेरे हिय रह्यो प्रबल कछू अज्ञान ॥

तामस-बस गति होति यह बहुतन की सुखबार।
फेंकत जिमि अहि जानिके अंध दियो गलहार॥

शकुन्तला—उठो प्राणपति, उठो। उन दिनों मेरे पूर्व जन्म के पाप उदय हुए थे, जिन्होंने सुकर्मों का फल मेट मेरे दयावान पति को मुझसे निस्स्नेह कर दिया। (राजा उठता है) अब यह कहो कि मुझ दुखिया की सुध तुम्हें कैसे आई?

दुष्यन्त—जब संताप का काँटा मेरे कलेजे से निकल जायगा, तब सब कहूँगा।

दोहा—देखी अनदेखी करी मैं वा दिन भ्रम पाय।
तेरी आँसू-बूँद जो परी अधर पै आय॥
सो पछतायो आज मैं पदमिनि लेहुँ मिटाय।
या आँसू कों पोंछि जो रह्यो पलक तो छाय॥

[आँसू पोंछता है]

शकुन्तला—(राजा की अंगुली में अँगूठी देखकर) क्या यह वही मुदरी है?

दुष्यन्त—हाँ, इसी के मिलते मुझे तेरी सुध आई।

शकुन्तला—इसने बुरा किया कि जब मैं अपने स्वामी को प्रतीत कराती थी, यह दुर्लभ हो गई।

दुष्यन्त—हे प्यारी! अब तू इसे फिर पहन, जैसे ऋतु के आने पर लता फिर फूल धारन करती है।

शकुन्तला—मुझे इसका विश्वास नहीं रहा, तुम्हीं पहने रहो।

(मातलि आता है)

मातलि—महाराज ! धन्य है यह दिन कि आपने फिर धर्मपत्नी पाई और पुत्र का मुख देखा।

दुष्यन्त—हाँ, आज मेरा मनोरथ सफल हुआ। हे मातलि ! तुम यह तो कहो कि इस वृत्तांत को इन्द्र ने जान लिया था कि नहीं।

मातलि—(हँसकर) देवताओं से क्या छुपता है ? अब आओ, महात्मा कश्यप आपको दर्शन देंगे।

दुष्यन्त—प्यारी, तू पुत्र का हाथ थाम लं; मैं तुझे आगे लेकर महात्मा का दर्शन करना चाहता हूँ।

शकुन्तला—तुम्हारे संग बड़ों के सन्मुख जाते मुझे सकुच लगती है।

दुष्यन्त—ऐसे शुभ अवसर पर ऐसा ही करना उचित है, आओ।

[सब घूमते हैं]

(आसन पर बैठे कश्यप और अदिति दीखते हैं)

कश्यप—(राजा की ओर देखकर) हे दक्षसुता !

दोहा—है यह तेरे पुत्र कौ रन-अनगामी भूप।
नाम जासु दुष्यन्त है कीरति जासु अनूप॥
जाके धनुष-प्रताप तें लहिके अब विश्राम।
शोभा ही कों रहि गयो इन्द्रबज्र अभिराम॥

अदिति—बड़ाई तो इसके रूप ही से दीखती है।

मातलि—(दुष्यन्त से) हे राजा, ये देवताओं के माता-पिता आपकी ओर प्यार की दृष्टि से ऐसे देख रहे हैं, जैसे कोई अपने पुत्र को देखता है। आओ, इनके निकट चलो।

दुष्यन्त—हे मातलि ! क्या कश्यप और अदिति यही हैं ?

चौपाई

इनहिं दुहुन को ऋषि-मुनि धावें। द्वादस रवि के जनक बतावें॥
हैं मरीचिसुत दक्षसुता के। नाती अरु नातिन ब्रह्मा के॥
सुरनायक इनहीं ने जायो। जो तिरलोकी-नाथ कहायो॥
विधि ते परे पुरुष जो कोऊ। इनकी कोख अवतर्यो सोऊ॥

मातलि—हाँ, ये ही हैं।

दुष्यन्त—(प्रणाम कर) हे महात्माओ, तुम्हारे पुत्र का आज्ञाकारी दुष्यन्त प्रणाम करता है।

कश्यप—बेटा ! तू चिरंजीव होकर पृथ्वी-पालन करे।

अदिति—बेटा ! तू रन में अजित हो।

शकुन्तला—मैं भी आपके चरणों में बालक-समेत बंदना करती हूँ।

कश्यप—हे पुत्री !

दोहा—भरता तेरौ इन्द्र-सम सुत जयन्त उपमान।
और कहा बर देहुँ तुहि तू हो सची-समान॥

अदिति—हे पुत्री ! तू सदा पति की प्यारी हो, और यह बालक दीर्घायु होकर दोनों कुल का दीपक हो। आओ, बैठो।

[सब प्रजापति के सामने बैठते हैं]

दुष्यन्त—महात्मा ! यह मेरे वंश की प्रतिष्ठा है।

[बालक का हाथ पकड़ता है]

कश्यप—यह भी जान लो कि यह बालक चक्रवर्ती होगा।

दोहा—सुखगामी रथ पै चढ़्यो उतरि महोदधि-पार।
जीतेगो यह वीर नर तीन दीप अरु चार॥
किये पशू सब बस यहाँ 'सर्वदमन' भौ नाम।
प्रजा-भरण कर होयगो फेरि 'भरत' अभिराम॥

—राजा लक्ष्मणसिंह

भारत-दुर्दशा

(कमरा अँगरेज़ी सजा हुआ; मेज़, कुरसी लगी हुई।
कुरसी पर भारत-दुर्दैव बैठा है)

(रोग का प्रवेश)

रोग—(गाता हुआ) जगत सब मानत मेरी आन ।
मेरी ही टट्टी रचि खेलत नित सिकार भगवान ॥
मृत्यु कलंक मिटावत मैं ही मो सम और न आन ।
परम पिता हमहीं वैद्यन के अत्तारन के प्रान ॥
मेरा प्रभाव जगतविदित है। कुपथ्य का मित्र और पथ्य का शत्रु मैं ही हूँ। त्रैलोक्य में ऐसा कौन है, जिसपर मेरा प्रभुत्व नहीं। नजर, श्राप, भूत, प्रेत, टोना, टनंमन, देवी-देवता, सब मेरे ही नामांतर हैं। मेरी ही बदौलत ओझा, दरसनिए, सयाने, पंडित, सिद्ध लोगों को ठगते हैं। (आतंक से) भला मेरे प्रबल प्रताप को ऐसा कौन है जो निवारण करे। हह ! चुंगी की कमेटी सफ़ाई करके मेरा निवारण करना चाहती है; यह नहीं जानती कि जितनी सड़क चौड़ी होगी, उतने ही हम भी "जस जस सुरसा

वदन बढ़ावा, तासु दुगुन कपि रूप दिखावा"। (भारत-दुर्दैव को देखकर) महाराज! क्या आज्ञा है?

भारतदु०—आज्ञा क्या है, भारत को चारों ओर से घेर लो।

रोग—महाराज! भारत तो अब मेरे प्रवेश-मात्र से मर जायगा। घेरने का कौन काम है? धन्वन्तरि और काशिराज दिवोदास का अब समय नहीं है, और न सुश्रुत-वागभट्ट-चरक ही हैं। वैदगी अब केवल जीविका के हेतु बची है। काल के बल से ओषधों के गुणों और लोगों की प्रकृति में भी भेद पड़ गया। बस, अब हमें कौन जीतेगा, और फिर हम ऐसी सेना भेजेंगे जिनका भारतवासियों ने कभी नाम तो सुना ही न होगा; तब भला वे उसका प्रतिकार क्या करेंगे! हम भेजेंगे विस्फोटक, हैजा, डेंगू, अपाप्लेक्सी। भला इनको हिन्दू लोग क्या रोकेंगे? ये किधर से चढ़ाई करते हैं और कैसे लड़ते हैं, जानेंगे तो हई नहीं, फिर छुट्टी हुई। वरंच महाराज, इन्हीं से मारे जायँगे और इन्हीं को देवता करके पूजेंगे; यहाँ तक कि मेरे शत्रु डाक्टर और विद्वान् इसी विस्फोटक के नाश का उपाय टीका लगाना इत्यादि कहेंगे, तो भी ये सब उसको शीतला के डर से न मानेंगे और उपाय आछत अपने हाथ अपने प्यारे बच्चों की जान लेंगे।

भारतदु०—तो अच्छा तुम जाओ। महर्घ और टिकस भी यहाँ आते होंगे, सो उनको साथ लिये जाओ। अतिवृष्टि अनावृष्टि की सेना भी वहाँ जा चुकी है। अनैक्य और

अंधकार की सहायता से तुम्हें कोई भी रोक न सकेगा। यह लो, पान का बीड़ा लो। (बीड़ा देता है)

(रोग बीड़ा लेकर प्रणाम करके जाता है)

भारतदु०—बस, अब कुछ चिंता नहीं, चारों ओर से तो मेरी सेना ने उसको घेर लिया, अब कहाँ बच सकता है।

(आलस्य ※ का प्रवेश)

आलस्य—हहा ! एक पोस्ती ने कहा, पोस्ती ने पी पोस्त नौ दिन चले अढ़ाई कोस। दूसरे ने जवाब दिया, अबे वह पोस्ती न होगा, डाक का हरकारा होगा। पोस्ती ने जब पोस्त पी, तो या कूँडी के उस पार या इस पार ठीक है। एक बारी में हमारे दो चेले लेटे थे और उसी राह से एक सवार जाता था। पहिले ने पुकारा "भाई सवार सवार, यह पक्का आम टपक कर मेरी छाती पर पड़ा है, जरा मेरे मुँह में तो डाल दो।" सवार ने कहा—"अजी तुम बड़े आलसी हो। तुम्हारी छाती पर आम पड़ा है, सिर्फ़ हाथ से उठाकर मुँह में डालने में यह आलस है !" दूसरा बोला—"ठीक है साहब, यह बड़ा ही आलसी है। रात-भर कुत्ता मेरा मुँह चाटा किया, और यह पास ही पड़ा था, पर इसने न हाँका"। सच है, किस ज़िंदगी के वास्ते तकलीफ़ उठाना, मज़े में हालमस्त

※ मोटा आदमी जँभाई लेता हुआ धीरे-धीरे आवेगा।

पड़े रहना। सुख केवल हममें हैं—"आलसी पड़े कुएँ में वहीं चैन है।"

(गाता है)

[ग़ज़ल]

दुनियाँ में हाथ-पैर हिलाना नहीं अच्छा।
मर जाना पै उठके कहीं जाना नहीं अच्छा॥
बिस्तर पै मिस्ले लोथ पड़े रहना हमेशा।
बंदर की तरह धूम मचाना नहीं अच्छा॥
"रहने दो ज़मीं पर मुझे आराम यहीं है।"
छेड़ो न नक्शेपा हैं मिटाना नहीं अच्छा॥
उठ-करके घर से कौन चले यार के घर तक।
'मौत अच्छी है पर दिल का लगाना नहीं अच्छा॥'
धोती भी पहिने जब कि कोई ग़ैर पिन्हा दे।
उमरा को हाथ-पैर चलाना नहीं अच्छा॥
सिर भारी चीज़ है इसे तकलीफ़ हो तो हो।
पर जीभ बिचारी को सताना नहीं अच्छा॥
फ़ाक़ों से मरिए पर न कोई काम कीजिए।
दुनियाँ नहीं अच्छी है ज़माना नहीं अच्छा॥
सिजदे से गर बिहिश्त मिले दूर कीजिए।
दोज़ख ही सही सिर का झुकाना नहीं अच्छा॥
मिल जाय हिन्द ख़ाक में हम काहिलों को क्या।
ऐ मीरेफ़र्श रंज उठाना नहीं अच्छा॥

और क्या। काजीजी दुबले क्यों हैं, शहर के अंदेशे से। अरे 'कोउ नृप होउ हमैं का हानी, चेरि छाँड़ि नहीं होउब रानी।' आनंद से जन्म बिताना। 'अजगर करै न चाकरी, पंछी करे न काम। दास मलूका कह गए, सबके दाता राम॥' "जो पढ़तव्यं सो मरतव्यं, जो न पढ़तव्यं सो भी मरतव्यं, तब फिर दंतकटाकट किं कर्तव्यं ?" भई जात में ब्राह्मण, धर्म में बैरागी, रोज़गार में सूद और दिल्लगी में गप सबसे अच्छी। घर बैठे जन्म बिताना, न कहीं जाना और न कहीं आना। बस खाना, हगना, मूतना, सोना, बात बनाना, तान मारना और मस्त रहना। अमीर के सिर पर और क्या सुरख़ाब का पर होता है, जो कोई काम न करे वही अमीर। 'तवंगरी बदिलस्त न बमाल।' दोई तो मस्त हैं—या मालमस्त या हालमस्त। (भारतदुर्दैव को देखकर उसके पास जाकर प्रणाम करके) महाराज! मैं सुख से सोया था कि आपकी आज्ञा पहुँची, ज्यों-त्यों कर यहाँ हाज़िर हुआ। अब हुक्म ?

भारतदु०—तुम्हारे और साथी सब हिन्दुस्तान की ओर भेजे गए हैं, तुम भी वहीं जाओ और अपनी जोगनिद्रा से सबको अपने वश में करो।

आलस्य—बहुत अच्छा। (आप-ही-आप) आह रे बप्पा! अब हिन्दुस्तान में जाना पड़ा। तब चलो धीरे-धीरे चलें। हुक्म न मानेंगे, तो लोग कहेंगे "सरबस खाइ भोग करि नाना, समरभूमि भा दुरलभ प्राना"। अरे करने

को दैव आप ही करेगा, हमारा कौन काम है; पर चलें।

(यही सब बुड़बुड़ाता हुआ जाता है)

(मदिरा * आती है)

मदिरा—भगवान् साम की मैं कन्या हूं। प्रथम वेदों ने मधु नाम से मुझे आदर दिया। फिर देवताओं की प्रिया होने से मैं सुरा कहलाई, और मेरे प्रचार के हेतु सौत्रामणी यज्ञ की सृष्टि हुई। स्मृति और पुराणों में भी प्रवृत्ति मेरी नित्य कही गई। तंत्र तो केवल मेरे ही हेतु बने। संसार में चार मत बहुत प्रबल हैं—हिन्दू, बौद्ध, मुसलमान और क्रिस्तान। इन चारों में मेरी चार पवित्र प्रतिमूर्ति विराजमान हैं। सोमपान, बीराचमन, शराबुन्तहूरा और बापटैजिंग वाइन। भला कोई कहे तो इनको अशुद्ध? या जो पशु हैं, उन्होंने अशुद्ध कहा ही तो क्या; हमारे चाहनेवालों के आगे वे लोग बहुत होंगे, तो फ़ी सैकड़े दस होंगे, जगत् में तो हम व्याप्त हैं। हमारे चेले लोग सदा यही कहा करते हैं। और फिर सरकार के राज्य के तो हम एकमात्र भूषण हैं।

दूध सुरा दधिहू सुरा, सुरा अन्न धन धाम।
वेद सुरा ईश्वर सुरा, सुरा स्वर्ग को नाम॥

---

* साँवली-सी स्त्री, लाल कपड़ा, सोने का गहना, पैर में घुँघरू।

जाति सुरा विद्या सुरा, बिनु मद रहै न कोय ।
सुघरी आज़ादी सुरा, जगत सुरामय होय ॥
ब्राह्मण क्षत्री वैश्य अरु, सैयद सेख पठान ।
दै बताइ मोहि कौन जो, करत न मदिरा-पान ॥
पियत भट्ट के ठट्ट अरु, गुजरातिन के वृंद ।
गौतम पियत अनंद सों, पियत अग्र के नंद ॥
होटल में मदिरा पियें, चोट लगे नहिं लाज ।
लोट लए ठाढ़े रहत, टोटल दैवे काज ॥
कोऊ कहत मद नहिं पियैं, तो कछु लिख्यो न जाय ।
कोऊ कहत हम मद्य-बल, करत वकीली आय ॥
मद्यहि के परभाव सों, रचत अनेकन ग्रंथ ।
मद्यहि के परकास सों, लखत धरम को पंथ ॥
मद पी विधि जग कों करत, पालत हरि करि पान ।
मद्यहि पीकै नाश सब, करत शंभु भगवान् ॥
विष्णु बारुणी पोर्ट, पुरु-षोत्तम मद्य मुरारि ।
शांपिन शिव गौड़ी गिरिश, ब्रांडी ब्रह्म बिचारि ॥
मेरी तो धन बुद्धि बल, कुल लज्जा पति गेह ।
माय बाप सुत धर्म्म सब, मदिरा ही नं सँदेह ॥
सोक-हरन आनँद-करन, उमगावन सब गात ।
हरि मैं तप बिनु लय करनि, केवल मद्य लखात ॥
सरकारहि मंजूर जो, मेरो होत उपाय ।
तो सबसों बढ़ि मद्य पै, देती कर बैठाय ॥

हमहीं को या राज की, परम निसानी जान ।
कीर्ति-खंभ-सी जग गड़ी, जब लों थिर ससि भान ॥
राजमहल के चिह्न नहिं, मिलिहैं जग इत कोय ।
तबहू बोतल टूक बहु, मिलिहैं कीरति होय ॥

हमारी प्रवृत्ति के हेतु कुछ यत्न करने की आवश्यकता नहीं। मनु पुकारते हैं, 'प्रवृत्तिरेषा भूतानां' और भागवत में कहा है— 'लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्ति जंतोः।' उसपर भी वर्तमान समय की सभ्यता की तो मैं मुख्य मूलसूत्र हूँ। पंच विषयेन्द्रियों के सुखानुभव मेरे कारण द्विगुणित हो जाते हैं। संगीत-साहित्य की तो एकमात्र जननी हूँ। फिर ऐसा कौन है, जो मुझसे विमुख हो ?

(गाती है)

(राग काफी, धनाश्री का मेल, ताल धमार)

मदवा पीले पागल जोवन बीत्यो जात ।
बिनु मद जगत सार कछु नाहीं मान हमारी बात ॥
पी प्याला छक छक आनँद से नितहि साँझ औ प्रात ।
झूमत चल डगमगी चाल से मारि लाज को लात ॥
हाथी मच्छड़, सूरज जुगनू जाके पिये लखात ।
ऐसी सिद्धि छोड़ि मन मूरख काहे ठोकर खात ॥

(राजा को देखकर) महाराज ! कहिए क्या हुक्म है ?

भारतदु०—हमने बहुतसे अपने वीर हिन्दुस्तान में भेजे हैं,

परन्तु मुझको तुमसे जितनी आशा है, उतनी और किसी से नहीं है। ज़रा तुम भी हिन्दुस्तान की तरफ़ जाओ और हिन्दुओं से समझो तो।

मदिरा—हिन्दुओं के तो मैं मुद्दत से मुँह लगी हूँ। अब आपकी आज्ञा से और भी अपना जाल फैलाऊँगी और छोटे-बड़े सबके गले का हार बन जाऊँगी।

[जाती है]

(रंगशाला के दीपों में से अनेक बुझा दिये जायँगे)

(अंधकार का प्रवेश)

[आँधी आने की भाँति शब्द सुनाई पड़ता है]

अंधकार—(गाता हुआ स्खलित नृत्य करता है)

राग काफी

जै जै कलियुग राज की, जै महामोह महाराज की।
अटल छत्र सिर फिरत थाप जग मानत जाके काज की॥
कलह अविद्या मोह मूढ़ता सबै नास के साज की॥

हमारा सृष्टि-संहार-कारक भगवान् तमोगुणजी से जन्म है। चोर, उल्लूक और लंपटों के हम एकमात्र जीवन हैं। पर्वतों की गुहा, शोकितों के नेत्र, मूर्खों के मस्तिष्क और खलों के चित्त में हमारा निवास है। हृदय के और प्रत्यक्ष, चारों नेत्र हमारे प्रताप से बेकाम हो जाते हैं। हमारे दो स्वरूप हैं—एक आध्यात्मिक और एक आधिभौतिक, जो लोक में अज्ञान और अँधेरे के नाम से प्रसिद्ध

हैं। सुनते हैं कि भारतवर्ष में भेजने को मुझे मेरे परम पूज्य मित्र दुर्दैव महाराज ने आज बुलाया है। चलें, देखें क्या कहते हैं। (आगे बढ़कर) महाराज की जय हो; कहिए, क्या अनुमति है?

भारतदु०—आओ मित्र! तुम्हारे बिना तो सब सूना था। यद्यपि मैंने अपने बहुतसे लोग भारतविजय को भेजे हैं, पर तुम्हारे बिना सब निर्बल हैं। मुझको तुम्हारा बड़ा भरोसा है, अब तुमको भी वहाँ जाना होगा।

अंधकार—आपके काम के वास्ते भारत क्या वस्तु है, कहिए मैं विलायत जाऊँ।

भारतदु०—नहीं, विलायत जाने का अभी समय नहीं, अभी वहाँ त्रेता, द्वापर है।

अंधकार—नहीं, मैंने एक बात कही। भला जब तक वहाँ दुष्टा विद्या का प्राबल्य है, मैं वहाँ जाही के क्या करूंगा! गैस और मैगनीशिया से मेरी प्रतिष्ठा भंग न हो जायगी।

भारतदु०—हाँ, तो तुम हिन्दुस्तान में जाओ, और जिसमें हमारा हित हो सो करो। बस "बहुत बुझाइ तुमहिं का कहऊँ, परम चतुर मैं जानत अहऊँ।"

अंधकार—बहुत अच्छा, मैं चला। बस, जाते ही देखिए क्या करता हूँ।

(नेपथ्य में बैतालिक-गान और गीत की समाप्ति में
क्रम से पूर्ण अंधकार और पटाक्षेप)

निहचै भारत को अब नास।
जब महाराज विमुख उनसों तुम निज मति करी प्रकास ॥
अब कहुँ सरन तिन्हैं नहिं मिलिहै ह्वैहै सब बल चूर।
बुधि विद्या धन धान सबै अब तिनको मिलिहैं धूर ॥
अब नहिं राम धर्म्म अर्जुन नहिं शाक्यसिंह अरु व्यास।
करिहै कौन पराक्रम इनमें को दैहै अब आस ॥
जग के देस बढ़त बदि-बदिके सब बाजी जेहि काल।
ताहू समय रात इनको है ऐसे ये बेहाल ॥
छोटे चित अति भीरु बुद्धि मन चंचल बिगत उछाह।
उदर-भरन-रत, ईस-बिमुख सब भए प्रजा नरनाह ॥
इनसों कछू आस नहिं ये तो सब बिधि बुधि-बल-हीन।
बिना एकता बुद्धि कला के भए सबहि बिधि दीन ॥
बोझ लादिकै पैर छानिकै निज-सुख करहु प्रहार।
ये रासभ-से कछु नहिं कहिहैं मानहु छमा-अग़ार ॥
"हित अनहित पशु पंछी जाना" पै ये जानहिं नाहिं।
भूले रहत आपुने रँग में फँसे मूढ़ता माहिं ॥
जे न सुनहिं हित, भलो करहिं नहिं तिनसों आसा कौन।
डंका दै निज सैन साजि अब करहु उतै सब गौन ॥

(जवनिका गिरती है)

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

अंधेर-नगरी

स्थान—राजसभा

(राजा, मंत्री और नौकर लोग यथास्थान स्थित हैं)

एक सेवक—(चिल्लाकर) पान खाइए, महाराज।

राजा—(पीनक से चौंकके घबड़ाकर उठता है) क्या कहा ? सुपनखा आई ए महाराज। (भागता है)

मंत्री—(राजा का हाथ पकड़कर) नहीं नहीं, यह कहता है कि पान खाइए, महाराज।

राजा—दुष्ट, लुच्चा, पाजी। नाहक हमको डरा दिया। मंत्री इसको सौ कोड़े लगें।

मंत्री—महाराज ! इसका क्या दोष है ? न तमोली पान लगाकर देता, न यह पुकारता।

राजा—अच्छा, तमोली को दो सौ कोड़े लगें।

मंत्री—पर महाराज, आप पान खाइए सुनकर थोड़े ही डरे हैं, आप तो सुपनखा के नाम से डरे हैं; सुपनखा की सजा हो।

राजा—(घबड़ाकर) फिर वही नाम ? मंत्री तुम बड़े खराब आदमी हो। हम रानी से कह देंगे कि मंत्री बेर-बेर तुमको सौत बुलाने चाहता है। नौकर ! नौकर ! शराब—

दूसरा नौकर—(एक सुराही में से एक गिलास में शराब उझल देता है) लीजिए महाराज। पीजिए महाराज।

राजा—(मुँह बना-बनाकर पीता है) और दे।

नेपथ्य में—दुहाई है, दुहाई का शब्द होता है)

कौन चिल्लाता है—पकड़ लाओ।

(दो नौकर एक फ़र्यादी को पकड़ लाते हैं)

फ़०—दोहाई है महाराज दोहाई है। हमारा न्याव होय।

राजा—चुप रहो। तुम्हारा न्याव यहाँ ऐसा होगा कि जैसा जम के यहाँ भी न होगा—बोलो क्या हुआ ?

फ़०—महाराज ! कल्लू बनियाँ की दीवार गिर पड़ी, सो मेरी बकरी उसके नीचे दब गई। दोहाई है महाराज, न्याव हो।

राजा—(नौकर से) कल्लू बनिये की दीवार को अभी पकड़ लाओ।

मंत्री—महाराज, दीवार नहीं लाई जा सकती।

राजा—अच्छा, उसका भाई, लड़का, दोस्त, आशना, जो हो उसको पकड़ लाओ।

मंत्री—महाराज ! दीवार ईंट-चूने की होती है, उसको भाई-बेटा नहीं होता।

राजा—अच्छा, कल्लू बनिये को पकड़ लाओ। (नौकर लोग दौड़कर बाहर से बनिये को पकड़ लाते हैं) क्यों बे बनिये ! इसकी लरकी, नहीं बरकी क्यों दबकर मर गई ?

मंत्री—बरकी नहीं महाराज, बकरी।

राजा—हाँ हाँ, बकरी क्यों मर गई—बोल, नहीं अभी फाँसी देता हूँ।

कल्लू—महाराज ! मेरा कुछ दोष नहीं। कारीगर ने ऐसी दीवार बनाई कि गिर पड़ी।

राजा—अच्छा, इस मल्लू को छोड़ दो, कारीगर को पकड़ लाओ। (कल्लू जाता है, लोग कारीगर को पकड़कर लाते हैं) क्यों बे कारीगर ! इसकी बकरी किस तरह मर गई ?

कारीगर—महाराज ! मेरा कुछ कसूर नहीं, चूनेवाले ने ऐसा बोदा बनाया कि दीवार गिर पड़ी।

राजा—अच्छा, इस कारीगर को बुलाओ, नहीं नहीं निकालो, उस चूनेवाले को बुलाओ। (कारीगर निकाला जाता है, चूनेवाला पकड़कर लाया जाता है) क्यों बे खैर-सुपाड़ी-चूनेवाले ! इसकी कुबरी कैसे मर गई ?

चूनेवाला—महाराज ! मेरा कुछ दोष नहीं; भिश्ती ने चूने में पानी ढेर दे दिया, इसी से चूना कमज़ोर हो गया होगा।

राजा—अच्छा, चुन्नीलाल को निकालो, भिश्ती को पकड़ो। (चूनेवाला निकाला जाता है, भिश्ती लाया जाता है) क्यों बे भिश्ती ! गंगा-जमुना की किश्ती ! इतना पानी क्यों दिया कि इसकी बकरी गिर पड़ी और दीवार दब गई ?

भिश्ती—महाराज ! गुलाम का कोई कसूर नहीं, कस्साई ने मसक इतनी बड़ी बना दी कि उसमें पानी जादे आ गया।

राजा—अच्छा, कस्साई को लाओ, भिश्ती निकालो। (लोग भिश्ती को निकालते हैं, कस्साई को लाते हैं) क्यों बे कस्साई, मशक ऐसी क्यों बनाई की दीवार लगाई बकरी दबाई?

कस्साई—महाराज! गँड़ेरिया ने टके पर ऐसी बड़ी भेड़ मेरे हाथ बेची कि उसकी मशक बड़ी बन गई।

राजा—अच्छा, कस्साई को निकालो, गँड़ेरिये को लाओ। (कस्साई निकाला जाता है गँड़ेरिया आता है) क्यों बे ऊख पौंड़े के गँड़ेरिया, ऐसी बड़ी भेड़ क्यों बेची कि बकरी मर गई?

गँड़ेरिया—महाराज! उधर से कोतवाल साहब की सवारी आई सो उसके देखने में मैंने छोटी-बड़ी भेड़ का ख़याल नहीं किया; मेरा कुछ कसूर नहीं।

राजा—अच्छा, इसको निकालो, कोतवाल को अभी सरब-मुहर पकड़ लाओ। (गँड़ेरिया निकाला जाता है, कोतवाल पकड़ा आता है) क्यों बे कोतवाल! तैंने सवारी ऐसी धूम से क्यों निकाली कि गँड़ेरिये ने घबड़ाकर बड़ी भेड़ बेची, जिससे बकरी गिरकर कल्लू बनियाँ दब गया?

कोतवाल—महाराज महाराज! मैंने तो कोई कसूर नहीं किया, मैं तो शहर के इंतज़ाम के वास्ते जाता था।

मंत्री—(आप-ही-आप) यह तो बड़ा ग़ज़ब हुआ, ऐसा न हो कि यह बेवकूफ़ इस बात पर सारे नगर को फूँक दे या

फाँसी दे। (कोतवाल से) यह नहीं, तुमने इतने धूम से सवारी क्यों निकाली ?

राजा—हाँ हाँ, यह नहीं, तुमने ऐसे धूम से सवारी क्यों निकाली कि उसकी बकरी दबी ?

कोतवाल—महाराज महाराज—

राजा—कुछ नहीं, महाराज महाराज ले जाओ, कोतवाल को अभी फाँसी दो। दरबार बरख़ास्त।

(लोग एक तरफ़ से कोतवाल को पकड़कर ले जाते हैं, दूसरी ओर से मंत्री को पकड़कर राजा जाते हैं)

(जवनिका गिरती है)

स्थान—अरण्य

(गोवरधनदास गाते हुए आते हैं)

(राग काफी)

अंधेर नगरी अनबूझ राजा। टका सेर भाजी टका सेर खाजा ॥
नीच-ऊँच सब एकहि ऐसे। जैसे भडुए पंडित तैसे ॥
कुल-मरजाद न मान बड़ाई। सबै एक-से लोग-लुगाई ॥
जात-पाँत पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि को होई ॥
बेश्या जोरू एक समाना। बकरी गऊ एक करि जाना ॥
साँचे मारे मारे डोलैं। छली दुष्ट सिर चढ़ि चढ़ि बोलैं ॥
प्रगट सभ्य अंतर छलधारी। सोई राजसभा बल भारी ॥

साँच कहैं ते पनही खावैं। झूठे बहु विधि पदवी पावैं॥
छलियन के एका के आगे। लाख कहौ एकहु नहिं लागे॥
भीतर होइ मलिन की कारो। चहिए बाहर रँग चटकारो॥
धर्म अधर्म एक दरसाई। राजा करे सो न्याव सदाई॥
भीतर स्वाहा बाहर सादे। राज करहिं अमले अरु प्यादे॥
अंधाधुंध मच्यौ सब देसा। मानहुँ राजा रहत बिदेसा॥
गो द्विज श्रुति आदर नहिं होई। मानहुँ नृपति बिधर्मी कोई॥
ऊँच नीच सब एकहि सारा। मानहुँ ब्रह्म-ज्ञान बिस्तारा॥
अंधेर नगरी अनबूझ राजा। टका सेर भाजी टका सेर खाजा॥

(बैठकर मिठाई खाता है)

—गुरुजी ने हमको नाहक यहाँ रहने को मना किया था। माना कि देस बहुत बुरा है, पर अपना क्या ? अपने किसी राजकाज में थोड़े हैं कि कुछ डर है; रोज मिठाई चाभना, मज़े में आनंद से रामभजन करना।

(मिठाई खाता है, चार प्यादे चार ओर से आकर उसको पकड़ लेते है)

प० प्यादा—चल बे चल, बहुत मिठाई खाकर मुटाया है। आज पूरी हो गई।

दू० प्यादा—बाबाजी चलिए, नमो-नारायन कीजिए।

गोवरधन०—(घबड़ाकर) हैं ! यह आफ़त कहाँ से आई ! अरे भाई, मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, जो मुझको पकड़ते हो ?

प० प्यादा—आपने बिगाड़ा है या बनाया है, इससे क्या मतलब, अब चलिए। फाँसी चढ़िए।

गोबरधन०—फाँसी ! अरे बाप रे बाप फाँसी ! मैंने किसकी जमा लूटी है कि मुझको फाँसी ! मैंने किसके प्राण मारे कि मुझको फाँसी !

दू० प्यादा—आप बड़े मोटे हैं, इस वास्ते फाँसी होती है।

गोबरधन०—मोटे होने से फाँसी ? यह कहाँ का न्याय है ! अरे, हँसी फ़क़ीरों से नहीं करनी होती।

प० प्यादा—जब सूली चढ़ लीजिएगा, तब मालूम होगा कि हँसी है कि सच। सीधी राह से चलते हो, कि घसीटकर ले चलें ?

गोबरधन०—अरे बाबा, क्यों बेकसूर का प्राण मारते हो ? भगवान् के यहाँ क्या जवाब दोगे ?

प० प्यादा—भगवान् को जवाब राजा देगा। हमको क्या मतलब। हम तो हुक्मी बंदे हैं।

गोबरधन०—तब भी बाबा बात क्या है कि हम फ़क़ीर आदमी को नाहक फाँसी देते हो ?

प० प्यादा—बात यह है कि कल कोतवाल को फाँसी का हुकुम हुआ था। जब फाँसी देने को उसको ले गए, तो फाँसी का फंदा बड़ा हुआ, क्योंकि कोतवाल साहब दुबले हैं। हम लोगों ने महाराज से अर्ज़ किया, इस पर हुक्म हुआ कि एक मोटा आदमी पकड़कर

फाँसी दे दो, क्योंकि बकरी मारने के अपराध में किसी न किसी को सज़ा होनी जरूर है, नहीं तो न्याव न होगा। इसी वास्ते तुमको ले जाते हैं कि कोतवाल के बदले तुमको फाँसी दें।

गोबरधन०—तो क्या और कोई मोटा आदमी इस नगर भर में नहीं मिलता, जो मुझ अनाथ फ़क़ीर को फाँसी देते हैं?

प० प्यादा—इसमें दो बात हैं—एक तो नगर भर में राजा के न्याव के डर से कोई मुटाता ही नहीं, दूसरे और किसी को पकड़ें, तो वह न-जानें क्या बात बनावे कि हमीं लोगों के सिर कहीं न घहराय; और फिर इस राज में साधू महात्मा इन्हीं लोगों की तो दुर्दशा है, इससे तुम्हीं को फाँसी देंगे।

गोबरधन०—दुहाई परमेश्वर की, अरे मैं नाहक मारा जाता हूँ! अरे यहाँ बड़ा ही अंधेर है, अरे गुरुजी महाराज का कहा मैंने न माना, उसका फल मुझको भोगना पड़ा। गुरुजी कहाँ हो! आओ, मेरे प्राण बचाओ, अरे मैं बेअपराध मारा जाता हूँ। गुरुजी गुरुजी—

(गोबरधनदास चिल्लाता है, प्यादे उसको पकड़कर ले जाते हैं)

(जवनिका गिरती है)

स्थान—श्मशान

(गोबरधनदास को पकड़े हुए चार सिपाहियों का प्रवेश)

गोबरधन०—हाय बाप रे! मुझे बेकसूर ही फाँसी देते हैं। अरे

भाइयो, कुछ तो धरम विचारो ! अरे मुझ ग़रीब को फाँसी देकर तुम लोगों को क्या लाभ होगा ? अरे मुझे छोड़ दो। हाय ! हाय ! (रोता है और छुड़ाने के यत्न करता है)

प० सिपाही—अबे, चुप रह—राजा का हुक्म भला कहीं टल सकता है ? यह तेरा आख़री दम है, राम का नाम ले—बेफाइदा क्यों शोर करता है ? चुप रह—

गोवरधन०—हाय मैंने गुरुजी का कहना न माना, उसी का यह फल है। गुरुजी ने कहा था कि ऐसे नगर में न रहना चाहिए, यह मैंने न सुना ! अरे ! इस नगर का नाम ही अंधेर-नगरी और राजा का नाम चौपट्ट है, तब बचने की कौन आशा है। अरे ! इस नगर में ऐसा कोई धर्मात्मा नहीं है, जो इस फ़क़ीर को बचावे। गुरुजी कहाँ हो ? बचाओ—गुरुजी—गुरुजी—

(रोता है, सिपाही लोग उसे घसीटते हुए ले चलते हैं। गुरुजी और नारायणदास आते हैं)

गुरु—अरे बच्चा गोवरधनदास ! तेरी यह क्या दशा है ?

गोवरधन०—(गुरु को हाथ जोड़कर) गुरुजी ! दीवार के नीचे बकरी दब गई, सो इसके लिये मुझे फाँसी देते हैं, गुरुजी बचाओ।

गुरु—अरे बच्चा ! मैंने तो पहिले ही कहा था कि ऐसे नगर में रहना ठीक नहीं; तैने मेरा कहना नहीं सुना।

गोबरधन०—मैंने आपका कहा नहीं माना, उसी का यह फल मिला। आपके सिवा अब ऐसा कोई नहीं है जो रक्षा करे। मैं आप ही का हूँ, आपके सिवा और कोई नहीं। (पैर पकड़कर रोता है)

गुरु—कोई चिंता नहीं। नारायण सब समर्थ है। (भौं चढ़ाकर सिपाहियों से) सुनो, मुझको अपने शिष्य को अंतिम उपदेश देने दो, तुम लोग तनिक किनारे हो जाओ; देखो मेरा कहना न मानोगे, तो तुम्हारा भला न होगा।

सिपाही—नहीं महाराज, हम लोग हट जाते हैं। आप बेशक उपदेश कीजिए।

(सिपाही हट जाते हैं। गुरुजी चेले के कान में कुछ समझाते हैं)

गोबरधन०—(प्रगट) तब तो गुरुजी हम अभी फाँसी चढ़ेंगे।

गुरु—नहीं बच्चा, मुझे चढ़ने दे।

गोबरधन०—नहीं गुरुजी, हम फाँसी पड़ेंगे।

गुरु—नहीं बच्चा, हम। इतना समझाया नहीं मानता, हम बूढ़े भए, हमको जाने दे।

गोबरधन०—स्वर्ग जाने में बूढ़ा जवान क्या? आप तो सिद्ध हो, आपको गति-अगति से क्या? मैं फाँसी चढ़ूँगा।

(इसी प्रकार दोनों हुज्जत करते हैं। सिपाही लोग परस्पर चकित होते हैं)

प० सिपाही—भाई! यह क्या माजरा है, कुछ समझ नहीं पड़ता।

दू० सिपाही—हम भी नहीं समझ सकते कि यह कैसा गबड़ा है।

(राजा, मंत्री, कोतवाल आते हैं)

राजा—यह क्या गोलमाल है ?

प० सिपाही—महाराज ! चेला कहता है मैं फाँसी पड़ूँगा, गुरु कहता है मैं पड़ूँगा; कुछ मालूम नहीं पड़ता कि क्या बात है।

राजा—(गुरु से) बाबाजी ! बोलो । काहे को आप फाँसी चढ़ते हैं ?

गुरु—राजा ! इस समय ऐसी साइत है कि जो मरेगा सीधा बैकुंठ जायगा।

मंत्री—तब तो हमीं फाँसी चढ़ेंगे।

गोबरधन०—हम हम। हमको तो हुकुम है।

कोतवाल—हम लटकेंगे। हमारे सबब तो दीवार गिरी।

राजा—चुप रहो, सब लोग। राजा के आछत और कौन बैकुंठ जा सकता है ! हमको फाँसी चढ़ाओ, जल्दी, जल्दी।

गुरु—जहाँ न धर्म न बुद्धि नहिं, नीति न सुजन-समाज ।
ते ऐसहि आपुहि नसे, जैसे चौपटराज ॥

(राजा को लोग टिकटी पर खड़ा करते हैं)

(जवनिका गिरती है)

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

एक झलक

स्थान—उदयपुर, प्रताप का घर

समय—प्रभात

(विचार-मग्न प्रताप, सहसा सामन्त का प्रवेश)

सामन्त—राणा !

प्रताप—(चौंककर) कौन ? सामन्तजी ! कहिए, क्या सम्वाद है ?

सामन्त—क्या कहूँ ? बस अब नहीं देखा जाता। जी चाहता है, जन्म-जन्मान्तर के लिए आँखें मूँद लूँ !

प्रताप—क्यों-क्यों, क्या कोई विशेष घटना·······

सामन्त—नहीं राणा, यहीं नित्य की दुर्दशा प्रतिदिन नई मालूम होती है, काँटे की तरह इसकी कसक पल-पल पर अपरिचित-सी, नवीन-सी जान पड़ती है।

प्रताप—राजमहल का कोई विशेष सम्वाद है ?

सामन्त—राजमहल ? उसे राजमहल न कहो राणा, उसके वक्षः-स्थल पर वासनाओं का वह अविराम ताण्डव देखकर भी क्या उसे पिशाचपुरी न कहना चाहिये ? देखते नहीं हो राणा, आज बाप्पा रावल का वह उज्ज्वल राज-मुकुट कायरता के कलंक से काला हो रहा है, मखमली म्यान में भुवन-विजयी वीरों की करारी कटारी

पर जंग चढ़ रहा है ! क्या यह सब चुपचाप सह लेने की बातें हैं ? देव ! उस दिन का अमर इतिहास क्या सहज ही भुलाया जा सकता है, जब.......(कण्ठावरोध)

प्रताप—हाँ-हाँ कहो भाई, जब...............

सामन्त—जब स्वाधीनता की आराध्य देवी, स्वच्छन्द वायु के झकोरों से, स्वर्ण उषा के अधरों से, मुक्त मेघ की बूँदों से, तेजस्वी सूर्य-चन्द्र की स्वतन्त्र किरणों से, इसी मरु-भूमि पर उतरकर क्रीड़ा किया करती थी; इसी अभागे मेवाड़ की उन्नत रक्त ध्वजा उसके पावन चरणों के एक-एक चुम्बन पर प्रफुल्ल होकर चित्तौड़ दुर्ग के सर्वोच्च शिखर पर बड़े वेग से फहरा उठती थी। तब मेवाड़ को 'अपना' कहते समय हमारे वीर पूर्वजों की छाती फूल उठती थी, मस्तक ऊँचा हो जाता था और आरक्त आँखों के कोनों से सन्तोष और स्वाभिमान की किरणें फूट निकलती थीं। किन्तु, अब.......

प्रताप—अब भी मेवाड़ को 'माँ' कहते समय किसे रोमाञ्च न होगा ? क्या कहते हो भाई, हम माँ को भूल गये ? सम्भव है। पर माँ तो हमें नहीं भूली ! कल जिसे 'अपनी' कहने में गर्व होता था, उसी को आज कोई केवल इसलिए 'पराई' कैसे कहेगा कि उसे 'अपनी' कहने में लाज लगती है ! क्षुब्ध न हो सामंतजी ! शक्ति और साधन तो देशभक्ति का शरीर-मात्र है। उसकी अन्तरात्मा

तो हृदय का वह उज्ज्वल भाव है, जो हममें उसके लिए पतंगे की तरह मर मिटने का साहस भर देता है।

सामन्त—फिर भी, जिनके कंधों पर आज चित्तौड़ के उद्धार का भार है, लाखों प्रजा-जनों की उत्सुक आँखें जिनकी विशाल भुजाओं से आशा रखती है, उन्हीं को इस प्रकार विलासिता और बुज़दिली का जीवन बिताने का क्या अधिकार है ? मेवाड़ का राजमुकुट इस प्रकार कायरों के मस्तक का भूषण बनकर कब तक अपनी हँसी कराता रहेगा ?

प्रताप—यह प्रजा का प्रश्न है—जनता का अधिकार है। मेवाड़ के सच्चे सैनिक, अधिकारों के लोभ से, सर्वस्व बलिदान नहीं करते ! हमारे हृदय में लगन और त्याग की भावना तो हो, सारा संसार क्षण-भर में हमारा सहायक बन जायगा।

(सहसा नेपथ्य में "हर हर महादेव", "मेवाड़पति की जय", "महाराणा प्रताप की जय" की ध्वनि। प्रताप चौंकते हैं—कुछ खिन्न भी होते हैं)

प्रताप—(स्वगत) इस कुसमय में विजय-नाद कैसा ? मेवाड़ के अकिंचन सेवक को किसने कहा 'महाराणा ?' किसकी जय और किसकी विजय ? जननी-जन्मभूमि चित्तौड़ के उद्धार के पहले यह जय-नाद उपहास-सा प्रतीत होता है।

(चन्द्रावत कृष्ण का, एक हाथ में मुकुट और दूसरे में तलवार लिए हुए, प्रवेश)

प्रताप—(खड़े होकर) कौन ? चन्द्रावत कृष्णाजी ! आइए !

मेवाड़ के छोटे-से सैनिक को 'महाराणा' कहकर क्या विनोद करने आए हैं ?

चन्द्रावत—महाराणा ! यह विनोद नहीं, सत्य है—सूर्योदय की तरह सुन्दर और सुस्पष्ट। आज चित्तौड़ का भाग जागा है। उदयपुर से उत्सुक वीर आपको बधाई देने आ रहे हैं।

(कुछ राजपूतों का प्रवेश)

राजपूत—महाराणा की जय हो।

(प्रताप पहले किंचित् संकुचित होते हैं और फिर उनका स्वागत करते हैं)

सामन्त—(सबको यथास्थान बिठलाकर) सम्भवतः किसी आकस्मिक घटना के आघात से राणा का गृह पवित्र करने को मेवाड़ी वीरों की यह मन्दाकिनी आज इधर से बह निकली है। क्यों न चन्द्रावतजी ?

चन्द्रावत—(खड़े होकर) वीरो, तुम साक्षी हो। आज मैं प्रजा के प्रतिनिधि की हैसियत से वीरवर बाप्पा रावल का यह उज्ज्वल राज-मुकुट—राजपुत्र प्रताप को नहीं—स्वदेश के सच्चे सैनिक को सौंपता हूँ। इसलिए नहीं कि इसे पहनकर राजा प्रजा पर अत्याचार करे, इसलिए नहीं कि इसे पहनकर प्रताप चित्तौड़ को भूल जायँ, इसलिए नहीं कि इसे पहनकर सेवक प्रभु बन जायँ। मैं इसे सैनिक प्रताप को देता हूँ—वीर प्रताप को देता हूँ—व्रती प्रताप को देता हूँ, केवल

तेज पर मुग्ध होकर, त्याग को सिर झुकाकर, न्याय का भक्त बनकर, मातृभूमि पर मर मिटने की आपकी अमर अभिलाषा से चित्तौड़ के उद्धार की आशा रखकर। वह प्रजा का निर्णय 'नहीं' सुनना नहीं जानता! देव, यह जनता की धरोहर—प्रजा की भेंट—कर्तव्य समझकर ही—स्वीकार कीजिए!

(राजपूत जय-नाद करते हैं। प्रताप घुटने टेक देते हैं)

प्रताप—आपके आग्रह के आगे सिर झुकाना मेरा धर्म है। मैं खूब जानता हूँ वीरो, यह काँटों का ताज है, शूलों की सेज है, न्याय की दुधारी तलवार है, त्याग का सर्वोच्च शिखर है! यह मुकुट नहीं—कर्त्तव्य है! जितना उज्ज्वल है, उतना ही कटु है! यह प्रभुता का चिह्न नहीं, सेवा का निशान है; राजकुमारों का विलास नहीं, वीरों का बलिदान है। मैं इस विष के प्याले को अपने प्रभु की—प्रजा की—आज्ञा से अमृत की तरह पीने को तैयार हूँ।

(चन्द्रावत सिर पर मुकुट रखते हैं, हाथ में तलवार देते हैं, राजपूत जय-नाद करते हैं)

चंद्रावत—प्यारे महाराणा! आपका सिंहासन राजमहलों में नहीं—प्रजाजनों के हृदय में बिछे, और आपका अभिषेक क्षुद्र जलकणों से नहीं—स्वाधीनता-संग्राम में वीरों के हृदय-रक्त की लाल-लाल बूँदों से हो!

प्रताप—(तलवार खींचकर) भवानी! तू साक्षी है। जनता-जनार्दन

ने आज मुझे अपना सेवक चुना है। मैं आज तुझे छूकर प्रतिज्ञा करता हूँ, कि जन्म-भर मातृभूमि मेवाड़ के हित में तन, मन, धन, सर्वस्व अर्पण करने से मुँह न मोड़ूँगा। सागर मर्यादा, हिमालय गौरव, सूर्य तेज और वायु वेग भले ही छोड़ दे, यह प्रताप प्राण छोड़कर भी प्रण न छोड़ेगा। भाइयो, जब तक चित्तौड़ का उद्धार न कर लूँगा, सत्य कहता हूँ, कुटी में रहूँगा, पत्तल में खाऊँगा और तृणों पर सोऊँगा। आज ही से—नहीं, इसी क्षण से—मेरे लिए ये राज-प्रासाद, ये स्वर्ण-शृङ्गार और ये आनन्द-विहार तृण से भी तुच्छ हैं। माँ का स्वर्ण-संसार आज श्मशान हो रहा है—प्यारे चित्तौड़ में एक भी दीपक नहीं—उसका सम्मान आज विदेशियों के अत्याचारों की पदरज बना हुआ है! क्या अब भी हम सुख की नींद सो सकेंगे?

(राजपूतों के खड्गों की झंकार और उनकी 'नहीं, नहीं' की ध्वनि)

प्रताप—चित्तौड़ के सपूतो, मेवाड़ के वीरो, आज यदि तुम्हारे उष्ण रक्त में कुछ भी उबाल आता है, तो मेरी प्रतिज्ञा में सहायक बनो। चित्तौड़ के उद्धार के पहले हमें, पृथ्वी तो क्या, स्वर्ग में भी शान्ति न मिले।

राजपूत—हम चित्तौड़ के लिए आपके इंगित पर हँसते-हँसते मर मिटेंगे।

चन्द्रावत—मेवाड़ के सूर्य! बरसों से जो अभिलाषा इस हृदय में

छिपी पड़ी थी, वह आज पूरी हुई। चित्तौड़ की दुर्दशा पर रोते-रोते आँखें अंधी हो चली थीं--हृदय फटा जाता था। कोई ऐसा नायक नज़र नहीं आता था, जिसके इंगित पर मेवाड़ी वीर हँसते-हँसते चित्तौड़ की बलि-वेदी पर अपने प्राण होम कर देते। राणा! तुम्हें पाकर आज हम धन्य हैं, मेवाड़ धन्य है और धन्य है सीसोदिया वंश।

प्रताप—वीरो! मेवाड़ के अभिमान! चित्तौड़ की आशा! आज तुम्हें पाकर हृदय उत्साह से भर गया है। चित्तौड़ के खँडहरों का शून्य हृदय हमारी अकर्मण्यता पर हाहाकार कर रहा है। एक बार फिर उसे स्वाधीनता-संग्राम के लाल दिन दिखाने को जी चाहता है। आज से मेवाड़ का प्रत्येक पर्वत हमारा दुर्ग, प्रत्येक वन हमारा युद्ध-क्षेत्र और प्रत्येक गुफा हमारा राज-महल होगी। चित्तौड़ का उद्धार हमारा लक्ष्य और बलिदान हमारा मार्ग होगा। हर-हर महादेव! (प्रस्थान)

(पट-परिवर्त्तन)

—जगन्नाथप्रसाद 'मिलिंद'

संसार-महानाट्यशाला

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, पंच-महाभूत की बनी यह विस्तृत नाट्यशाला उस चतुर-शिरोमणि, सकल-गुण-आगार, नटनागर, महानट, अनोखे खेलवाड़ी, सूत्रधार के खेल-वाड़ की ऐसी रंगभूमि है, जिसमें दृश्य अदृश्य रूप से भासता हो, वह दर्शकों की दृष्टि से मायामयी जवनिका के भीतर छिप अपने महाविराट् वैभव के अनेकों ऐसे अभिनय किया करता है, जिसमें शृङ्गार, वीर, करुणा आदि नवों रस बारी-बारी स्थायी और संचारी होते हुए तमाशबीनों को अद्भुत तमाशे दिख-लाते हैं। स्वभाव-मधुराकृति प्रकृति उस महा-सूत्रधार की सहचा-रिणी नर्तकी इस नाट्यशाला की नटी है। पृथक्-पृथक् नाम-रूप में विचित्र वेशधारी जीव-समूह सब उस बड़े नटनागर की नाट्य-लीला के सहायक सहकारी नट हैं। इस अद्भुत नाट्यशाला का अभिनय रातोदिन हर घंटे, हर घड़ी, प्रतिपल, प्रतिनिमेष, अवि-च्छिन्न रूप से हुआ करता है—कोई ख़ास घंटा या मिनट मुक़र्रर नहीं है कि इस समय से इस समय तक अभिनय होगा और इस समय इस नाट्यशाला का दरवाजा खुलेगा। न फ़ीस का कोई

नियम है कि अमुक-अमुक तमाशबीनों से इस-इस दरजे की फ़ीस ली जायगी। उस बड़े नटनागर ने सबों को अपना अभिनय देखने की आज्ञा दे रक्खी है। उसकी नज़र में कोई छोटा या बड़ा है ही नहीं। उसका प्राणिमात्र पर एक भाव और सबों के साथ एक-सा बर्ताव है—

"बाबा वह दरबार हमारा, हिंदू-मुसलमान से न्यारा;
जहाँ जनेऊ-सुनत न होई, पंडित-मुल्ला बसै न कोई"

समस्त जीवराशि का निरंतर कोलाहल इस नाट्यशाला का संगीत है। एक ओर जयध्वनि-पूरित हर्षनिस्स्वन, दूसरी ओर क्लेश और करुणा में भरी हुई रोने की आवाज़ तथा जीवराशि-रूपी अद्भुत यंत्र के अनोखे तान दर्शकों के मन में एक ही क्षण हर्ष और शोक में मिला हुआ अनिर्वचनीय भाव पैदा करते हैं। सूर्य, चंद्रमा, ग्रह, नक्षत्र, सरित, समुद्र, अभ्रंलिह अत्युच्च शिखर-वाले हिमधवलित पर्वत इत्यादि कारण-सामग्री लाखों वर्ष की पुरानी हो जाने पर भी उनके द्वारा जो अभिनय दिखलाए जाते हैं, वे सब नए-से-नए और टटके-से-टटके होते हैं। अचिन्त्य-चातुर्य-समन्वित, विराट् मूर्तिमय यह संपूर्ण जगत् देख देखनेवाले के मन में रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत आदि रस एकसाथ स्थान पाते हैं और उस "पुरुष-पुरातन", "महाकवि" की महिमा का विस्तार प्रतिपद में प्रकट करते हैं।

अब अंतर उस बड़े नट के नाटक और हम लोगों के नाटक

में यह है कि हम लोग इस दृश्य-काव्य नाटक में असल की नक़ल कर दिखलाते हैं, और वह अपने नाटक में जो कुछ नक़ल कर रहा है, वह माया-जवनिका के कारण हमें असल और सत्य मालूम होता है। देखनेवालों के चित्त में उसकी भाँति-भाँति की नक़ल का यहाँ तक सच्चा असर होता है कि वे विवश हो झूठ को सच मान तदाकार हो जाते हैं और उसके अचिंत्य दिव्य रूप को, जो सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, बड़े-से-बड़ा, ऊँचे-से-ऊँचा, दूर-से-दूर, समीप-से-समीप है, सर्वथा भूल जाते हैं तथा उसे और-का-और समझ ग़ोते खाया करते हैं। और निन्नानबे के फेर में पड़ इस चक्कर के बाहर कभी होते ही नहीं। माया की फाँसी से जकड़े हुए हम लोग उससे अपने को अलग मान अपनी भलाई और तरक़्क़ी की अनेक चेष्टा करते हैं, किंतु किसी अदृष्ट दैवी शक्ति से प्रेरित हो जो चाहते हैं, वह नहीं होता—

"अपना चेता होत नहिं, प्रभु-चेता तत्काल"

जिसका कभी सपने में भी ख़याल नहीं किया जाता, वह आ पड़ता है। हमें पात्र बनाकर जिस अभिनय को उसने हमारे द्वारा करना आरंभ किया था, वह यदि पूरा उतर आया, तो हम फूले नहीं समाते और भाग्यवानों की श्रेणी में अपना अव्वल दरजा क़ायम कर लेते हैं। सर्वथा स्वच्छंद निरंकुश हो उस छिपी दैवी शक्ति पर ज़रा भी ध्यान न दे "हम सब भाँति समर्थ हैं," यही समझने लगते हैं, बड़े शूरवीर योद्धा सम्राट् चक्रवर्त्ती, जिनकी

एक बार की भ्रुकुटि-विक्षेप में भूडोल आ जाने की संभावना है, उनके भी हम महाप्रभु हैं, राम, युधिष्ठिर तथा सिकन्दर और दारा प्रभृति विजेता जगद्विजयी हमारे आगे किस गिनती में हैं; उशना और वाचस्पति को तो हमारा वाग्वैभव देख शरम आती ही है; चतुरानन भी अपनी चतुराई भूल अचरज में आकर हक्का-बक्का बन बैठता है; हम सब भाँति सिद्ध हैं, पूर्णकाम हैं; न हमारे सदृश किसी ने यज्ञ किया होगा, न हम-सा दानी कोई दूसरा है; आज हमने एक मुल्क फ़तेह किया, कल दूसरा अपने वश में कर लेंगे, अपने विपक्षी शत्रुओं को बीन-बीनकर खा डालेंगे, एक को भी जीता न छोड़ेंगे; कटक से अटक तक हमारी पताका फहरा रही है, संसार की कोई जाति या फ़िरक़े नहीं बचे, जिनके बीच यदि हमारा नाम लिया जाय, तो वे थर्रा न उठते हों; हम सभ्यता की चरम सीमा को पहुँचे हैं, किसकी इतनी हिम्मत या ताक़त है, जो हमारी बराबरी कर सके; तुम जित हो, हम विजेता हैं, हम तुम्हारे स्वामी हैं, प्रभविष्णु हैं, हम जो करेंगे या सोचेंगे, सब तुम्हारी भलाई के लिये करेंगे और सोचेंगे; हम जो कानून गढ़ दें, वही तुम्हारे लिये व्यवस्था है; तुम हमारे वशंवद हो, इसलिये हम जो कहें, वह तुम्हें करना ही पड़ेगा; हमारा खान, हमारा पान, हमारी रहन, हमारी सहन, सबमें हमारे समान बनो; देखो, सम्हले रहो, कहीं किसी बात में अपनापन न आने पावे; तुम्हें जब हम किसी बात में अपनापन ज़ाहिर करते देखते हैं, तो हमारा जी कुढ़ जाता है, जो कुछ

तुम्हारी भलाई भी कभी किसी तरह हो सकती, उसे भी हम रोक देते हैं, हम नहीं चाहते कि ऐसी कोई बात का अंकुर भी रह जाय, जिसमें तुम ज़ोर पकड़ हमारी बराबरी करने लगो, इत्यादि भाव हमारे मन में उस समय उठने लगते हैं, जब उस छिपी दैवी शक्ति की प्रेरणा से हम कृतकार्य और सफल-मनोरथ हो जाते हैं।

वही यदि अपनी कर्तव्यता में हम कृतकार्य न हुए और जो अभिनय वह हमसे करा रहा है, वह पूरा न उतरा, तो हम उदास, विषण्ण-वदन, अत्यंत दुःखी हो जाते हैं। उस समय ज़िंदगी हमें फीकी मालूम पड़ती है। बल्कि महाशोक-ग्रस्त हो ऐसे समय हम लोग जीवन से भी हाथ धो बैठते हैं। इस तरह पर इस संसार-नाट्यशाला में उस महापुरुष के अनेक खेल हैं, जिन्हें वह क्रीड़ा-विलसित के समान सर्वथा स्वच्छंद हो जब जैसा चाहता है, वैसा अभिनय करता है।

—बालकृष्ण भट्ट

कल्पना-शक्ति

मनुष्य की अनेक मानसिक शक्तियों में कल्पना-शक्ति भी एक अद्भुत शक्ति है। यद्यपि अभ्यास से यह शतगुण अधिक हो सकती है, पर इसका सूक्ष्म अंकुर किसी-किसी के अंतःकरण में आरंभ ही से रहता है, जिसे प्रतिभा के नाम से पुकारते हैं और जिसका कवियों के लेख में पूर्ण उद्गार देखा जाता है। कालिदास, श्रीहर्ष, शेक्सपियर, मिल्टन प्रभृति कवियों की कल्पना-शक्ति पर चित्त चकित और मुग्ध हो, अनेक तर्क-वितर्क की भूल-भूलैया में चक्कर मारता, टकराता, अंत को इसी सिद्धांत पर आकर ठहरता है कि वह कोई प्राक्तन संस्कार का परिणाम है या ईश्वर-प्रदत्त शक्ति (Genius) है। कवियों का अपनी कल्पना-शक्ति के द्वारा ब्रह्मा के साथ होड़ करना कुछ अनुचित नहीं है; क्योंकि जगत्-स्रष्टा तो एक ही बार जो कुछ बन पड़ा, सृष्टि-निर्माण-कौशल दिखलाकर आकल्पांत फ़रागत हो गए; पर कविजन नित्य नई-नई रचना के गढ़ंत से न-जाने कितनी सृष्टि-निर्माण-चातुरी दिखलाते रहते हैं।

यह कल्पना-शक्ति कल्पना करनेवाले के हृद्गत भाव या मन

के परखने की कसौटी या आदर्श है। शांत या वीर प्रकृतिवाले से शृङ्गार-रस-प्रधान कल्पना कभी न बन पड़ेगी। महाकवि मतिराम और भूषण इसके उदाहरण हैं। शृङ्गार-रस में पगी जयदेव की रसीली तबियत के लिये दाख और मधु से भी अधिकाधिक मधुर गीतगोविन्द ही की रचना विशेष उपयुक्त थी। राम-रावण या कर्णार्जुन के युद्ध का वर्णन कभी उनसे न बन पड़ता। यावत् मिथ्या और दरोग़ की क़िबलेगाह इस कल्पना-पिशाचिनी का कहीं ओर-छोर किसी ने पाया है! अनुमान करते-करते हैरान गौतम-से मुनि "गोतम" हो गए। कणाद किनका खा-खाकर तिनका बीनने लगे; पर मन की मनभावनी कन्या कल्पना का पार न पाया। कपिल बेचारे पचीस तत्त्वों की कल्पना करते-करते "कपिल" अर्थात् पीले पड़ गए। व्यास ने इन तीनों महादार्शनिकों की दुर्गति देख मन में सोचा, कौन इस भूतनी के पीछे दौड़ता फिरे; यह संपूर्ण विश्व, जिसे हम प्रत्यक्ष देख-सुन सकते हैं, सब कल्पना-ही-कल्पना, मिथ्या, नाशवान् और क्षण-भंगुर है, अतएव हेय है। उन्हीं की देखादेखी बुद्धदेव ने भी अपने बुद्धत्व का यही निष्कर्ष निकाला कि जो कुछ कल्पना-जन्य है, सब क्षणिक और नश्वर है। ईश्वर तक को उन्होंने इस कल्पना के अंतर्गत ठहराकर शून्य अथवा निर्वाण ही को मुख्य माना। रेखागणित के प्रवर्तक उक़्लैदिस (यूक्लिड) ज्यामिति की हरएक शकल में बिंदु और रेखा की कल्पना करते-करते हमारे सुकुमार-मति इन दिनों के छात्रों का दिमाग़ ही चाट गए। कहाँ तक गिनावें, संपूर्ण भारत-

का-भारत इसी कल्पना के पीछे गारत हो गया, जहाँ कल्पना (Theory) के अतिरिक्त करके दिखाने योग्य (Practical) कुछ रहा ही नहीं। योरप के अनेक वैज्ञानिकों की कल्पना को शुष्क कल्पना से कर्त्तव्यता (Parctice) में परिणत होते देख यहाँवालों को हाथ मल-मल पछताना और 'कलपना' पड़ा।

प्रिय पाठक ! यह कल्पना बुरी बला है। चौकस रहो, इसके पेच में कभी न पड़ना, नहीं तो पछताओगे। आज हमने भी इस कल्पना की कल्पना में पड़ बहुत-सी झूठी-झूठी कल्पना कर आपका थोड़ा-सा समय नष्ट किया, क्षमा करिएगा।

—बालकृष्ण भट्ट

आप

लो भला बतलाइये तो आप क्या हैं? आप कहते होंगे, वाह आप तो आप ही हैं। यह कहाँ की आपदा आई? यह भी कोई पूछने का ढंग है? पूछा होता कि आप कौन हैं, तो बतला देते कि हम आपके पत्र के पाठक हैं, और आप 'ब्राह्मण' के सम्पादक हैं। अथवा आप पंडितजी हैं, आप राजाजी हैं, आप सेठजी हैं, आप लालाजी हैं, आप बाबू साहब हैं; आप मियाँ साहब, आप निरे साहब हैं। आप क्या हैं? यह तो कोई प्रश्न की रीति ही नहीं है। वाचक महाशय! यह हम भी जानते हैं कि आप आप ही हैं और हम भी वही हैं, तथा इन साहबों की भी लम्बी धोती, चमकीली पोशाक, खुँटी हुई अँगरखी (मिरज़ई), सीधी माँग, विलायती चाल, लंबी दाढ़ी और साहबानी हवस ही कहे देती है कि—

"किस रोग की हैं आप दवा कुछ न पूछिये"

अच्छा साहब, फिर हमने पूछा तो क्यों पूछा? इसीलिये कि देखें आप "आप" का ज्ञान रखते हैं या नहीं? जिस 'आप' को आप अपने लिये तथा औरों के प्रति दिन-रात मुँह पर धरे रहते हैं, वह 'आप' क्या है? इसके उत्तर में आप कहियेगा कि एक

सर्वनाम है। जैसे मैं, तू, हम, तुम, यह, वह, आदि हैं, वैसे ही 'आप' भी है, और क्या है। पर इतना कह देने से न हमीं सन्तुष्ट होंगे, न आप ही के शब्द-शास्त्र-ज्ञान का परिचय होगा। इससे अच्छे प्रकार कहिये कि जैसे 'मैं' का शब्द अपनी नम्रता दिखलाने के लिये बिल्ली की बोली का अनुकरण है, 'तू' का शब्द मध्यम पुरुष की तुच्छता व प्रीति सूचित करने के अर्थ कुत्ते के सम्बोधन की नक़ल है; हम, तुम, संस्कृत के 'अहं', 'त्वं' के अपभ्रंश हैं, यह, वह, निकट और दूर की वस्तु वा व्यक्ति के द्योतनार्थ स्वाभाविक उच्चारण हैं, वैसे 'आप' क्या है? किस भाषा के किस शब्द का शुद्ध वा अशुद्ध रूप है, और आदर ही में बहुधा क्यों प्रयुक्त होता है?

हज़ूर की मुलाज़मत से अक़्ल ने इस्तीफ़ा दे दिया हो तो दूसरी बात है, नहीं तो आप यह कभी न कह सकेंगे कि "आप लफ़्ज़े-फ़ारसी या अरबीस्त" अथवा "ओः ! इटिज़ एन इंगलिश वर्ड" oh ! it is an English word) । जब यह नहीं है, तो ख़ाह-मख़ाह यह हिन्दी शब्द है, पर कुछ सिर-पैर मूँड़-गोड़ भी है कि यों ही ? आप छूटते ही सोच सकते हैं कि संस्कृत में 'आप' कहते हैं जल को, और शास्त्रों में लिखा है कि विधाता ने सृष्टि की आदि में उसी को बनाया था, यथा—'अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्" —तथा हिन्दी में पानी और फ़ारसी में "आब" का अर्थ शोभा अथच प्रतिष्ठा आदि हुआ करता है। जैसे—"पानी उतरिगा तरवारिन का, उंइ करछुलि के मोल बिकायँ" तथा "पानी उतरिगा

रजपूती का उड़ फिर विसुओ ते (वेश्या से भी) बहि जायँ", और फ़ारसी में "आबरू ख़ाक में मिला बैठे" इत्यादि।

इस प्रकार पानी की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता का विचार करके लोग पुरुषों को भी उसी के नाम से 'आप' पुकारने लगे होंगे। यह आपका समझना निरर्थक तो न होगा, बड़प्पन और आदर का अर्थ अवश्य निकल आवेगा, पर खींच-खाँचकर, और साथ ही यह शंका भी कोई कर बैठे तो अयोग्य न होगी कि पानी के जल, वारि, अम्बु, नीर, तोय इत्यादि और भी तो कई नाम हैं। उनका प्रयोग क्यों नहीं करते, "आप" ही के सुर्ख़ाब का पर कहाँ लगा है! अथवा पानी की सृष्टि सबके आदि में होने के कारण वृद्ध ही लोगों को उसके नाम से पुकारिये, तो युक्तियुक्त हो सकता है, पर आप तो अवस्था में छोटों को भी आप-आप कहा करते हैं, यह आपकी कौनसी विज्ञता है? या हम यों भी कह सकते हैं कि पानी में गुण चाहे जितने हों, पर गति उसको नीच ही होती है। तो क्या आप हमको मुँह से आप-आप करके अधोगामी बनाया चाहते हैं? हमें निश्चय है कि आप 'पानी-दार' होंगे तो इस बात के उठते ही पानी-पानी हो जायँगे और फिर कभी यह शब्द मुँह पर भी न लावेंगे।

सहृदय सुहृद्गण आपस में आप-आप की बोली बोलते भी नहीं हैं। एक हमारे उर्दूदाँ मुलाक़ाती मौखिक मित्र बनने की अभिलाषा से आते-जाते थे, पर जब ऊपरी व्यवहार मित्रता का सा देखा, तो हमने उनसे कहा कि बाहरी लोगों के सामने की बात

न्यारी है, अकेले में अथवा अपनायतवालों के आगे आप-आप न किया करो, इसमें भिन्नता की भिनभिनाहट पाई जाती है। पर वह इस बात को न माने, हमने दो-चार बार समझाया, पर वह 'आप' थे क्यों मानने लगे! इसपर हमें झुँझलाहट छूटी, तो एक दिन उनके आते ही और 'आप' का शब्द मुँह पर लाते ही हमने कह दिया कि आपकी ऐसी तैसी !! यह क्या बात है कि तुम मित्र बन-कर हमारा कहना नहीं मानते ? प्यार के साथ 'तू' कहने में जितना स्वाद आता है उतना बनावट में आप-साँप कहो, तो कभी सपने में नहीं आने का। इस उपदेश को वह मान गये। सच तो यह है कि प्रेम-शास्त्र में कोई बन्धन न होने पर भी इस शब्द का प्रयोग बहुत ही कम वरंच नहीं के बराबर होता है।

हिन्दी की कविता में हमने दो ही कवित्त इससे युक्त पाये हैं, एक तो "आपको न चाहे ताके बाप को न चाहिए", पर यह न तो किसी प्रतिष्ठित ग्रंथ का है और न इसका आशय स्नेह-सम्बद्ध है। किसी जले-भुने कवि ने कह मारा हो तो यह कोई नहीं कह सकता कि कविता में भी "आप" की पूछ है। दूसरा घनानंदजी का यह सवैया है—"आपहि तो मन हेरि हर्यो तिरछे करि नैनन नेह के चाव में" इत्यादि। पर यह भी निराशापूर्ण उपालम्भ है, इससे हमारा यह कथन कोई खण्डन नहीं कर सकता कि प्रेम-समाज में "आप" का आदर नहीं है, "तू" ही प्यारा है।

संस्कृत और फ़ारसी के कवि भी 'त्वं' और 'तू' के आगे 'भवान्' और 'शुमा' (तू का बहुवचन) का बहुत आदर नहीं

करते, पर इससे आपको क्या मतलब ? आप अपनी हिन्दी के 'आप' का पता लगाइये, और न लगे तो हम बतला देंगे।

संस्कृत में एक "आप्त" शब्द है, जो सर्वथा माननीय अर्थ में ही आता है, यहाँ तक कि न्याय-शास्त्र में प्रमाण-चतुष्टय (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द) के अन्तर्गत शब्द प्रमाण का लक्षण ही यह लिखा है कि "आप्तोपदेशः शब्दः," अर्थात् आप्त पुरुष का वचन प्रत्यक्षादि प्रमाणों के समान ही प्रामाणिक होता है। वा यों समझ लो कि आप्त जन प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान प्रमाण से सर्वथा प्रमाणित ही विषय को शब्द-बद्ध करते हैं। इससे जान पड़ता है कि जो सब प्रकार की विद्या, बुद्धि, सत्य-भाषणादि सद्गुणो से संयुक्त हो वह आप्त है। और देवनागरी (हिन्दी) भाषा में 'आप्त' शब्द सबके उच्चारण में सहजतया नहीं आ सकता, इससे उसे सरल करके 'आप' बना लिया गया है, और मध्यम पुरुष तथा अन्य पुरुष के अत्यन्त आदर-द्योतन करने में काम आता है। 'तुम बहुत अच्छे मनुष्य हो' और 'यह बड़े सज्जन हैं'—ऐसा कहने से सच्चे मित्र, बनावट के शत्रु चाहे जैसे "पुलक-प्रफुल्लित-पूरित-गाता" हो जायँ, पर व्यवहार-कुशल लोकाचारी पुरुष तभी अपना उचित सम्मान समझेंगे जब कहा जाय कि "आपका क्या कहना है, आप तो बस सभी बातों में एक ही हैं" इत्यादि।

अब तो आप समझ गये होंगे कि आप कहाँ के हैं, कौन हैं, कैसे हैं। यदि इतने बड़े बात के बतंगड़ से भी न समझे हों, तो

इस छोटे-से कथन में हम क्या समझा सकेंगे कि 'आप' संस्कृत के 'आप्त' शब्द का हिन्दी रूपान्तर है, और माननीय अर्थ को सूचनार्थ उन लोगों (अथवा एक ही व्यक्ति) के प्रति प्रयोग में लाया जाता है जो सामने विद्यमान हों, चाहें बातें करते हों, चाहे बातें करनेवालों के द्वारा पूछे-बताये जा रहे हों, अथवा दो वा अधिक जनों में जिनकी चर्चा हो रही हो। कभी-कभी उत्तम पुरुष के द्वारा भी इसका प्रयोग होता है। वहाँ भी शब्द और अर्थ वही रहता है, पर विशेषता यह रहती है कि एक तो तब कोई अपने मन से आपको (अपने-तई) आप ही (आप्त ही) समझता है, और विचारकर देखिये तो आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता या तद्रूपता कहीं लेने भी नहीं जाने पड़ती, पर बाह्य व्यवहार में अपने को आप कहने से यदि अहंकार की गंध समझिये, तो यों समझ लीजिये कि जो काम अपने हाथ से किया जाता है और जो बात अपनी समझ स्वीकार कर लेती है उसमें पूर्ण निश्चय अवश्य ही हो जाता है; और उसी के विदित करने को हम और आप, तथा वह एवं वे कहते हैं कि 'हम आप कर लेंगे', 'अर्थात् कोई सन्देह नहीं है कि हमसे वह कार्य सम्पादित हो जायगा, 'हम आप जानते हैं' अर्थात् दूसरे के बतलाने की आवश्यकता नहीं है, इत्यादि।

महाराष्ट्रीय भाषा के 'आपाजी' भी उन्नीस बिस्वा आप्त और आर्य के मिलने से इस रूप में हो गये हैं, तथा कोई माने वा न माने, पर हम मना सकने का साहस रखते हैं कि अरबी के

'अब्ब' (पिता, बोलने में अब्बा) और यूरोपीय भाषाओं के 'पापा' (पिता), 'पोप' (धर्मपिता) आदि भी इसी आप्त से निकले हैं। हाँ, इसके समझाने में भी जी ऊबे तो अँगरेज़ी 'एबाट' (Abbot महंत) तो इसके हई हैं, क्योंकि उस बोली में ह्रस्व और दीर्घ दोनों अकार का स्थानापन्न A है, और पकार को बकार से बदल लेना कई भाषाओं की चाल है। रही टी (t), सो वह तो तकार हई है। फिर क्या न मान लीजियेगा कि 'एबाट' साहब हमारे 'आप' वरंच शुद्ध 'आप्त' से बने हैं।

हमारे प्रान्त के बहुतसे उच्च वंश के बालक भी अपने पिता को अप्पा कहते हैं, उसे कोई-कोई लोग समझते हैं कि मुसलमानों के सहवास का फल है, पर यह उनकी समझ ठीक नहीं है। मुसलमान भाइयों के लड़के कहते हैं अब्बा, और हिन्दू-सन्तान के पक्ष में 'बकार' का उच्चारण तनिक भी कठिन नहीं होता; यह अंगरेज़ों की 'तकार' और फ़ारसीवालों की 'टकार' नहीं है कि मुँह ही से न निकले, और सदा 'मोती' का मोटी अर्थात् स्थूलांग स्त्री और ख़स की टट्टी का 'तत्ती' अर्थात् गरम ही हो जाय ! फिर अब्बा को अप्पा कहना किस नियम से होगा ! हाँ, आप्त से आप और 'अप्पा' से 'आपा' की सृष्टि हुई है, उसी को अरबवालों ने 'अब्बा' में रूपान्तरित कर लिया होगा, क्योंकि उनकी वर्णमाला में 'पकार' (पे) नहीं होता; सौ-बिस्वा बप्पा, बाप, बापू, बब्बा, बाबा, बाबू आदि भी इसी से निकले हैं, क्योंकि जैसे एशिया की कई बोलियों में 'पकार' को 'बकार' व 'फ़कार' से बदल लेते हैं, जैसे—

पादशाह-बादशाह और पारसी-फ़ारसी आदि, वैसे ही कई भाषाओं में शब्द के आदि में बकार भी मिला देते हैं, जैसे—वक्ते-शब—बवक्ते-शब तथा तंग आमद—बतंग आमद इत्यादि; और शब्द के आदि के ह्रस्व अकार का लोप भी हो जाता है, जैसे—अमावस का मावस (सतसई आदि ग्रंथों में देखो), ह्रस्व आकारान्त शब्दों में अकार के बदले ह्रस्व वा दीर्घ उकार भी हो जाता है, जैसे—एक—एकु, स्वाद—स्वादु, आदि; अथच ह्रस्व को दीर्घ, दीर्घ को ह्रस्व अ, इ, उ आदि वृद्धि वा लोप भी हुआ ही करता है। फिर हम क्यों न कहें कि जिन शब्दों में अकार और पकार का संपर्क हो, एवं अर्थ से श्रेष्ठता की ध्वनि निकलती हो, वह प्रायः समस्त संसार के शब्द 'आप्त' महाशय वा 'आप' ही के उलट-फेर से बने हैं।

अब तो आप समझ गये न, कि आप क्या हैं ? अब भी न समझो तो हम नहीं कह सकते कि आप समझदारी के कौन हैं ! हाँ, आप ही को उचित होगा कि दमड़ी-छदाम की समझ किसी पंसारी के यहाँ से मोल ले आइये, फिर आप ही समझने लगियेगा कि आप "कौन हैं ? कहाँ के हैं ? कौन के हैं ?" यदि यह भी न हो सके और लेख पढ़के आपे से बाहर हो जाइये, तो हमारा क्या अपराध है ? हम केवल जी में कह लेंगे—"शाव ! आप न समझो, तो आपाँको के पड़ी छै"। ऐं ! अब भी नहीं समझे ? वाह रे आप !

—प्रतापनारायण मिश्र

धोखा

इन दो अक्षरों में भी न-जाने कितनी शक्ति है कि इनकी लपेट से बचना यदि निरा असंभव न हो तो भी महाकठिन तो अवश्य है। जब कि भगवान् रामचन्द्र ने मारीच राक्षस को सुवर्ण-मृग समझ लिया था, तो हमारी आपकी क्या सामर्थ्य है जो धोखा न खायँ। वरंच ऐसी-ऐसी कथाओं से विदित होता है कि स्वयं ईश्वर भी केवल निराकार निर्विकार ही रहने की दशा में इससे पृथक् रहता है, सो भी एक रीति से नहीं रहता, क्योंकि उसके मुख्य कामों में से एक कांम सृष्टि का उत्पादन करना है; उसके लिए उसे अपनी माया का आश्रय लेना पड़ता है और माया, भ्रम, छल इत्यादि धोखे ही के पर्याय हैं। इस रीति से यदि हम कहें कि ईश्वर भी धोखे से अलग नहीं है, तो अयुक्त न होगा, क्योंकि ऐसी दशा में यदि वह धोखा खाता नहीं तो धोखे से काम अवश्य होता है, जिसे दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि माया का प्रपंच फैलाता है व धोखे की टट्टी खड़ी करता है।

अतः सबसे पृथक् रहनेवाला ईश्वर भी ऐसा नहीं है, जिसके विषय में यह कहने का स्थान हो कि वह धोखे से अलग है, वरंच

धोखे से पूर्ण उसे कह सकते हैं, क्योंकि ईश्वर अवतार धारण करता है और अवतार-धारण की दशा में उसका नाम माया-वपुधारी होता है, जिसका अर्थ है—धोखे का पुतला, और सच भी यही है; जो सर्वथा निर्विकार होने पर भी मत्स्य, कच्छपादि रूपों में प्रकट होता है, और शुद्ध निर्विकार कहलाने पर भी नाना प्रकार की लीला किया करता है, वह धोखे का पुतला नहीं तो क्या है ? हम आदर के मारे उसे भ्रम से रहित कहते हैं; जिसके विषय में कोई निश्चयपूर्वक 'इदमित्थं' कह ही नहीं सकता, वह जिसका सारा भेद स्पष्ट रूप से कोई जान ही नहीं सकता, वह निर्भ्रम या भ्रमरहित क्यों कर कहा जा सकता है। शुद्ध निर्भ्रम वह कहलाता है, जिसके विषय में भ्रम का आरोप भी न हो सके, पर उसके तो अस्तित्व होने तक में नास्तिकों को संदेह और आस्तिकों को निश्चित ज्ञान का अभाव रहता है, फिर वह निर्भ्रम कैसा ? और जब वही भ्रम से पूर्ण है, तब उसके बनाए संसार में भ्रम अर्थात् धोखे का अभाव कहाँ ?

वेदान्ती लोग जगत् को मिथ्या भ्रम समझते हैं, यहाँ तक कि एक महात्मा ने किसी जिज्ञासु को समझा दिया था कि विश्व में जो कुछ है, और जो कुछ होता है, सब भ्रम है, किन्तु यह समझाने के कुछ ही दिन उपरान्त उनके किसी प्रिय व्यक्ति का प्राणांत हो गया, जिसके शोक में वे फूट-फूटकर रोने लगे। इसपर शिष्य ने आश्चर्य में पूछा कि आप तो सब बातों को भ्रमात्मक बताते हैं, फिर जान-बूझकर रोते क्यों हैं ? इसके उत्तर में उन्होंने कहा

कि रोना भी भ्रम ही है। सच है! भ्रमोत्पादक भ्रमस्वरूप भगवान् के बनाये हुए भव (संसार) में जो कुछ है, भ्रम ही है। जब तक भ्रम है, तभी तक संसार है, वरंच संसार का स्वामी भी तभी तक हैं, फिर कुछ भी नहीं। और कौन जाने, हो तो हमें उससे कोई काम नहीं। परमेश्वर सबका भरम बनाए रक्खे, इसी में सब कुछ है। जहाँ भरम खुल गया, वहीं लाख की भलमंसी ख़ाक में मिल जाती है। जो लोग पूरे ब्रह्मज्ञानी बनकर संसार को सचमुच माया की कल्पना मान बैठते हैं, वे अपनी भ्रमात्मक बुद्धि से चाहे अपने तुच्छ जीवन को साक्षात् सर्वेश्वर मानके सर्वथा सुखी हो जाने का धोखा खाया करें, पर संसार के किसी काम के नहीं रह जाते, वरंच निरे अकर्ता, अभोक्ता बनने की उमंग में अकर्मण्य और "नारि नारि सब एक हैं जसमे हरि तस माय," इत्यादि सिद्धान्तों के मारे अपना तथा दूसरों का जो अनिष्ट न कर बैठें वही थोड़ा है, क्योंकि लोक और परलोक का भला भी धोखे ही में पड़े रहने से प्राप्त होता है। बहुत ज्ञान छाँटना सत्यानाशी की जड़ है। ज्ञान की दृष्टि से देखें तो अपना शरीर मल-मूत्र, मांस, मज्जादि घृणास्पद पदार्थों का विकारमात्र है, पर हम उसे प्रीति का पात्र समझते हैं, और दर्शन स्पर्शनादि से आनन्द-लाभ करते हैं।

हमको वास्तव में इतनी जानकारी भी नहीं है कि हमारे सिर में कितने बाल हैं या एक मिट्टी के गोले का सिरा कहाँ पर है, किन्तु आप हमें बड़ा भारी विज्ञ और सुलेखक समझते हैं, तथा हमारे लेख की और जिह्वा की कारीगरी देख-देखकर सुख प्राप्त

करते हैं। विचारकर देखिये तो धन-जन इत्यादि पर किसी का कोई स्वत्व नहीं है, इस क्षण वे हमारे काम आ रहे हैं, क्षण ही भर के उपरान्त न-जाने किसके हाथ में वा किस दशा में पड़के हमारे पक्ष में कैसे हो जायँ, और मान भी लें कि इनका वियोग कभी न होगा, तो हमें क्या ? आख़िर एक दिन मरना है, और "मुदि गईं आँखें तब लाखें केहि काम की," पर हम ऐसा समझ-कर सबसे सम्बंध तोड़ दें, तो सारी पूँजी गँवाकर निरे मूर्ख कहलावें, स्त्री-पुत्रादि का प्रबंध न करके उनका जीवन नष्ट करने का पाप मुड़ियावें, "ना हम काहू के ना कोऊ हमारा" का उदाहरण बनके सब प्रकार के सुख-सुविधा, सुयश से वंचित रह जायँ ! इतना ही नहीं, वरंच और भी सोचकर देखिये तो किसी को कुछ भी ख़बर नहीं है कि मरने के पीछे जीव की क्या दशा होगी ?

बहुतेरों का सिद्धान्त यह भी है कि दशा किसकी होगी; जीव तो कोई पदार्थ ही नहीं है। घड़ी में जब तक पुर्जे दुरुस्त हैं और ठीक-ठीक लगे हुए हैं, तभी तक उसमें खट-खट, टन-टन आवाज़ आ रही है। जहाँ उसके पुर्जों का लगाव बिगड़ा, वहीं न उसकी गति है, न वह शब्द है। ऐसे ही शरीर का क्रम जब तक ठीक-ठीक बना हुआ है, मुख से शब्द और मन से भाव तथा इंद्रियों से कर्म का प्राकट्य होता है। जहाँ इसके क्रम से व्यतिक्रम हुआ, वहीं सब खेल बिगड़ गया। बस फिर कुछ नहीं, कैसा जीव, कैसी आत्मा ? एक रीति से यह कहना झूठ भी नहीं जान पड़ता, क्योंकि जिसके अस्तित्व का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, उसके

विषय में अन्ततोगत्वा यों ही कहा जा सकता है। इसी प्रकार स्वर्ग-नरकादि के सुख-दुःखादि का होना भी नास्तिकों के ही मत से नहीं, किन्तु बड़े-बड़े आस्तिकों के सिद्धान्त से भी "अविदित-सुख-दुःख निर्विशेष-स्वरूप' के अतिरिक्त कुछ समझ में नहीं आता।

स्कूल में हमने भी सारा भूगोल-खगोल पढ़ डाला है, पर नरक और बैकुंठ का पता नहीं पाया। किंतु भय और लालच को छोड़ दें, तो बुरे कामों से घृणा और सत्कर्मों से रुचि न रखकर भी तो अपना और पराया अनिष्ट ही करेंगे। ऐसी-ऐसी बातें सोचने से गोस्वामी तुलसीदासजी का 'गो-गोचर जहँ लगि मन जाई, सो सब माया जानेहु भाई' और श्रीसूरदासजी का 'माया मोहनी मनहरन' कहना प्रत्यक्ष तथा सच्चा जान पड़ता है। फिर हम नहीं जानते कि धोखे को लोग क्यों बुरा समझते हैं? धोखा खानेवाला मूर्ख और धोखा देनेवाला ठग कहलाता है। जब सब कुछ धोखा-ही-धोखा है और धोखे से अलग रहना ईश्वर की भी सामर्थ्य से दूर है, तथा धोखे ही के कारण संसार का चर्खा पिन्न-पिन्न चला जाता है, नहीं तो ढिचर-ढिचर होने लगे वरंच रह ही न जाय, तो फिर इस शब्द का स्मरण वा श्रवण करते ही आपकी नाक-भौंह क्यों सिकुड़ जाती हैं? इसके उत्तर में हम तो यही कहेंगे कि साधारणतः जो धोखा खाता है, वह अपना कुछ-न-कुछ गँवा बैठता है, और जो धोखा देता है उसकी एक-न-एक दिन कलई खुले बिना नहीं रहती है, और हानि सहना

वा प्रतिष्ठा खोना दोनों बातें बुरी हैं, जो बहुधा इसके सम्बन्ध में हो ही जाया करती हैं।

इसी से साधारण श्रेणी के लोग धोखे को अच्छा नहीं समझते, यद्यपि उससे बच नहीं सकते, क्योंकि जैसे काजल की कोठरी में रहनेवाला बेदाग़ नहीं रह सकता, वैसे ही भ्रमात्मक भवसागर में रहनेवाले अल्पसामर्थी जीव का भ्रम से सर्वथा बचा रहना असंभव है, और जो जिससे बच नहीं सकता, उसका उसकी निंदा करना नीति-विरुद्ध है। पर क्या कीजिए, कच्ची खोपड़ी के मनुष्य को प्राचीन प्राज्ञगण अल्पज्ञ कह गए हैं, जिसका लक्षण यही है कि आगा-पीछा सोचे बिना जो मुँह पर आवे कह डालना और जो जी में समावे कर उठना; नहीं तो कोई काम व वस्तु वास्तव में भली अथवा बुरी नहीं होती, केवल उसके व्यवहार का नियम बनने-बिगड़ने से बनाव-बिगाड़ हो जाया करता है।

परोपकार को कोई बुरा नहीं कह सकता, पर किसी को सब कुछ उठा दीजिए, तो क्या भीख माँगके प्रतिष्ठा अथवा चोरी करके धर्म खोइएगा, या भूखों मरके आत्महत्या के पापभागी होइएगा? यों ही किसी को सताना अच्छा नहीं कहा जाता है, पर यदि कोई संसार का अनिष्ट करता हो, उसे राजा से दंड दिलवाइए या आप ही उसका दमन कर दीजिए, तो अनेक लोगों के हित का पुण्य-लाभ होगा।

घी बड़ा पुष्टिकारक होता है, पर दो सेर पी लीजिए, तो उठने-बैठने की शक्ति न रहेगी, और संखिया, सींगिया आदि प्रत्यक्ष

विष हैं, किन्तु उचित रीति से शोधकर सेवन कीजिए तो बहुत से रोग-दोष दूर हो जायँगे। यही लेखा धोखे का भी है। दो-एक बार धोखा खाके धोखेबाज़ों की हिकमतें सीख लो, और कुछ अपनी ओर से झपकी-फुदनी जोड़कर 'उसी की जूती उसी का सिर' कर दिखाओ, तो बड़े भारी अनुभवशाली वरंच 'गुरु गुड़ ही रहा चेला शक्कर हो गया' का जीवित उदाहरण कहलाओगे। यदि इतना न हो सके तो उसे पास न फटकने दो, तो भी भविष्य के लिए हानि और कष्ट से बच जाओगे।

यों ही किसी को धोखा देना हो तो इस रीति से दो कि तुम्हारी चालबाज़ी कोई भाँप न सके, और तुम्हारा बलि-पशु यदि किसी कारण से तुम्हारे हथकंडे ताड़ भी जाय तो किसी से प्रकाशित करने के काम का न रहे। फिर बस, अपनी चतुरता के मधुर फल को मूर्खों के आँसू तथा गुरु-घंटालों के धन्यवाद की वर्षा के जल से धो और स्वादपूर्वक खा। इन दोनों रीतियों से धोखा बुरा नहीं है। अगले लोग कह गये हैं कि आदमी कुछ खोके सीखता है, अर्थात् धोखा खाए बिना अक्लि नहीं आती, और बेईमानी तथा नीति-कुशलता में इतना ही भेद है कि ज़ाहिर हो जाय तो बेईमानी कहलाती है, और छिपी रहे तो बुद्धिमानी है।

हमें आशा है कि इतना लिखने से आप धोखे का तत्त्व यदि निरे खेत के धोखे न हों, मनुष्य हों, तो समझ गए होंगे। पर अपनी ओर से इतना और समझा देना भी हम उचित समझते हैं कि धोखा खाके धोखेबाज़ का पहिचानना साधारण समझवालों का

काम है। इससे जो लोग अपनी भाषा, भोजन, भेष, भाव और भ्रातृत्व को छोड़के आपसे भी छुड़वाया चाहते हों, उनको समझे रहिए कि स्वयं धोखा खाये हुए हैं, और दूसरों का धोखा दिया चाहते हैं। इससे ऐसों से बचना परम कर्तव्य है, और जो पुरुष एवं पदार्थ अपने न हों, वे देखने में चाहे जैसे सुशील और सुंदर हों, पर विश्वास के पात्र नहीं हैं, उनसे धोखा हो जाना असंभव नहीं है। बस, इतना स्मरण रखियेगा तो धोखे से उत्पन्न होनेवाली विपत्तियों से बचे रहियेगा, नहीं तो हमें क्या। अपनी कुमति का फल अपने ही आँसुओं से धोओ और खाओगे, क्योंकि जो हिन्दू होकर ब्रह्मवाक्य नहीं मानता वह धोखा खाता है।

—प्रतापनारायण मिश्र

आशीर्वाद

तीसरे पहर का समय था। दिन जल्दी-जल्दी ढल रहा था और सामने से संध्या फुर्ती के साथ पाँव बढ़ाये चली आती थी। शर्मा महाराज बूटी की धुन में लगे हुए थे। सिल-बट्टे से भंग रगड़ी जा रही थी। मिर्च-मसाला साफ़ हो रहा था, बादाम-इलायची के छिलके उतारे जाते थे, नागपुरी नारंगियाँ छील-छीलकर रस निकाला जाता था। इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं। चीलें नीचे उतर रही हैं। तबियत सुरसुरा उठी। इधर भंग, उधर घटा, बहार में बहार। उतने में वायु का वेग बढ़ा, चीलें अदृश्य हुईं। अँधेरा छाया, बूँदें गिरने लगीं, साथ ही तड़-तड़, धड़-धड़ होने लगी, देखो ओले गिर रहे हैं। ओले थमे, कुछ वर्षा हुई, 'बम्-भोला कह-कर शर्माजी ने एक लोटा भर चढ़ाई। ठीक उसी समय लालडिग्गी पर बड़े लाट मिंटो ने बंग देश के भूतपूर्व छोटे लाट उडबर्न की मूर्ति खोली। ठीक एक ही समय कलकत्ते में ये दो आवश्यक काम हुए। भेद इतना ही था कि शिवशंभु शर्मा के बरा-मदे की छत पर बूँदें गिरती थीं, और लार्ड मिंटो के सिर या छाते पर।

भंग छानकर महाराजजी ने खटिया पर लंबी तानी। कुछ काल

सुषुप्ति के आनंद में निमग्न रहे। अचानक धड़-धड़, तड़-तड़ के शब्द ने कानों में प्रवेश किया। आँखें मलते उठे। वायु के झोकों से किवाड़ पुर्जे-पुर्जे हुआ चाहते थे। बरामदे की टीनों पर तड़ातड़ के साथ ठनाका भी होता था। एक दरवाज़े के किवाड़ खोलकर बाहर की ओर झाँका तो हवा के झोंकों ने दस-बीस बूँदों और दो-चार ओलों से शर्माजो के श्रीमुख का अभिषेक किया। कमरे के अंदर भी ओलों की एक बौछाड़ पहुँची। फुर्ती से किवाड़ बन्द किये। तथापि एक शीशा चूर हुआ। इतने में ठन-ठन करके दस बजे। शर्माजी फिर चारपाई पर लम्बायमान हुए। कान टीन और ओलों के सम्मिलन की टनाटन का मधुर शब्द सुनने लगे, आँखें और हाथ-पाँव सुख में थे, पर विचार के घोड़े को विश्राम न था। वह ओलों की चोट से बाज़ुओं को बचाता हुआ परिन्दों की तरह इधर-उधर उड़ रहा था। गुलाबी नशे में विचारों का तार बँधा कि बड़े लाट फुर्ती से अपनी कोठी में घुस गये होंगे और दूसरे अमीर भी अपने-अपने घरों में चले गये होंगे, पर वह चील कहाँ गई होंगी?..........हा, शिवशंभु को इन पक्षियों की चिन्ता है, पर यह नहीं जानता कि इस अभ्रस्पर्शी अट्टालिकाओं से परिपूरित महानगर में सहस्रों अभागे रात बिताने को झोंपड़ी भी नहीं रखते। इस समय सहस्रों अट्टालिकाएँ शून्य पड़ी हैं।

आन की आन में विचार बदला, नशा उड़ा, हृदय पर दुर्बलता आई। भारत! तेरी वर्तमान दशा में हर्ष को अधिक देर स्थिरता कहाँ? प्यारी भंग! तेरी कृपा से कभी कुछ काल के लिये

चिन्ता दूर हो जाती है। इसी से तेरा सहयोग अच्छा समझा है। नहीं तो यह अधबूढ़ा भंगड़ क्या सुख का भूखा है। घावों से चूर जैसे नींद में पड़कर अपने कष्ट भूल जाता है अथवा स्वप्न में अपने को स्वस्थ देखता है, तुझे पीकर शिवशंभु भी वैसे ही कभी अपने कष्टों को भूल जाता है।

चिंता-स्रोत दूसरी ओर फिरा। विचार आया कि काल अनन्त है, जो बात इस समय है वह सदा न रहेगी। इससे एक समय अच्छा भी आ सकता है। जो बात आज आठ-आठ आँसू रुलाती है, वही किसी दिन बड़ा आनंद उत्पन्न कर सकती है। एक दिन ऐसी ही काली रात थी। इससे भी घोर अँधेरी भादों कृष्णा अष्टमी की अर्द्धरात्रि, चारों ओर घोर अंधकार—वर्षा होती थी, बिजली कौंदती थी, घन गरजते थे। यमुना उत्ताल तरंगों में बह रही थी। ऐसे समय में एक दृढ़ पुरुष एक सद्यजात शिशु को गोद में लिये मथुरा के कारागार से निकल रहा था......वह और कोई नहीं थे, यदुवंशी महाराज वसुदेव थे और नवजात शिशु कृष्ण। वही बालक आगे कृष्ण हुआ, ब्रज-प्यारा हुआ, माँ-बाप को आँखों का तारा हुआ, यदुकुल-मुकुट हुआ, उस समय की राजनीति का अधिष्ठाता हुआ। जिधर वह हुआ, उधर विजय हुई। जिसके विरुद्ध हुआ, पराजय हुई। वही हिन्दुओं का सर्वप्रधान अवतार हुआ और शिवशंभु शर्मा का इष्टदेव। वह कारागार भारत-संतान के लिये तीर्थ हुआ। वहाँ की धूलि मस्तक पर चढ़ाने के योग्य हुई।

"बर ज़मीने की निशाने कफ़पाये तो बुवद
सालहा सिजद्ये साहिब नज़राँ ख्वाह बूद ॥"*

तब तो जेल बुरी जगह नहीं है।

—बालमुकुन्द गुप्त

नोटः—

* जिस भूमि पर तेरा पद-चिह्न है, उसपर दृष्टिवाले सैकड़ों वर्ष तक अपना मस्तक टेकेंगे।

एक दुराशा

नारंगी के रस में जाफ़रानी बसंती बूटी छानकर शिवशंभु शर्मा खटिया पर पड़े मौजों का आनंद ले रहे थे। ख़याली घोड़े की बागें ढीली कर दी थीं। वह मनमानी जकंदें भर रहा था। हाथ-पाँव को भी स्वाधीनता दी गई थी। वे खटिया के तूलअरज की सीमा उल्लंघन करके इधर-उधर निकल गये थे। कुछ देर इसी प्रकार शर्माजी का शरीर खटिया पर था और ख़याल दूसरी दुनिया में। अचानक एक सुरीली गाने की आवाज़ ने चौंका दिया। कनरसिया शिवशंभु खटिया पर उठ बैठे। कान लगाकर सुनने लगे। कानों में यह मधुर गीत बार-बार अमृत ढालने लगा।

"चलो चलो आज खेलैं होली, कन्हैया घर"। कमरे से निकलकर बरामदे में खड़े हुए। मालूम हुआ कि पड़ोस में किसी अमीर के यहाँ गाने-बजाने की महफ़िल हो रही है। कोई सुरीली लय से उक्त होली गा रहा है। साथ ही देखा, बादल घिरे हुए हैं, बिजली चमक रही है, रिमझिम झड़ी लगी हुई है। वसंत में सावन देखकर अकल ज़रा चक्कर में पड़ी। विचारने लगे कि गानेवाले को मलार गाना चाहिए था, न कि होली। साथ ही ख़याल आया कि फागुन सुदी है, वसंत के विकास का समय है, वह होली क्यों न गावे। इसमें तो गानेवाले की नहीं, विधि की भूल है जिसने

वसंत में सावन बना दिया है। कहाँ तो चाँदनी छिटकी होती, निर्मल वायु बहती, कोयल की कूक सुनाई देती, कहाँ भादों की सी अँधियारी है, वर्षा की झड़ी लगी हुई है। ओह! कैसा ऋतु-विपर्यय है।

इस विचार को छोड़कर गीत के अर्थ का जी में विचार आया। होली-खिलैया कहते हैं कि चलो आज कन्हैया के घर होली खेलेंगे। कन्हैया कौन? व्रज के राजकुमार। और खेलनेवाले कौन? उनकी प्रजा—ग्वालबाल। इस विचार ने शिवशंभु शर्मा को और भी चौंका दिया कि ऐं! क्या भारत में ऐसा समय भी था जब प्रजा के लोग राजा के घर जाकर होली खेलते थे और राज-प्रजा मिलकर आनन्द मनाते थे? क्या इसी भारत में राजा लोग प्रजा के आनन्द को किसी समय अपना आनंद समझते थे? यदि आज शिवशंभु शर्मा अपने मित्रवर्ग-सहित अबीर गुलाल की झोलियाँ भरे, रंग की पिचकारियाँ लिये, अपने राजा के घर होली खेलने जायँ तो कहाँ जायँ? राजा दूर सात समुद्र पार है। न राजा को शिवशंभु ने देखा, न राजा ने शिवशंभु को! ख़ैर, राजा नहीं उसने अपना प्रतिनिधि भारत भेजा है। कृष्ण द्वारका में ही हैं, पर उद्धव को प्रतिनिधि बनाकर व्रज-वासियों को संतोष देने के लिये व्रज में भेजा है। क्या उस राज-प्रतिनिधि के घर जाकर शिवशंभु होली नहीं खेल सकता? ओफ़! यह विचार वैसा ही बेतुका है जैसे अभी वर्षा में होली गाई जाती थी। पर इसमें गानेवाले का क्या दोष है? वह तो समय समझकर

ही गा रहा था। यदि वसंत में वर्षा की झड़ी लगे तो गानेवाले को क्या मलार गाना चाहिये ? सचमुच बड़ी कठिन समस्या है। कृष्ण हैं, उद्धव हैं, पर व्रजवासी उनके निकट भी नहीं फटकने पाते। सूर्य है, धूप नहीं। चन्द्र है, चाँदनी नहीं। माई लार्ड नगर में ही हैं, पर शिवशंभु उनके द्वार तक नहीं फटक सकता है, उनके घर चल होली खेलना तो विचार ही दूसरा है। माई लार्ड के घर तक बात की हवा तक नहीं पहुँच सकती ! जहाँगीर की तरह उसने अपने शयनागार तक ऐसा कोई घंटा नहीं लगाया जिसकी जंजीर बाहर से हिलाकर प्रजा अपनी फरियाद उसे सुना सके। उसका दर्शन दुर्लभ है। द्वितीया के चँद्र की भाँति कभी-कभी बहुत देर तक नज़र गड़ाने से उसका चंद्रानन दिख जाता है तो दिख जाता है। लोग उँगलियों से इशारे करते हैं कि वह है। किंतु दूज के चाँद के उदय का भी एक समय है, लोग उसे जान सकते हैं। माई लार्ड के मुखचंद्र के उदय के लिए कोई समय भी नियत नहीं।

इन सब विचारों ने इतनी बात तो शिवशंभु के जी में भी पक्की कर दी कि अब राजा-प्रजा के मिलकर होली खेलने का समय गया। तो भी इतना संदेश भंगड़ शिवशंभु अपने प्रभु तक पहुँचा देना चाहता है कि आपके द्वार पर होली खेलने की आशावाले एक ब्राह्मण को कुछ नहीं तो कभी-कभी पागल समझकर ही स्मरण कर लेना। वह आपकी गूँगी प्रजा का एक वकील है।

—बालमुकुन्द गुप्त

राजा भोज का सपना

वह कौनसा मनुष्य है जिसने महाप्रतापी राजा महाराज भोज का नाम न सुना हो। उसकी महिमा और कीर्ति तो सारे जगत् में व्याप रही है। बड़े-बड़े महिपाल उसका नाम सुनते ही काँप उठते और बड़े-बड़े भूपति उसके पाँव पर अपना सिर नवाते, सेना उसकी समुद्र की तरंगों का नमूना और खज़ाना उसका सोने चांदी और रत्नों की खान से भी दूना। उसके दान ने राजा कर्ण को लोगों के जी से भुलाया और उसके न्याय ने विक्रम को भी लजाया। कोई उसके राज्य-भर में भूखा न सोता और न कोई उघाड़ा रहने पाता। जो कोई सत्तू माँगने आता उसे मोतीचूर मिलता और जो गजी चाहता उसे मलमल दी जाती। पैसे की जगह लोगों को अशर्फियाँ बाटता और मेह की तरह भिखारियों पर मोती बरसाता। एक-एक श्लोक के लिये ब्राह्मणों को लाख-लाख रुपया उठा देता और सवा लक्ष ब्राह्मणों को षट्रस भोजन कराके तब आप खाने को बैठता। तीर्थयात्रा, स्नान, दान और व्रत-उपहास में सदा तत्पर रहता। उसने बड़े-बड़े चांद्रायण किये थे और बड़े-बड़े जंगल-पहाड़ छान डाले थे।

एक दिन शरद् ऋतु में संध्या के समय सुंदर फुलवाड़ी के

बीच स्वच्छ पानी के कुंड के तीर, जिसमें कुमुद और कमलों के बीच जलपक्षी कलोलें कर रहे थे, रत्नजटित सिंहासन पर कोमल तकिए के सहारे स्वस्थचित्त बैठा हुआ वह महलों की सुनहरी कलसियाँ लगी हुई संगमर्मर की गुमजियों के पीछे से उदय होता हुआ पूर्णिमा का चंद्रमा देख रहा था और निर्जन एकांत होने के कारण मन-ही-मन में सोचता था कि अहो ! मैंने अपने कुल को ऐसा प्रकाश किया जैसे सूर्य से इन कमलों का विकास होता है। क्या मनुष्य और क्या जीव-जंतु, मैंने अपना सारा जन्म इन्हीं का भला करने में गँवाया और व्रत-उपवास करते-करते फूल-से शरीर को काँटा बनाया। जितना मैंने दान किया, उतना तो कभी किसी के ध्यान में भी न आया होगा। जो मैं ही नहीं तो फिर और कौन हो सकता है ? मुझे अपने ईश्वर पर दावा है, वह अवश्य मुझे अच्छी गति देगा। ऐसा कब हो सकता है कि मुझे कुछ दोष लगे ?

इसी अर्से में चोबदार ने पुकारा—"चौधरी इन्द्रदत्त निगाह रूबरू !" श्री महाराज सलामत भोज ने आँख उठाई, दीवान ने साष्टांग दंडवत् की, फिर सम्मुख जा हाथ जोड़ यों निवेदन किया—"पृथ्वीनाथ, सड़क पर वे कुएँ, जिनके वास्ते आपने हुक्म दिया था, बनकर तैयार हो गये हैं और आम के बाग भी सब जगह लग गए। जो पानी पीता है आपको असीस देता है और जो उन पेड़ों की छाया में विश्राम करता आपकी बढ़ती दौलत मनाता है।" राजा अति प्रसन्न हुआ और बोला कि "सुन मेरी अमलदारी-भर में जहाँ-जहाँ सड़कें हैं कोस-कोस पर कुएँ खोदवाके

सदाव्रत बैठा दे और दुतरफ़ा पेड़ भी जल्द लगवा दे।" इसी अर्से में दानाध्यक्ष ने आकर आशीर्वाद दिया और निवेदन किया—"धर्मावतार! वह जो पाँच हज़ार ब्राह्मण हर साल जाड़े में रजाई पाते हैं सो डेवढ़ी पर हाज़िर हैं।" राजा ने कहा—"अब पाँच के बदले पचास हज़ार को मिला करे और रजाई की जगह शाल-दुशाले दिये जावें।" दानाध्यक्ष दुशालों के लाने के वास्ते तोशेख़ाने में गया। इमारत के दारोग़ा ने आकर मुजरा किया और ख़बर दी कि "महाराज! उस बड़े मंदिर की, जिसके जल्द बना देने के वास्ते सरकार से हुक्म हुआ है, आज नींव खुद गई, पत्थर गढ़े जाते हैं और लुहार लोहा भी तैयार कर रहे हैं।" महाराज ने तिउरियाँ बदलकर उस दारोग़ा का ख़ूब घुड़का—"अरे मूर्ख, वहाँ पत्थर और लोहे का क्या काम है? बिल्कुल मंदिर संगमर्मर और संगमूसा से बनाया जावे और लोहे के बदले उसमें सब जगह सोना काम में आवे जिसमें भगवान् भी उसे देखकर प्रसन्न हो जावें और मेरा नाम इस संसार में अतुल कीर्ति पावे।"

यह सुनकर सारा दरबार पुकार उठा कि "धन्य महाराज! क्यों न हो? जब ऐसे हो तब तो ऐसे हो। आपने इस कलिकाल को सतयुग बना दिया, मानों धर्म का उद्धार करने को जगत् में अवतार लिया। आज आपसे बढ़कर और दूसरा कौन ईश्वर का प्यारा है, हमने तो पहले ही से आपको साक्षात धर्मराज विचारा है।" व्यासजी ने कथा आरंभ की, भजन-कीर्तन होने लगा। चाँद सिर पर चढ़ आया। घड़ियाली ने निवेदन किया कि "महाराज!

आधी रात के निकट है।" राजा की आँखों में नींद आ रही थी; व्यास कथा कहते थे, पर राजा को ऊँघ आती थी। वह उठकर रनवास में गया।

जड़ाऊ पलँग और फूलों की सेज पर सोया। रानियाँ पैर दाबने लगीं। राजा की आँख झप गई, तो स्वप्न में क्या देखता है कि वह बड़ा संगमर्मर का मंन्दिर बनकर बिलकुल तैयार हो गया, जहाँ कहीं उसपर नक्काशी का काम किया है वहाँ उसने बारीकी और सफ़ाई में हाथीदाँत को भी मात कर दिया है, जहाँ कहीं पच्चीकारी का हुनर दिखलाया है वहाँ जवाहिरों को पत्थर में जड़कर तसवीर का नमूना बना दिया है। कहीं लालों के गुल्लालों पर नीलम की बुलबुलें बैठी हैं और ओस की जगह हीरों के लोलक लटकाए हैं, कहीं पुखराज की डंडियों से पन्ने के पत्ते निकालकर मोतियों के भुट्टे लगाए हैं। सोने की चोबों पर शामियाने और उनके नीचे बिल्लौर के हौजों में गुलाब और केवड़े के फुहारे छूट रहे हैं। मनों धूप जल रहा है, सैकड़ों कपूर के दीपक बल रहे हैं। राजा देखते ही मारे घमंड के फूलकर मशक बन गया। कभी नीचे कभी ऊपर, कभी दाहने कभी बाएँ निगाह करता और मन में सोचता कि अब इतने पर भी मुझे क्या कोई स्वर्ग में घुसने से रोकेगा या पवित्र पुण्यात्मा न कहेगा? मुझे अपने कर्मों का भरोसा है, दूसरे किसी से क्या काम पड़ेगा।

इसी अर्से में वह राजा उस सपने के मंदिर में खड़ा-खड़ा क्या देखता है कि एक ज्योति-सी उसके सामने आसमान से उतरी

चली आती है। उसका प्रकाश तो हज़ारों सूर्य से भी अधिक है, परन्तु जैसे सूर्य को बादल घेर लेता है उस प्रकार उसने मुँह पर घूँघट-सा डाल लिया है, नहीं तो राजा की आँखें कब उसपर ठहर सकती थीं; इस घूँघट पर भी वे मारे चकाचौंध के झपकी चली जाती थीं। राजा उसे देखते ही काँप उठा और लड़खड़ाती-सी ज़बान से बोला कि हे महाराज! आप कौन हैं और मेरे पास किस प्रयोजन से आए हैं? उस पुरुष ने बादल की गरज के समान गंभीर उत्तर दिया कि मैं सत्य हूँ, अंधो की आँखें खोलता हूँ, मैं उनके आगे से धोखे की टट्टी हटाता हूँ, मैं मृगतृष्णा के भटके हुओं का भ्रम मिटाता हूँ और सपने के भूले हुओं को नींद से जगाता हूँ। हे भोज! अगर कुछ हिम्मत रखता है, तो आ, हमारे साथ आ और हमारे तेज के प्रभाव से मनुष्यों के मन के मंदिरों का भेद ले; इस समय हम तेरे ही मन को जाँच रहे हैं। राजा के जी पर एक अजब दहशत-सी छा गई। नीची निगाह करके वह गर्दन खुजाने लगा। सत्य बोला, भोज! तू डरता है, तुझे अपने मन का हाल जानने में भी भय लगता है? भोज ने कहा—नहीं, इस बात से तो नहीं डरता, क्योंकि जिसने अपने तईं नहीं जाना, उसने फिर क्या जाना? सिवाय इसके मैं तो आप चाहता हूँ कि कोई मेरे मन की थाह लेवे और अच्छी तरह से जाँचे। मारे व्रत और उपवासों के मैंने अपना फूल-सा शरीर काँटा बनाया, ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा देते-देते सारा खज़ाना खाली कर डाला, कोई तीर्थ बाकी न रखा, कोई नदी या तालाब

नहाने से न छोड़ा, ऐसा कोई आदमी नहीं कि जिसकी निगाह में मैं पवित्र पुण्यात्मा न ठहरूँ। सत्य बोला—"ठीक, पर भोज, यह तो बतला कि तू ईश्वर की निगाह में क्या है? क्या हवा में बिना धूप त्रसरेणु कभी दिखलाई देते हैं? पर सूर्य की किरण पड़ते ही कैसे अनगिनत चमकने लग जाते हैं? क्या कपड़े से छाने हुए मैले पानी में किसी को कीड़े मालूम पड़ते हैं? पर जब खुर्दबीन शीशे को लगाकर देखो तो एक-एक बूँद में हज़ारों ही जीव सूझने लग जाते हैं। जो तू उस बात के जानने से, जिसे अवश्य जानना चाहिये, डरता नहीं, तो आ मेरे साथ आ, मैं तेरी आँखें खोलूँगा।"

निदान सत्य यह कह राजा को उस बड़े मंदिर के ऊँचे दरवाज़े पर चढ़ा ले गया, जहाँ से सारा बाग दिखलाई देता था और फिर वह उससे यों कहने लगा कि भोज, मैं अभी तेरे पापकर्मों की कुछ भी चर्चा नहीं करता। क्योंकि तूने अपने तईं निरा निष्पाप समझ रखा है, पर यह तो बतला कि तूने पुण्यकर्म कौन-कौनसे किए हैं कि जिनसे सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर संतुष्ट होगा। राजा यह सुनके अत्यंत प्रसन्न हुआ। यह तो मानों उसके मन की बात थी। पुण्यकर्म के नाम ने उसके चित्त को कमल-सा खिला दिया। उसे निश्चय था कि पाप तो मैंने चाहे किया हो चाहे न किया हो, पर पुण्य मैंने इतना किया है कि भारी-से-भारी पाप भी उसके पासंग में न ठहरेगा। राजा को वहाँ उस समय सपने में तीन पेड़ बड़े ऊँचे अपनी आँख के सामने दिखाई दिये। फलों से वे इतने लदे

हुए थे कि मारे बोझ के उनकी टहनियाँ धरती तक झुक गई थीं। राजा उन्हें देखते ही हरा हो गया और बोला कि सत्य, यह ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया अर्थात् ईश्वर और मनुष्य दोनों की प्रीति के पेड़ हैं, देख फलों के बोझ से ये धरती पर नए हैं। ये तीनों मेरे ही लगाए हैं। पहले में तो वे सब लाल-लाल फल मेरे दान से लगे हैं और दूसरे में वे पीले-पीले मेरे न्याय से और तीसरे में ये सब सफ़ेद फल मेरे तप का प्रभाव दिखाते है। मानों उस समय यह ध्वनि चारों ओर से राजा के कानों में चली आती थी कि धन्य हो! आज तुम-सा पुण्यात्मा दूसरा कोई नहीं, तुम साक्षात् धर्म के अवतार हो; इस लोक में भी तुमने बड़ा पद पाया है और उस लोक में भी इससे अधिक मिलेगा, तुम मनुष्य और ईश्वर दोनों की आँखों में निर्दोष और निष्पाप हो। सूर्य के मंडल में लोग कलंक बतलाते हैं, पर तुमपर एक छींटा भी नहीं लगाते।

सत्य बोला कि "भोज, जब मैं इन पेड़ों के पास था जिन्हें तू ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया के बतलाता है, तब तो इनमें फल-फूल कुछ भी नहीं थे, ये निरे ठूँठ-से खड़े थे। ये लाल, पीले और सफ़ेद फल कहाँ से आ गए? ये सचमुच उन पेड़ों में फल लगे हैं या तुझे फुसलाने और वश करने को किसी ने उनकी टहनियों से लटका दिए हैं? चल, उन पेड़ों के पास चलकर देखें तो सही। मेरी समझ में तो ये लाल-लाल फल, जिन्हें तू अपने दान के प्रभाव से लगे बतलाता है, यश और कीर्ति फैलाने की

चाह अर्थात् प्रशंसा पाने की इच्छा ने इस पेड़ में लगाए हैं।" निदान ज्यों ही सत्य ने उस पेड़ को छूने को हाथ बढ़ाया, राजा सपने में क्या देखता है कि वे सारे फल, जैसे आसमान से ओले गिरते हैं, एक आन-की-आन में धरती पर गिर पड़े। धरती सारी लाल हो गई; पेड़ों पर सिवाय पत्तों के कुछ न रहा। सत्य ने कहा कि "राजा, जैसे कोई किसी चीज़ को मोम से चिपकाता है, उसी तरह तूने अपने भुलाने को प्रशंसा की इच्छा से ये फल इस पेड़ पर लगा लिए थे। सत्य के तेज से यह मोम गल गया, पेड़ ठूँठ-का-ठूँठ रह गया। जो तूने दिया और किया, सब दुनिया के दिखलाने और मनुष्यों से प्रशंसा पाने के लिये, केवल ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया से तो कुछ भी नहीं दिया। यदि कुछ दिया हो या किया हो, तो तू ही क्यों नहीं बतलाता। मूर्ख, इसी के भरोसे पर तू फूला हुआ स्वर्ग में जाने को तैयार हुआ था।"

भोज ने एक ठंढी साँस ली। उसने तो औरों को भूला समझा था, पर वह सबसे अधिक भूला हुआ निकला। सत्य ने उस पेड़ की तरफ़ हाथ बढ़ाया जो सोने की तरह चमकते हुए पीले-पीले फलों से लदा हुआ था। सत्य बोला, "राजा ये फल तूने अपने भुलाने को, स्वर्ग की स्वार्थसिद्धि करने की इच्छा से, लगा लिए थे। कहनेवाले ने ठीक कहा है कि मनुष्य मनुष्य के कर्मों से उसके मन की भावना का विचार करता है और ईश्वर मनुष्य के मन की भावना के अनुसार उसके कर्मों का हिसाब लेता है। तू अच्छी तरह जानता है

कि यही न्याय तेरे राज्य की जड़ है। जो न्याय न करे, तो फिर यह राज्य तेरे हाथ में क्यों कर रह सके। जिस राज्य में न्याय नहीं वह तो बे-नीव का घर है, बुढ़िया के दाँतों की तरह हिलता है, अब गिरा, तब गिरा। मूर्ख, तू ही क्यों नहीं बतलाता कि यह तेरा न्याय स्वार्थ सिद्ध करने और सांसारिक सुख पाने की इच्छा से है अथवा ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया से ?"

भोज की पेशानी पर पसीना हो आया, उसने आँखें नीची कर लीं, उससे जवाब कुछ न बन पड़ा। तीसरे पेड़ की बारी आई। सत्य का हाथ लगते ही उसकी भी वही हालत हुई। राजा अत्यंत लज्जित हुआ। सत्य ने कहा कि "मूर्ख ! ये तेरे तप के फल कदापि नहीं, इनको तो इस पेड़ पर तेरे अहंकार ने लगा रखा था। वह कौन-सा व्रत व तीर्थयात्रा है जो तूने निरहंकार केवल ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया से की हो ? तूने यह तप केवल इसी वास्ते किया कि जिसमें तू अपने तईं औरों से अच्छा और बढ़कर विचारे। ऐसे ही तप पर गोबर-गनेस तू स्वर्ग मिलने की उम्मेद रखता है ? पर यह तो बतला कि मंदिर के उन मुँडेरों पर वे जानवर-से क्या दिखलाई देते हैं; कैसे सुंदर और प्यारे मालूम होते हैं। पर तो उनके पन्ने के हैं और गर्दन फ़ीरोज़े की, दुम में सारे किस्म के जवाहिरात जड़ दिये हैं।" राजा के जी में घमंड की चिड़िया ने फिर फुरफुरी ली। मानों बुझते हुए दीये की तरह वह जगमगा उठा। जल्दी से उसने जवाब दिया कि "हे सत्य, यह जो कुछ तू मंदिर की मुँडेरों पर देखता है मेरे संध्यावंदन का प्रभाव है। मैंने जो

रातों जाग-जागकर और माथा रगड़ते-रगड़ते इस मंदिर की देहली को घिसकर ईश्वर की स्तुति-वंदना और विनती-प्रार्थना की है वे ही अब चिड़ियों की तरह पंख फैलाकर आकाश को जाती हैं, मानों ईश्वर के सामने पहुँचकर अब मुझे स्वर्ग का राजा बनाती हैं।" सत्य ने कहा कि "राजा, दीनबंधु करुणासागर श्री-जगन्नाथ जगदीश्वर अपने भक्तों की बिनती सदा सुनता रहता है। और जो मनुष्य शुद्ध-हृदय और निष्कपट होकर नम्रता और श्रद्धा के साथ अपने दुष्कर्मों का पश्चात्ताप अथवा उनके क्षमा होने का टुक भी निवेदन करता है, वह उसका निवेदन उसी दम सूर्य-चाँद को वेधकर पार हो जाता है, फिर क्या कारण कि ये सब अब तक मंदिर के मुँडेरे पर बैठे रहे? आ चल, देखें तो सही, हम लोगों के पास जाने पर आकाश को उड़ जाते हैं या उसी जगह पर परकटे कबूतरों की तरह फड़फड़ाया करते हैं।

भोज डरा, लेकिन उसने सत्य का साथ न छोड़ा। जब वह मुँडेरे पर पहुँचा, तो क्या देखता है कि वे सारे जानवर, जो दूर से ऐसे सुंदर दिखलाई देते थे, मरे हुए पड़े हैं; पंख नुचे-खुचे और बहुतेरे बिलकुल सड़े हुए, यहाँ तक कि मारे बदबू के राजा का सिर भिन्ना उठा। दो-एक ने, जिनमें कुछ दम बाकी था, जो उड़ने का इरादा भी किया, तो उनका पंख पारे की तरह भारी हो गया और उसने उन्हें उसी ठौर दबा रखा। वे तड़फा ज़रूर किए, पर उड़ ज़रा भी न सके। सत्य बोला—"भोज, बस यही तेरे पुण्यकर्म हैं, इसी स्तुति-वंदना और विनती-प्रार्थना के

भरोसे पर तू स्वर्ग में जाया चाहता है। सूरत तो इनकी बहुत अच्छी है, पर जान बिलकुल नहीं। तूने जो कुछ किया, केवल लोगों के दिखलाने को, जी से कुछ भी नहीं। जो तू एक बार भी जी से पुकारा होता कि "दीनबंधु दीनानाथ दीनहितकारी! मुझ पापी महा-अपराधी डूबते हुए को बचा और कृपादृष्टि कर, तो वह तेरी पुकार तीर की तरह तारों से पार पहुँची होती।" राजा ने सिर नीचा कर लिया, उससे उत्तर कुछ न बन आया। सत्य ने कहा कि "भोज! अब आ, फिर इस मंदिर के अंदर चलें और वहाँ तेरे मन के मंदिर को जाँचें। यद्यपि मनुष्य के मन के मंदिर में ऐसे-ऐसे अँधेरे तहख़ाने और तलघरे पड़े हुए हैं कि उनको सिवाय सर्वदर्शी, घटघट-अंतर्यामी सकल-जगत्स्वामी के और कोई भी नहीं देख अथवा जाँच सकता, तो भी तेरा परिश्रम व्यर्थ न जायगा।

राजा सत्य के पीछे खिंचा-खिंचा फिर मंदिर के अंदर घुसा, पर अब तो उसका हाल ही कुछ-से-कुछ हो गया। सचमुच सपने का खेल-सा दिखलाई दिया। चाँदी की सारी चमक जाती रही, सोने की बिलकुल दमक उड़ गई, सोने में लोहे की तरह मोर्चा लगा हुआ, जहाँ-जहाँ से मुलम्मा उड़ गया था, भीतर का ईंट-पत्थर कैसा बुरा दिखलाई देता था। जवाहिरों की जगह केवल काले-काले दाग रह गये थे, और संगमर्मर की चट्टानों में हाथ-हाथ-भर गहरे गढ़े पड़ गये थे। राजा यह देखकर भौचक्का-सा रह गया, औसान जाते रहे, हक्का-बक्का बन गया। उसने धीमी आवाज़ से पूछा कि

ये टिड्डी-दल की तरह इतने दाग इस मंदिर में कहाँ से आए? जिधर मैं निगाह उठाता हूँ सिवाय काले-काले दागों के और कुछ भी नहीं दिखलाई देता। ऐसा तो छीपी छींट भी नहीं छापेगा और न शीतला से बिगड़ा किसी का चेहरा ही देख पड़ेगा। सत्य बोला कि "राजा, ये दाग, जो तुझे इस मंदिर में दिखलाई देते हैं, दुर्वचन हैं जो दिन-रात तेरे मुख से निकला किए हैं। याद तो कर, तूने क्रोध में आकर कैसी कड़ी-कड़ी बातें लोगों को सुनाई हैं। क्या खेल में और क्या अपना अथवा दूसरे का चित्त प्रसन्न करने को, क्या रुपया बचाने अथवा अधिक लाभ पाने को और दूसरे का देश अपने हाथ में लाने अथवा किसी बराबरवाले से अपना मतलब निकालने और दुश्मनों को नीचा दिखलाने को तैंने कितना झूठ बोला है। अपने ऐब छिपाने और दूसरे की आँखों में अच्छा मालूम होने अथवा झूठी तारीफ़ पाने के लिये तैंने कैसी-कैसी शेखियाँ हाँकी हैं और अपने को औरों से अच्छा और औरों को अपने से बुरा दिखलाने को कहाँ तक बातें बनाई हैं, सो क्या अब कुछ भी याद न रहा, बिलकुल एकबारगी भूल गया? पर वहाँ तो वे तेरे मुँह से निकलते ही वही में दर्ज हुईं। तू इन दागों के गिनने में असमर्थ है, पर उस घट-घट-निवासी अनंत अविनाशी को एक-एक बात, जो तेरे मुँह से निकली है, याद है और याद रहेगी। उनके निकट भूत और भविष्य वर्तमान-सा है।"

भोज ने सिर न उठाया, पर उसी दबी ज़बान से इतना मुँह से और निकाला कि दाग तो दाग, पर ये हाथ-हाथ भर के गढ़े

क्योंकर पड़ गए, सोने-चाँदी में मोर्चा लगकर ये ईंट-पत्थर कहाँ से दिखलाई देने लगे ? सत्य ने कहा कि "राजा, क्या तूने कभी किसी को कोई लगती हुई बात नहीं कही अथवा बोली-ठोली नहीं मारी ? अरे नादान, यह बोली-ठोली तो गोली से अधिक काम कर जाती है; तू तो इन गढ़ों ही को देखकर रोता है, पर तेरे ताने तो बहुतों की छातियों से पार हो गए। जब अहंकार का मोर्चा लगा, तो फिर यह दिखलावे का मुलम्मा कब तक ठहर सकता है ? स्वार्थ और अश्रद्धा का ईंट-पत्थर प्रकट हो गया।" राजा को इस अर्से में चिमगादड़ों ने बहुत तंग कर रखा था। मारे बू के सिर फटा जाता था। भुनगों और पतंगों से सारा मकान भर गया था, बीच-बीच में पंखवाले साँप और बिच्छू भी दिखलाई देते थे। राजा घबराकर चिल्ला उठा कि यह मैं किस आफ़त में पड़ा, इन कमबख़्तों को यहाँ किसने आने दिया ? सत्य बोला "राजा, सिवाय तेरे इनको यहाँ और कौन आने देगा ? तू ही तो इन सबको लाया। ये सब तेरे मन की बुरी वासनाएँ हैं। तूने समझा था कि जैसे समुद्र में लहरें उठा और मिटा करती हैं उसी तरह मनुष्य के मन में भी संकल्प की मौजें उठकर मिट जाती हैं। पर रे मूढ़ ! याद रख, कि आदमी के चित्त में ऐसा सोच-विचार कोई नहीं आता जो जगकर्त्ता प्राणदाता परमेश्वर के सामने प्रत्यक्ष नहीं हो जाता। ये चिमगादड़ और भुनगे और साँप-बिच्छू और कीड़े-मकोड़े जो तुझे दिखाई देते हैं वे सब काम, क्रोध लोभ, मोह, मत्सर, अभिमान, मद, ईर्षा के संकल्प-विकल्प हैं जो दिन-रात

तेरे अंतःकरण में उठा किए और इन्हीं चिमगादड़ और भुनगों और साँप-बिच्छू और कीड़े-मकोड़ों की तरह तेरे हृदय के आकाश में उड़ते रहे। क्या कभी तेरे जी में किसी राजा की ओर से कुछ द्वेष नहीं रहा या उसके मुल्क-माल पर लोभ नहीं आया या अपनी बड़ाई का अभिमान नहीं हुआ या दूसरे की सुंदर स्त्री देखकर उसपर दिल न चला ?"

राजा ने एक बड़ी लंबी ठंढी साँस ली और अत्यंत निराश होके यह बात कही कि इस संसार में ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जो कह सके कि मेरा हृदय शुद्ध और मन में कुछ भी पाप नहीं। इस संसार में निष्पाप रहना बड़ा ही कठिन है। जो पुण्य करना चाहते हैं उनमें भी पाप निकल आता है। इस संसार में पाप से रहित कोई भी नहीं, ईश्वर के सामने पवित्र पुण्यात्मा कोई भी नहीं। सारा मंदिर वरन् सारी धरती आकाश गूँज उठा "कोई भी नहीं, कोई भी नहीं।" सत्य ने जो आँख उठाकर उस मंदिर की एक दीवार की ओर देखा, तो उसी दम संगमर्मर से आईना बन गया। उसने राजा से कहा कि अब टुक इस आईने का भी तमाशा देख और जो कर्त्तव्य कर्मों के न करने से तुझे पाप लगे हैं उनका भी हिसाब ले। राजा उस आईने में क्या देखता है कि जिस प्रकार बरसात की बढ़ी हुई किसी नदी में जल के प्रवाह बहे जाते हैं उसी प्रकार अनगिनत सूरतें एक ओर से निकलती और दूसरी ओर अलोप होती चली जाती हैं। कभी तो राजा को वे सब भूखे और नंगे इस आईने में दिखलाई देते जिन्हें

राजा खाने-पहनने को दे सकता था, पर न देकर दान का रुपया उन्हीं हट्टे-कट्टे मोटे-मुसंड खाते-पीतों को देता रहा, जो उसकी खुशामद करते थे या किसी की सिफ़ारिश ले आते थे या उसके कारदारों को घूँस देकर मिला लेते थे या सवारी के समय माँगते-माँगते और शोरगुल मचाते-मचाते उसे तंग कर डालते थे या दरबार में आकर उसे लज्जा के भँवर में गिरा देते थे या झूठा छापा-तिलक लगाकर उसे मक्र के जाल में फँसा लेते थे या जन्मपत्र के भले-बुरे ग्रह बतलाकर कुछ धमकी भी दिखला देते थे या सुंदर कवित्त और श्लोक पढ़कर उसके चित्त को लुभाते थे। कभी वे दीन-दुखी दिखलाई देते जिनपर राजा के कारदार ज़ुल्म किया करते थे और उसने कुछ भी उसकी तहक़ीक़ात और उपाय न किया। कभी उन बीमारों को देखता जिनका चंगा करा देना राजा के इख़्तियार में था, कभी वे व्यथा के जले और विपत्ति के मारे दिखलाई देते जिनका जी राजा के दो बात कहने से ठंढा और संतुष्ट हो सकता था। कभी अपने लड़के-लड़कियों को देखता था जिन्हें वह पढ़ा-लिखाकर बड़े-बड़े पापों से बचा सकता था। कभी उन गाँव और इलाकों को देखता था जिनमें कुएँ-तालाब और किसानों को मदद देने और उन्हें खेती-बारी की नई-नई तरकीबें बतलाने से हज़ारों गरीबों का भला कर सकता था। कभी उन टूटे हुए पुल और रास्तों को देखता जिन्हें दुरुस्त करने से वह लाखों मुसाफ़िरों को आराम पहुँचा सकता था।

राजा से अधिक देखा न जा सका, थोड़ी देर में घबड़ाकर

हाथों से उसने अपनी आँखें ढाँप लीं। वह अपने घमंड में उन सब कामों को तो सदा याद रखता था और उनकी चर्चा किया करता जिन्हें वह अपनी समझ में पुण्य के निमित्त किये हुए समझता था, पर उसने उन कर्तव्य कामों का कभी टुक सोच न किया जिन्हें अपनी उन्मत्तता से अचेत होकर छोड़ दिया था। सत्य बोला "राजा, अभी से क्यों घबरा गया? आ इधर आ, इस दूसरे आईने में तुझे अब उन पापों को दिखलाता हूँ जो तूने अपनी उमर में किए हैं।" राजा ने हाथ जोड़ा और पुकारा कि बस महाराज, बस कीजिए, जो कुछ देखा उसी में मैं तो मिट्टी हो गया, कुछ भी बाकी न रहा, अब आगे क्षमा कीजिए। पर यह बतलाइए कि आपने यहाँ आकर मेरे शर्वत में क्यों जहर घोला और पकी-पकाई खीर में साँप का विष उगला और मेरे आनंद को इस मंदिर में आकर नाश में मिलाया जिसे मैंने सर्वशक्तिमान् भगवान् के अर्पण किया है? चाहे जैसा यह बुरा और अशुद्ध क्यों न हो, पर मैंने तो उसी के निमित्त बनाया है। सत्य ने कहा—"ठीक पर यह तो बतला कि भगवान् इस मंदिर में बैठा है? यदि तूने भगवान् को इस मंदिर में बिठाया होता, तो फिर यह अशुद्ध क्यों रहता। जरा आँख उठाकर उस मूर्ति को तो देख जिसे तू जन्म-भर पूजता रहा है।"

राजा ने जो आँख उठाई, तो क्या देखता है कि वहाँ उस बड़ी ऊँची वेदी पर उसी की मूर्ति पत्थर की गढ़ी हुई रखी है और अभिमान की पगड़ी बाँधे हुए है। सत्य ने कहा कि "मूर्ख, तूने जो

काम किए केवल अपनी प्रतिष्ठा के लिये। इसी प्रतिष्ठा के प्राप्त होने की तेरी भावना रही है और इसी प्रतिष्ठा के लिये तूने अपनी आप पूजा की। रे मूर्ख, सकल जगत्स्वामी घट-घट-अंतर्यामी क्या ऐसे मनरूपी मंदिरों में भी अपना सिंहासन बिछने देता है, जो अभिमान और प्रतिष्ठा-प्राप्ति की इच्छा इत्यादि से भरा है? यह तो उसकी बिजली पड़ने के योग्य है।" सत्य का इतना कहना था कि सारी पृथिवी एकबारगी काँप उठी, मानों उसी दम टुकड़ा-टुकड़ा हुआ चाहती थी, आकाश में ऐसा शब्द हुआ कि जैसे प्रलय-काल का मेघ गरजा। मंदिर की दीवारें चारों ओर से अड़अड़ाकर गिर पड़ीं, मानों उस पापी राजा को दबा ही लेना चाहती थीं। उस अहंकार की मूर्ति पर एक ऐसी बिजली गिरी कि वह धरती पर औंधे मुँह आ पड़ी। 'त्राहि माम्, त्राहि माम्, मैं डूबा' कहके भोज जो चिल्लाया, तो आँख उसकी खुल गई और सपना सपना हो गया।

इस अर्से में रात बीतकर आसमान के किनारों पर लाली दौड़ आई थी, चिड़ियाँ चहचहा रही थीं, एक ओर से शीतल मंद सुगंध पवन चली आती थी, दूसरी ओर से बीन और मृदंग की ध्वनि। बंदीगन राजा का यश गाने लगे, हरकारे हर तरफ़ काम को दौड़े, कमल खिले, कुमुद कुम्हलाए। राजा पलँग से उठा, पर जी भारी, माथा थामे हुए, न हवा अच्छी लगती थी, न गाने-बजाने की कुछ सुध-बुध थी। उठते ही पहले उसने यह हुक्म दिया कि "इस नगर में जो अच्छे-से-अच्छे पंडित हों जल्द उनको

मेरे पास लाओ। मैंने एक सपना देखा है कि जिसके आगे अब यह सारा खटराग सपना मालूम होता है। उस सपने के स्मरण ही से मेरे रोंगटे खड़े हुए जाते हैं। राजा के मुख से हुक्म निकलने की देर थी; चोबदारों ने तीन पंडितों को, जो उस समय वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य और बृहस्पति के समान प्रख्यात थे, बात-की-बात में राजा के सामने ला खड़ा किया। राजा का मुँह पीला पड़ गया था, माथे पर पसीना हो आया था। उसने पूछा कि "वह कौनसा उपाय है जिससे यह पापी मनुष्य ईश्वर के कोप से छुटकारा पावे ?" उनमें से एक बड़े बूढ़े पंडित ने आशीर्वाद देकर निवेदन किया कि "धर्मराज धर्मावतार ! यह भय तो आपके शत्रुओं को होना चाहिए, आपसे पवित्र पुण्यात्मा के जी में ऐसा संदेह क्यों उत्पन्न हुआ ? आप अपने पुण्य के प्रभाव का जामा पहनके बेखटके परमेश्वर के सामने जाइए, न तो वह कहीं से फटा-कटा है और न किसी जगह से मैला-कुचैला है।" राजा क्रोध करके बोला कि "बस अधिक अपनी वाणी को परिश्रम न दीजिए और इसी दम अपने घर की राह लीजिए। क्यों आप फिर उस पर्दे को डालना चाहते हैं जो सत्य ने मेरे सामने से हटाया है ? बुद्धि की आँखों को बंद किया चाहते हैं जिन्हें सत्य ने खोला है ? उस पवित्र परमात्मा के सामने अन्याय कभी नहीं ठहर सकता। मेरे पुण्य का जामा उसके आगे निरा चीथड़ा है। यदि वह मेरे कामों पर निगाह करेगा तो नाश हो जाऊँगा, मेरा कहीं पता भी न लगेगा।"

इतने में दूसरा पंडित बोल उठा कि "महाराज परब्रह्म परमात्मा जो आनंदस्वरूप है उसकी दया के सागर का कब किसी ने वारा-पार पाया है, वह क्या हमारे इन छोटे-छोटे कामों पर निगाह किया करता है, वह कृपादृष्टि से सारा बेड़ा पार लगा देता है।" राजा ने आँखें दिखलाके कहा कि "महाराज! आप भी अपने घर को सिधारिए। आपने ईश्वर को ऐसा अन्यायी ठहरा दिया है कि वह किसी पापी को सज़ा नहीं देता, सब धान बाईस पसेरी तोलता है, मानो हरभोगपुर का राज करता है। इसी संसार में क्यों नहीं देख लेते; जो आम बोता है वह आम खाता है और जो बबूल लगाता है वह काँटे चुनता है। क्या उस लोक में, जो जैसा करेगा सर्वदर्शी घटघट-अन्तर्यामी से उसका बदला वैसा ही न पावेगा? सारी सृष्टि पुकारे कहती है और हमारा अन्तःकरण भी इस बात की गवाही देता है कि ईश्वर अन्याय कभी नहीं करेगा; जो जैसा करेगा वैसा ही उससे उसका बदला पावेगा।"

तब तीसरा पंडित आगे बढ़ा और उसने यों ज़बान खोली कि "महाराज! परमेश्वर के यहाँ हम लोगों को वैसा ही बदला मिलेगा कि जैसा हम लोग काम करते हैं। इसमें कुछ भी संदेह नहीं, आप बहुत यथार्थ फ़रमाते हैं। परमेश्वर अन्याय कभी नहीं करेगा, पर वे इतने प्रायश्चित्त और होम और यज्ञ और जप, तप, तीर्थयात्रा किसलिए बनाए गए हैं? वे इसी लिये हैं कि जिसमें परमेश्वर हम लोगों का अपराध क्षमा करे और वैकुंठ में अपने पास रहने की ठौर देवे।" राजा ने कहा—"देवताजी, कल तक तो

मैं आपकी सब बात मान सकता था, लेकिन अब तो मुझे इन कामों में भी ऐसा कोई दिखलाई नहीं देता जिसके करने से यह पापी मनुष्य पवित्र पुण्यात्मा हो जावे। वह कौनसा जप, तप, तीर्थयात्रा, होम, यज्ञ और प्रायश्चित है जिसके करने से हृदय शुद्ध हो और अभिमान न आ जावे? आदमी का फुसला लेना तो सहज है, पर उस घटघट-अंतर्यामी को क्योंकर फुसलावे। जब मनुष्य का मन ही पाप से भरा हुआ है, तो फिर उससे पुण्य-कर्म कोई कहाँ से बन आवे। पहले आप उस स्वप्न को सुनिए जो मैंने रात को देखा है, तब फिर पीछे वह उपाय बतलाइये जिससे पापी मनुष्य ईश्वर के कोप से छुटकारा पाता है।"

निदान राजा ने जो कुछ स्वप्न में रात को देखा था सब ज्यों-का-त्यों उस पंडित को कह सुनाया। पंडितजी तो सुनते ही अवाक् हो गए, उन्होंने सिर झुका लिया। राजा ने निराश होकर चाहा कि तुषानल में जल मरे, पर एक परदेसी आदमी-सा, जो उन पंडितों के साथ बिना बुलाए घुस आया था, सोचता-बिचारता उठकर खड़ा हुआ और धीरे-से यों निवेदन करने लगा—"महाराज, हम लोगों का कर्ता ऐसा दीनबंधु कृपासिंधु है कि अपने मिलने की राह आप ही बतला देता है; आप निराश न हूजिये, पर उस राह को ढूँढ़िए। आप इन पंडितों के कहने में न आइए, पर उसी से उस राह पाने की सच्चे जी से मदद माँगिए। हे पाठक जनो! क्या तुम भी भोज की तरह ढूँढ़ते हो और भगवान से उसके

मिलने की प्रार्थना करते हो ? भगवान् तुम्हें शीघ्र ऐसी बुद्धि दे और अपनी राह पर चलावे, यही हमारे अन्तःकरण का आशीर्वाद है।

जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ। गहरे पानी पैठ ॥

—राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द

एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न

आज रात्रि को पर्यंक पर जाते ही अचानक आँख लग गई। सोते में सोचता क्या हूँ कि इस चलायमान शरीर का कुछ ठीक नहीं। इस संसार में नाम स्थिर रहने की कोई युक्ति निकल जावे तो अच्छा है, क्योंकि यहाँ की रीति देख मुझे पूरा विश्वास होता है कि इस चपल जीवन का क्षण-भर का भरोसा नहीं। ऐसा कहा भी है—

स्वाँस-स्वाँस पर हरि भजो वृथा स्वाँस मति खोय।
ना जाने या स्वाँस को आवन होय न होय॥

देखो समय-सागर में एक दिन सब संसार अवश्य मग्न हो जायगा। कालवश शशि-सूर्य भी नष्ट हो जायँगे। आकाश में तारे भी कुछ काल पीछे दृष्टि न आवेंगे। केवल कीर्ति-कमल संसार-सरोवर में रहे वा न रहे, और सब तो एक दिन तप्त तवे की बुन्द हुए बैठे हैं। इस हेतु बहुत काल तक सोच समझ प्रथम यह विचार किया कि कोई देवालय बनाकर छोड़ जाऊँ, परंतु थोड़ी ही देर में समझ में आ गया कि इन दिनों की सभ्यता के अनुसार

इससे बड़ी कोई मूर्खता नहीं, और यह तो मुझे भली भाँति मालूम है कि यही अँगरेज़ी शिक्षा रही तो मन्दिर की ओर मुख फेरकर भी कोई न देखेगा। इस कारण इस विचार का परित्याग करना पड़ा। फिर पड़े-पड़े पुस्तक रचने की सूझी। परन्तु इस विचार में बड़े काँटे निकले, क्योंकि बनाने की देर न होगी कि कीट "क्रिटिक" काटकर आधी से अधिक निगल जायँगे। यश के स्थान शुद्ध अपयश प्राप्त होगा। जब देखा कि अब टूटे-फूटे विचार से काम न चलेगा, तब लाड़िली नींद को दो रात पड़ोसियों के घर भेज आँख बन्द कर शंभु की-सी समाधि लगा गया, यहाँ तक कि इकसठ वा इक्यावन वर्ष उसी ध्यान में बीत गये। अन्त को एक मित्र के बल से अति उत्तम बात की पूँछ हाथ में पड़ गई। स्वप्न ही में प्रभात होते ही पाठशाला बनाने का विचार दृढ़ किया। परंतु जब थैली में हाथ डाला, तो केवल ग्यारह गाड़ी ही मुहरें निकलीं। आप जानते हैं, इतने में मेरी अपूर्व पाठशाला का एक कोना भी नहीं बन सकता था। निदान अपने इष्ट मित्रों की भी सहायता लेनी पड़ी। ईश्वर को कोटि धन्यवाद देता हूँ जिसने हमारी ऐसी सुनी। यदि ईंटों के ठौर मुहर चुनवालेते, तब भी तो दस-पाँच रेल रुपये और खर्च पड़ते। होते-होते सब हरिकृपा से बनकर ठीक हुआ। इसमें जितना व्यय हुआ वह तो मुझे स्मरण नहीं है, परंतु इतना अपने मुंशी से मैंने सुना था कि एक का अंक और तीन सौ सत्तासी शून्य अकेले पानो में पड़े थे। बनने को तो एक क्षण में सब बन गया था, परंतु उसके काम जोड़ने में पूरे

पचीस वर्ष लगे। जब हमारी अपूर्व पाठशाला बनकर ठीक हुई, उसी दिन हमने हिमालय की कंदराओं में से खोज-खोजकर अनेक उद्दण्ड पंडित बुलवाये, जिनकी संख्या पौन दशमलव से अधिक नहीं है। इस पाठशाला में अनगनित अध्यापक नियत किये गये, परंतु मुख्य केवल ये हैं—पंडित मुग्धमणि शास्त्री तर्कवाचस्पति, प्रथम अध्यापक। पाखंडप्रिय धर्माधिकारी, अध्यापक धर्मशास्त्र। प्राणान्तकप्रसाद वैद्यराज, अध्यापक वैद्यकशास्त्र, लुप्तलोचन ज्योतिषाभरण, अध्यापक ज्योतिषशास्त्र। शीलदावानल नीतिदर्पण, अध्यापक नीतिशास्त्र और आत्मविद्या।

इन पूर्वोक्त पंडितों के आ जाने पर अर्ध रात्रि गये पाठशाला खोलने बैठे। उस समय सब इष्ट-मित्रों के सम्मुख उस परमेश्वर को कोटि धन्यवाद दिया, जो संसार को बनाकर क्षण-भर में नष्ट कर देता है, और जिसने विद्या, शील, बल के सिवाय मान, मूर्खता परद्रोह, परनिन्दा आदि परम गुणों से इस संसार को विभूषित किया है। हम कोटि धन्यवादपूर्वक आज इस सभा के सम्मुख अपने स्वार्थरत चित्त की प्रशंसा करते हैं जिसके प्रभाव से ऐसे उत्तम विद्यालय की नींव पड़ी। उस ईश्वर को ही अंगीकार था कि हमारा इस पृथ्वी पर कुछ नाम रहे, नहीं तो जब द्रव्य की खोज में समुद्र में डूबते-डूबते बचे थे, तब कौन जानता था कि हमारी कपोल-कल्पना सत्य हो जायगी। परन्तु ईश्वर के अनुग्रह से हमारे सब संकट दूर हुए और अंत समय हमारी अभिलाषा पूर्ण हुई। हम अपने इष्ट-मित्रों की सहायता को कभी न भूलेंगे कि

जिनकी कृपा से इतना द्रव्य हाथ आया कि पाठशाला का सब ख़र्च चल गया, और दस-पांच पीढ़ी तक संतान के लिए बच रहा। हमारे पुत्र, परिवार के लोग चैन से हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे। हे सज्जनो, यह तुम्हारी कृपा का विस्तार है कि तन, मन से आप इस धर्म-कार्य में प्रवृत्त हुए, नहीं मैं दो हाथ-पैरवाला बेचारा मनुष्य आपके आगे कौन कीड़ा था जो ऐसे दुष्कर कर्म को कर लेता? यहाँ तो घर की केवल मूँछें ही मूँछें थीं। कुछ मेह कुछ गंगाजल, काम आपकी कृपा से भली भाँति हो गया। मैं आज के दिन को नित्यता का प्रथम दिन मानता हूँ, जो औरों को अनेक साधन से भी मिलना दुर्लभ है। धन्य है उस परमात्मा को जिसने हमारे यश के डहडहे अंकुर फिर हरे किये। हे सुजन शुभचिन्तको! संसार में पाठशालाएँ अनेक हुई होंगी, परंतु हरिकृपा से जो सकलपूर्ण कामधेनु यह पाठशाला है वैसी, अचरज नहीं कि, आपने इस जन्म में न देखी-सुनी हो। होनहार बलवान् है, नहीं तो कलिकाल में ऐसी पाठशाला का बनाना कठिन था। देखिए, यह हम लोगों के भाग्य का उदय है कि ये महामुनि मुग्धमणि शास्त्री बिना प्रयास हाथ लग गये, जिनको सतयुग के आदि में इन्द्र अपनी पाठशाला के निमित्त समुद्र और वन-जंगलों में खोजता फिरा; अंत को हार मान बृहस्पति को रखना पड़ा। हम फिर भी कहते हैं कि यह हमारे भाग्य की महिमा थी कि वे ही पंडितराज मृगयाशील श्वान के मुख में शशा के धोखे बद्रिकाश्रम की एक कंदरा में से पड़ गये। इनकी बुद्धि और विद्या की प्रशंसा

करते दिन में सरस्वती भी लजाती है। इसमें संदेह नहीं कि इनके थोड़े ही परिश्रम से पंडित मूर्ख और अबोध पंडित हो जायँगे।

हे मित्र! मेरे निकट जो महाशय बैठे हैं इनका नाम पाखंड-प्रिय है। किसी समय इस देश में इनकी बड़ी मानता थी। सब स्त्री-पुरुषों को इन्होंने मोह रखा था, परंतु अब कालचक्र के मारे अँगरेजी पढ़े हिंदुस्तानियों ने इनकी बड़ी दुर्दशा की। इस कारण प्राण बचाकर हिमालय की तराई में हरित दूर्वा पर संतोष कर अपना कालक्षेप करते थे। विपत्ति ईश्वर किसी पर न डाले। जब तक इनका राज था, दृष्टि बचाकर भोग लगाया करते थे। कहाँ अब श्वान-शृगाल के संग दिन काटने पड़े। परन्तु फिर भी इनकी बुद्धि पर पूरा विश्वास है कि एक कार्तिक मास भी इनको लोग थिर रह जाने देंगे, तो हरि-कृपा से समस्त नवीन धर्मों पर चार-पाँच दिन में पानी फेर देंगे।

इनसे भिन्न, पंडित प्राणान्तकप्रसाद भी प्रशंसनीय पुरुष हैं। जब तक इस घट में प्राण हैं, तब तक न किसी पर इनकी प्रशंसा बन पड़ी, न बन पड़ेगी। ये महावैद्य के नाम से इस समस्त संसार में विख्यात हैं। चिकित्सा में ऐसे कुशल हैं कि चिता पर चढ़ते-चढ़ते रोगी इनके उपकार का गुण नहीं भूलता। कितना ही रोग से पीड़ित क्यों न हो, क्षण-भर में स्वर्ग के सुख को प्राप्त होता है। जब तक ओषधि नहीं देते, केवल उसी समय तक प्राणी के संसारी बिथा लगी रहती है। आप लोग कुछ काल की अपेक्षा कीजिए। इनकी चिकित्सा और चतुराई अपने आप प्रकट हो जायगी।

यद्यपि आपके अमूल्य समय में बाधा हुई, परंतु यह भी स्वदेश की भलाई का काम था, इस हेतु आप आतुर न हूजिए और शेष अध्यापकों की अमृतमय जीवन-कहानी श्रवण कीजिए।

ये लुप्तलोचन ज्योतिषाभरण बड़े उद्दण्ड पंडित हैं। ज्योतिष-विद्या में अति कुशल हैं। कुछ नवीन तारे भी गगन में जाकर ये ढूँढ़ आये हैं और कितने ही नवीन ग्रंथों की भी इन्होंने रचना कर डाली है। उनमें से "तामिस्रमकरालय" प्रसिद्ध और प्रशंसनीय है। यद्यपि इनको विशेष दृष्टि नहीं आता, परंतु तारे इनकी आँखों में भली भाँति बैठ गये हैं।

रहे पंडित शीलदावानल नीतिदर्पण। इनके गुण अपार हैं। समय थोड़ा है, इस हेतु थोड़ा-सा आप लोगों के आगे इनका वर्णन किया जाता है। ये महाशय बाल-ब्रह्मचारी हैं। अपनी आयु-भर नीतिशास्त्र पढ़ते-पढ़ाते रहे हैं। इनसे नीति तो बहुतसे महात्माओं ने पढ़ी थी, परंतु वेणु, बाणासुर, रावण, दुर्योधन, शिशुपाल, कंस आदि इनके मुख्य शिष्य थे। और अब भी कोई कठिन काम आकर पड़ता है, तो अँगरेजी न्यायकर्ता भी इनकी अनुमति लेकर आगे बढ़ते हैं। हम अपने भाग्य की कहाँ तक सराहना करें! ऐसा तो संयोग इस संसार में परम दुर्लभ है। अब आप सब सज्जनों से यही प्रार्थना है कि आप अपने-अपने लड़कों को भेजें और व्यय आदि की कुछ चिंता न करें, क्योंकि प्रथम तो हम किसी अध्यापक को मासिक देंगे नहीं, और दिया भी तो अभी

अग्नि का आविष्कार

अग्नि की सहायता से मनुष्य के जितने काम निकलते हैं, उनकी गणना करना बहुत ही कठिन है। तिसपर भी यदि अग्नि से निकलनेवाले कामों की उपयोगिता का ध्यान किया जाय, तो उसका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। आजकल दियासलाई की सहायता से, जब और जहाँ जी चाहे, आग जलाई जा सकती है। आतशी शीशे का प्रकाश भी किसी केन्द्र पर डालकर अग्नि उत्पन्न की जाती है। प्राचीन काल में जब ये दोनों चीज़ें नहीं थी, तब लोग चकमक पत्थर को रगड़कर अग्नि उत्पन्न किया करते थे। तात्पर्य यह कि जब से मनुष्य ने होश सँभाला, तब से वह बराबर उससे तरह-तरह के काम लेता रहा है। पहले तो केवल खाने-पकाने, सरदी से बचने, या प्रकाश आदि करने के लिये ही अग्नि का व्यवहार होता था, पर अब तो उसकी सहायता से रेल और जहाज़ दौड़ाये जाते हैं और बड़े-बड़े कल-कारखाने चलाये जाते हैं। पृथ्वी पर मनुष्य की आबादी कितने दिनों से हैं, यह जानना बहुत ही कठिन है। उसी प्रकार भिन्न-भिन्न पदार्थों के आविष्कार आदि का समय जानना भी बहुत मुश्किल है। विशेषतः यह जानना तो और भी अधिक दुस्तर है कि घर-घर जलनेवाली आग

का आविष्कार मनुष्य ने कब; कहाँ और किस अवस्था में किया था।

भारतवर्ष में धातु का आविष्कार होने से पहले पत्थर के औज़ारों और हथियारों आदि का व्यवहार होता था और उनके बनाने आदि में भारतवासियों ने बहुत उन्नति की थी। प्रायः सभी देशों और जातियों के इतिहासों में ऐसे युग मिलेंगे जिनमें आदिम निवासी इसी प्रकार के औज़ारों और हथियारों आदि से काम लेते थे। मनुष्य-समाज की यह अवस्था बहुत ही आरम्भ में थी। पीछे अनेक युगों में नये-नये आविष्कार होते गये और मनुष्य-जाति बराबर उन्नत और सभ्य होने लगी। संसार के सभी देशों और जातियों के भिन्न-भिन्न युगों का यदि क्रम लगाया जाय तो वर्षों में उनका हिसाब करना और वर्षों की संख्या नियत करना प्रायः असंभव ही होगा। तिसपर अग्नि का आविष्कार तो बहुत ही पुराना है; और अनुमान किया जाता है कि यह आविष्कार संभवतः कम-से-कम पाँच करोड़ वर्ष से पहले और दस करोड़ वर्ष के इधर हुआ होगा।

अग्नि के आविष्कार अथवा प्रादुर्भाव के कारण मनुष्य-जाति की उन्नति में बहुत बड़ी सहायता मिलती है। पर यह न समझना चाहिए कि मनुष्य ने इसका पता एकबारगी ही लगा लिया होगा। नहीं, उसका ज्ञान प्राप्त करने और उपयोगिता समझने में ही उसे अनेक युग बीत गये होंगे। कई बार ऐसा भी हुआ होगा कि मनुष्य उसका उपयोग जानकर भी भूल गया हो और उसे फिर से उसका

आवश्यकता ही दे सकती और देती थी; किन्तु आवश्यकता कितनी ही प्रबल क्यों न हो, वह कोई उपाय नहीं बतला सकती। यह मानना ही पड़ता है कि बहुत आरम्भ में मनुष्य बहुत ही कम समझदार और अनेक बातों में पशुओं से मिलता-जुलता ही होता था और वह किसी बात को अनेक बार जानकर भी जल्दी भूल जाता था।

वह आग में लकड़ी फेंकता था और आग जल उठती थी। पर केवल इतने से ही वह यह नहीं समझ सकता था कि लकड़ी फेंकने के कारण ही आग जली है। नई लकड़ी फेंकने पर पहले जब आग सुलगी होगी, तब शायद मनुष्य यह तो भूल गया होगा कि मैंने लकड़ी उसपर फेंकी थी और वह खड़ा होकर आग सुलगने का तमाशा देखने लगा होगा। आग कैसे और किन चीज़ों से जलती है, इसका तो उसे उस समय ज्ञान था ही नहीं; इसलिये वह उसपर हरी-हरी टहनियाँ या पत्थर भी फेंकता रहा हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। जब तक अच्छी तरह समझ में न आ जाय या बार बार अनुभव करने के कारण ज्ञान न बढ़ जाय, तब तक किसी जानवर या बच्चे के लिए आग बुझने न देना और उसे बराबर सुलगाते रहना असंभव ही है। यही बात उस समय मनुष्य के साथ भी हुई होगी। अग्नि के आविष्कार के सम्बन्ध में इतनी बातें हैं, जिन्हें देखते हुए यह मानना पड़ता है कि उनमें से प्रत्येक बात को मनुष्य बहुत बड़ा आविष्कार या उन्नति समझता रहा होगा और प्रत्येक बात को जानने या समझने में उसे बहुत समय लगा होगा।

अब उनमें से कुछ मुख्य बातों को लीजिए। पहले तो इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि आग से हमारा कोई काम भी निकल सकता है। तब उसके बाद आग को निश्चित सीमा के भीतर बराबर सुलगाये रखने और अनावश्यक रूप से उसे इधर-उधर बढ़ने न देने की योग्यता आवश्यक होती है। इसके उपरान्त उसे महीनों बल्कि बरसों तक बुझने न देने और एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने के सामर्थ्य की आवश्यकता होती है, और तब आग के अभाव में उसे उत्पन्न करने की शक्ति अपेक्षित होती है। और यही सबसे बड़ा आविष्कार है। यह मानों आग की सृष्टि करना ही है। अग्नि उत्पन्न करने की योग्यता प्राप्त करने से पहले मनुष्य एक ही आग को सुलगाते रहते होंगे और उसी पर अपना भोजन भूनते तथा उसी को तापते होंगे; और जब कभी किसी कारण से आग बुझ जाती होगी, तब समाज को सरदी और भूख आदि के कारण बहुत कष्ट उठाना पड़ता होगा। उस समय आग के लिए या तो बड़ी-बड़ी यात्राएँ करके लोगों को ज्वालामुखी पर्वत तक जाना पड़ता होगा और या पास के जंगलों में रगड़ आदि के कारण आप-से-आप आग लगने के समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ती होगी। पर जब मनुष्य ने अग्नि उत्पन्न करना जान लिया, तब उसे लंबी यात्राएँ या अधिक समय तक प्रतीक्षा करने की कोई आवश्यकता नहीं रह गई।

अग्नि उत्पन्न करना सीखने में मनुष्य को कितने हज़ार बरस लगे होंगे, यह कोई नहीं कह सकता; पर हाँ, हम इतना अवश्य

जानते हैं कि दियासलाई, जिसके बक्स आजकल दो आने दर्जन बिकते हैं, आज से सिर्फ़ सौ बरस पहले बनी थी। इसी एक शताब्दी में रेल बनी है, तार लगे हैं और हवाई जहाज़ तैयार हुए हैं। लेकिन आजकल के इंजीनियर को ज्ञान और अनुभव का जितना संचित भांडार मिलता है, उसकी तुलना में प्राचीन काल के आविष्कर्त्ता को कुछ भी न मिलता था। उसे आविष्कार करने में न-जाने कितनी कठिनाइयाँ हुई होंगी और न-जाने कितना अधिक समय लगा होगा; पर उसके सारे परिश्रमों और सारी उन्नति का अनुमान करने में हमें एक क्षण भी नहीं लगता।

कहते हैं कि चीन में एक बार एक गाँव में आग लगी थी उसमें एक सूअर भी जल गया था। तभी से वहाँवालों ने भुने हुए मांस की उपयोगिता समझी। बहुत प्राचीन काल में जब जंगलों में आग लगती थी, तब उस आग में लोग मांस आदि भूना करते थे। पर तो भी भूने हुए मांस की सुगन्धि और स्वाद आदि से परिचित होने के लिये ही मनुष्य को क्षुधा का बहुत कुछ कष्ट सहना और बहुत सा समय बिताना पड़ा होगा। आज कल तो यह सिद्धान्त सभी लोग जानते हैं कि आग बहुत गरम होती है और उसके पास रहने से सरदी नहीं लगती। पर प्राचीनों ने यह सिद्धान्त उसी समय जाना होगा जब कि वे जाड़े और बरसात की ठंढी रातों में ठिठुरते हुए किसी मैदान में पड़े हुए होंगे और उसी समय पास के किसी ज्वालामुखी पर्वत्त का प्रकोप हुआ होगा। अथवा, जब किसी ने जलती हुई लकड़ी हाथ

में लेकर उसे किसी आक्रमणकारी चीते के मुँह के आगे कर दिया होगा और उससे डरकर पीछे हट जाने पर उसने समझा होगा कि उसे पत्थर फेंककर भगाने की अपेक्षा अधिक उत्तम उपाय यही है।

आग को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने की युक्ति जानना भी बड़ा भारी काम था। पहले-पहल जलती हुई लकड़ी हाथ में उठा लेने की सहज में किसी की हिम्मत ही न पड़ेगी; और फिर यदि साहस करके कोई उसे उठा भी ले तो आवश्यकता या अंडस पड़ने पर वह उसे छिपावेगा कहाँ? आग को अधिक समय तक सुरक्षित रखने के लिये किसी ऐसे पदार्थ की आवश्यकता होती है जो बहुत धीरे-धीरे और अधिक समय तक सुलगता रहे और जिसकी अग्नि इच्छानुसार सहज में प्रज्वलित हो सके। उस चीज़ के अभाव में लोगों को कितने दिनों तक यों ही भटकना पड़ा होगा और कितने-कितने चक्कर लगाने पड़े होंगे!

कई ऐसे प्राकृत साधन भी हैं जिनसे अग्नि प्राप्त होती है। एक साधन तो ज्वालामुखी पर्वत है, और दूसरा जंगलों में लगनेवाली आग है। इसके अतिरिक्त कुछ स्थान ऐसे भी होते हैं जहाँ की मिट्टी के नीचे एक प्रकार की भभकनेवाली गैस दबी रहती है। उन स्थानों से ऐसी गैस बहुधा निकला करती है जो बहुत जल्दी अग्नि का रूप धारण कर सकती अथवा कर लेती है। जिन स्थानों पर नीचे कोयले की खानें आदि होंगी, वहाँ भी समय-समय पर प्राकृत अग्नि मिल सकेगी।

कुछ लोगों का यह मत है कि मनुष्य ने पहले-पहल रगड़कर आग उत्पन्न करना सीखा; और कुछ लोगों का कहना है कि उसने आघात से उत्पन्न होनेवाली आग का सबसे पहले अनुभव किया, पर किसी प्रकार निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि दोनों में से किसकी बात ठीक है। चकमक या लोहे आदि को रगड़कर अग्नि उत्पन्न करना सहज तो अवश्य है, पर कठिनता यह है कि उस समय चकमक़ और लोहे का आविष्कार ही नहीं हुआ था। कई तरह के ऐसे पत्थर होते हैं, जिनमें गंधक आदि का कुछ अंश मिला रहता है और जिनपर भारी आघात पड़ने से चिनगा-रियाँ छूटती हैं। पर मनुष्य को उनके द्वारा आग सुलगाने का ज्ञान होना भी कठिन है, क्योंकि एक तो उस समय लोगों को ऐसे पत्थरों का ज्ञान होना ही कठिन था; और दूसरे इसके लिए ऐसी चीज़ों की भी आवश्यकता थी जो एक चिनगारी के पड़ते ही चटपट आग पकड़ सकें। साधारण पत्थरों पर जब तक भारी आघात न पहुँचेगा, तब तक उनमें से चिनगारियाँ न निकलेंगी। दियासलाई की तरह की कोई चीज़ तैयार होना तो बहुत ही कठिन काम है। अभी यदि आपसे दियासलाई बनाने की बात कही जाय, तो कैसी जल्दी और बहादुरी से आप चटपट कह देंगे कि हम इस प्रकार बना लेंगे। पर वास्तव में उसका तैयार करना कैसा कठिन है, यह बहुत ही कम लोग जानते हैं।

आजकल चकमक, लोहे आदि से प्रायः बहुत ही कम काम लिया जाता है। या तो कुछ अशिक्षित और असभ्य लोग उसका

व्यवहार करते हैं और या कुछ विशिष्ट उत्सवों या पर्वों आदि पर उनका उपयोग होता है। बाक़ी सब जगह दियासलाई का ही राज्य है। विलायत में इधर कुछ जेबी केस बने हैं जिनका ढकना खोलते ही उसके भीतर लगे हुए लोहे से एक रेती रगड़ खाती है। उस रगड़ से चिनगारी उठती है और उससे एक छोटा स्पिरिट का लम्प जल उठता है। भारत के बाज़ारों में भी इस तरह आप-से-आप जल उठनेवाले कई तरह के छोटे लम्प सस्ते दामों में मिलते हैं। आतशी शीशे से भी आग उत्पन्न की जाती है। एक और तरह का पम्प होता है, जिसमें से हवा के दबाव के कारण आग निकलती है। पर ये सब बहुत ही हाल के आविष्कार हैं। बारूद का आविष्कार अवश्य ही कुछ पहले हुआ था, पर उससे आग उत्पन्न करने के लिए पहले पलीता या इसी तरह की और कोई चीज़ चाहिए। और आघात से सहज में उससे आग नहीं उत्पन्न की जा सकती।

यहाँ यही बतलाने का प्रयत्न किया गया है कि आग का उपयोग जानने और उससे काम लेने में मनुष्य कितने धीरे-धीरे अग्रसर हुआ है। इसका मुख्य कारण यह था कि बहुत प्राचीन काल में पहले तो मनुष्य में इतनी योग्यता ही नहीं थी कि वह किसी घटना को देखकर कोई सिद्धान्त निकाल सके। इसके अतिरिक्त उस सिद्धान्त को स्मरण रखने और आवश्यकता पड़ने पर उससे काम लेने में भी उस समय वह असमर्थ ही था। ये सब बातें शिक्षा के अभाव के कारण ही थीं। उस समय उसमें न तो

बुद्धि ही थी और न तर्क-वितर्क आदि की शक्ति ही; और इन्हीं सब कारणों से उन्नति में बहुत बड़ी बाधा पड़ती थी।

आजकल दियासलाई के बिना काम चलाना बहुत कठिन होता है। इतना ज्ञान बढ़ने और इतनी उन्नति होने पर भी सभ्य जातियों को दियासलाई का आविष्कार करने में कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है, उन्हें देखते हुए उन कठिनाइयों का अनुमान करना चाहिये, जो बहुत प्राचीन, अंध और अज्ञात काल में किसी असभ्य और अशिक्षित जाति को अग्नि का आविष्कार करने में झेलनी पड़ी होंगी। उन्नीसवीं शताब्दी तक लोग चकमक और लोहे आदि की सहायता से ही आग जलाते थे। सन् १८२७ में पहले-पहल एक तरह की दियासलाई बनी थी जो बहुत कम और वह भी एक शिलिंग (आठ आने) की एक बक्स मिलती थी। फास्फोरस का आविष्कार सत्रहवीं सदी में हुआ था। इससे पहले अवश्य ही अधिक कठिनाइयाँ थीं।

सन् १८६०–७० में भारत में दियासलाई का बक्स एक आने को मिलता था। आजकल तो दो-तीन आने में दियासलाई के एक दर्जन बक्स मिलते हैं, जिनमें से हरएक बक्स में साठ या अस्सी सलाइयाँ होती हैं। इतने सस्ते मिलनेवाले सलाई के बक्स में की प्रत्येक सलाई के सम्बन्ध में यह बात प्रायः निश्चित ही है कि वह एक सेकंड के भीतर अवश्य ही आग उत्पन्न कर देगी। सलाई का आविष्कार करने में केवल इसी बात की आवश्यकता थी कि उसके सिरे पर कोई ऐसी चीज लगी रहे जो ज़रा-सी

रगड़ खाते ही जल उठे। पहले तो किसी ऐसे सम्मिश्रण की आवश्यकता थी जो रगड़ खाने से एकदम भभक न उठे, बल्कि सहज में आग धर ले। तदुपरान्त यह समस्या उपस्थित हुई कि उस उत्पन्न आग को पकड़ने और ठहराने के लिए लकड़ी की सलाई का व्यवहार किया जाय या लपेटे हुए काग़ज़ का। किसी ऐसी चीज़ की भी आवश्यकता थी जिसपर रगड़ने से अग्नि उत्पन्न हो। यह भी आवश्यक था कि वह सम्मिश्रण सलाई पर इस प्रकार लगाया जाय कि आवश्यकता पड़ने पर वह चट-पट रगड़ा जा सके और उससे आग निकाली जा सके। रगड़ने के समय सम्मिश्रण को उस सलाई पर भी लगा रहना चाहिए। स्वयं संमिश्रण में इतनी शक्ति भी होनी चाहिए कि वह सलाई को जला सके, और सलाई ऐसी होनी चाहिए जो सहज में जल सके और कुछ देर तक बराबर जलती रहे। सलाई को नमी और सील आदि से भी बचाना चाहिए। रगड़ने के उपरान्त उसका जलता हुआ सिरा गिर न जाना चाहिए; और अधिक रक्षा के लिये यह भी आवश्यक है कि वह केवल उसी बक्स पर रगड़ने से ही जले, सब जगह रगड़ने से नहीं। यह भी न होनी चाहिए कि गरमी आदि के कारण वह आप-से-आप जल जाय। लकड़ी भी उसके लिए ऐसी होनी चाहिए जो ज़रा-से झटके में टूट न जाय, सहज में उसकी सलाइयाँ बन सकें, और वह अधिक मान में मिल भी सके। उसमें किसी तरह का विष भी नहीं होना चाहिये, इत्यादि।

—रामचन्द्र वर्मा

तीन भाषण

द्रौपदी ने मन ही मन कहा—कठोर उपालम्भ द्वारा राजा युधिष्ठिर को उत्तेजित करने के लिए यह मौक़ा बहुत अच्छा है। उसने सोचा कि ऐसे उपालम्भ को सुनकर युधिष्ठिर को अवश्य ही क्रोध आ जायगा और वे दुर्योधन आदि शत्रुओं से उनके द्वारा किये गये अपकारों का बदला लेने के लिए अवश्य ही तैयार हो जायँगे। वह बोली—

"महाराज, आप राजा हैं। आप नीतिज्ञ हैं। आप विद्वान् हैं। आप समझदार हैं। मैं एक तो अज्ञ, दूसरे स्त्री हूँ। यदि मैं आपके सामने कोई हित की भी बात कहूँ, तो मेरा ऐसा कहना भी अनुचित ही समझा जायगा। सम्भव है, उसे आप अपनी निन्दा या तिरस्कार समझें। अतएव ऐसे विषय में मुझे कुछ भी न बोलना चाहिए था। परन्तु क्या करूँ, बिना बोले मुझसे रहा ही नहीं जाता। शत्रुओं ने वस्त्र-हरण और केशाकर्षण आदि के रूप में मेरी जो विडम्बना की है, उसकी याद आते ही मुझे दुःसह दुःख होता है। वही दुःख मुझे इस समय बोलने के लिए प्रेरणा कर रहा है। अतएव मेरी प्रार्थना है कि आप मुझे इस उपालम्भ के लिए क्षमा करें।

"महाराज, आपके वंश में जो राजा हो गये हैं, वे ऐसे-वैसे न थे। वे इन्द्र के सदृश तेजस्वी और इन्द्र ही के सदृश पराक्रमी थे। आप ही के वंशज ये परम-प्रतापी राजा चिरकाल से इस पृथ्वी का पालन करते आये हैं। परन्तु उसी वंश में आप ऐसे निकले कि इस चिरकाल से धारण की हुई पृथ्वी को अपने ही हाथ से इस तरह निकाल फेंका, जिस तरह कि मतवाला हाथी फूलों की माला तोड़कर अपने मस्तक से फेंक देता है। आप तो सभी के साथ साधुता का व्यवहार करने को तुले बैठे रहते हैं। मायावियों के साथ मायावी होना ही चाहिए। जो ऐसों के साथ भी सचाई का बर्ताव करते हैं, उनका पराभव हुए बिना नहीं रहता। बिना कवच के शरीर को छेदकर तीखे बाण जैसे मनुष्य के प्राण ले लेते हैं, वैसे ही भोले-भाले साधु-स्वभाववाले मनुष्यों के हृदय में घुसकर शठ मनुष्य उनका नाश किये बिना नहीं रहते।

"मैं आपकी बुद्धि की कहाँ तक प्रशंसा करूँ। आप अपने को क्षत्रिय-कुल में उत्पन्न समझते हैं या नहीं? आपको अपने क्षत्रियत्व का कुछ भी अभिमान है या नहीं? आपको बन्धु-बान्धव और सेना-समूह आदि किसी भी साधन की कभी कमी नहीं रही। पृथिवी भी आपपर सब तरह अनुरक्त थी। प्रजा भी आपको जी से चाहती थी। फिर भी आपने इस अनुरागिणी वसुमती का परित्याग कर दिया। कुलीन, सुशील और मनोहारिणी पत्नी के सदृश अपनी राज्य-लक्ष्मी का हरण अपने शत्रुओं के द्वारा कराकर ही आपने कल की। आपके सिवा

संसार में ऐसा कौन मनुष्य होगा, जो परम्परा से प्राप्त हुई विवाहिता भार्या के सदृश अपनी राज्य-लक्ष्मी को इस तरह निकाल बाहर करे? क्या आपको यही चाहिए था?

"याद रखिए, जो मनुष्य क्रुद्ध होकर दण्ड और प्रसन्न हो कर अनुग्रह करने में समर्थ होता है, उसकी अनुकूलता सब लोग, आप-ही-आप, बिना किसी प्रेरणा के, करने लगते हैं। बुरे आदमी दण्ड पाने के डर से और भले आदमी अनुग्रह की आशा से सदा ही उसके मन के अनुकूल काम करने के लिए तैयार रहते हैं। परन्तु जिसे कभी क्रोध आता ही नहीं, उसके स्नेह और सत्कार की कोई परवा नहीं करता। यदि ऐसे क्रोध-हीन मनुष्य ने किसी से द्वेष किया अथवा किसी पर अप्रसन्नता प्रकट की तो उससे कोई डरता भी नहीं।

"ज़रा अपने छोटे भाई महारथी भीम की तरफ़ तो आँख उठाकर देखिए। यह वही भीमसेन है, जिसके शरीर पर लाल चन्दन का लेप किया जाता था और जो बहुमूल्य रथ पर ही सवार होकर बाहर निकलता था। यही अब काँटे बिछे हुए पहाड़ी पथों पर पैदल घूमता-फिरता है और झाड़ियों के नीचे ज़मीन पर धूल में पड़ा लोटा करता है! आप अच्छे सत्यधन निकले। आपके सत्यव्रत की मैं कहाँ तक प्रशंसा करूँ! देखिए, महापराक्रमी धनञ्जय की भी दुर्गति हो रही है। वह भी आप ही के कारण। यह वही धनञ्जय है, जो सारे उत्तर-कुरु देश को जीतकर हीरे, पन्ने, लाल आदि अकृत्रिम रत्नों की राशियाँ

वहाँ से ले आया था। लेकर उसने उन रत्नों को आप ही नहीं रख लिया; उन्हें आप ही को दे डाला। परन्तु इसका बदला आपने बहुत ही अच्छा दिया! इस इन्द्र-तुल्य पराक्रमी अर्जुन से आप अपने पहनने के लिये पेड़ों की छाल मँगाया करते हैं! अच्छा काम उसे आपने सौंपा! कहाँ उसका वह पराक्रम, कहाँ वल्कल लाने का यह काम! महाराज, अर्जुन की यह दैन्यावस्था देखकर भी क्या आपको दुःख नहीं होता?

"नकुल और सहदेव की दुर्दशा की भी सीमा नहीं। जङ्गल की इस कँकरीली भूमि पर लेटने के कारण, देखिए, उनके शरीर की कितनी दुर्गति हुई है! उनके शरीर कठोर हो गये हैं। उनपर सर्वत्र घट्टे पड़ गये हैं! धोये न जाने और तेल-फुलेल न लगने के कारण उनके बाल बेतरह रूखे हो रहे हैं। उनकी जटायें बन गई हैं। इतने पर भी आप अपनी सन्तोषवृत्ति का पीछा नहीं छोड़ते! प्रतिज्ञा-पालन पर आप अब तक पूर्ववत् ही दृढ़ हैं! अरे, अब तो उसे छोड़ देते।

"जिस समय आप राजसी ठाठ से रहते थे उस समय आपके ये दोनों चरण रत्नों से जड़े हुए सोने के महा-मूल्य सिंहासन की शोभा बढ़ाते थे। बड़े-बड़े माण्डलिक राजे आपके सामने उपस्थित होकर अपने मस्तक इन्हीं चरणों पर रखते थे। ऐसा करते समय उनके मस्तकों पर धारण की गई फूल-मालाओं के सुगन्धित फूलों के रजःकण आपके चरणों पर गिर-गिरकर उनको रङ्गीन बना देते थे। हाय! आज आपके उन्हीं चरणों की दुर्दशा हो रही

है। उन्हीं से आज आप इस घास उगी हुई पहाड़ी भूमि पर सर्वत्र आया-जाया करते हैं। घास ही उगी भूमि पर क्यों, कँटीले कुश उगी हुई भूमि पर भी।

"महाराज, अब तो आप अपनी शान्ति को—अपनी क्षमा को—छोड़ दीजिये। इस सारे अनर्थ का कारण एकमात्र आपकी यह क्षमा ही है। उसका अब तत्काल ही परित्याग करके शत्रुओं के नाश के लिए तैयार हो जाइये। अपने क्षत्रिय-तेज को फिर से स्वीकार कीजिये। प्रसन्न हो जाइये। बहुत भोग भोग चुके। अब बस। आप शायद यह कहें कि क्षमा से ही यदि काम बनता हो तो क्रोध करने की क्या आवश्यकता? परन्तु, सरकार, काम-क्रोध आदि षड्रिपुओं को जीतकर क्षमा से किसे सिद्धि प्राप्त होती है, यह भी आप जानते हैं? इस तरह की सिद्धि ऋषियों और मुनियों ही को प्राप्त होती है, क्षत्रियों को नहीं। सो भी कौन-सी सिद्धि? मोक्ष-सिद्धि, राज्य-सिद्धि नहीं। समझे। आपको मैं कहाँ तक समझाऊँ।

"आप तो तेजस्वी पुरुष हैं। मैं तो आपको तेजस्वियों में सबसे श्रेष्ठ समझती हूँ। कीर्त्ति भी आपकी कम नहीं। आप तो कीर्त्ति को ही अपना सर्वोत्तम धन समझते आये हैं। बल-पौरुष भी आप में कम नहीं। इन सब बातों के होते हुए भी यदि आप शत्रुओं के द्वारा किये गये अति दुःसह पराभव को प्राप्त होकर भी क्षमा ही करते चले जायँगे—यदि आप सन्तोष ही को स्वीकार करते चले जायँगे—तो मैं यही समझूँगी कि आत्माभिमानी पुरुषों

का अभिमान आश्रयहीन हो जाने के कारण, आज ही रसातल को चला गया! यदि शत्रुओं की बुराई का प्रतिकार करना आपको फिर भी अभीष्ट न हो तो मेरी अन्तिम प्रार्थना सुन लीजिये। यदि आपका यही विश्वास हो कि कुछ भी पराक्रम न करके चुपचाप बैठे रहना ही अच्छा है—क्षमा से ही सारे सुख-साधन प्राप्त हो जायँगे—तो एक बात कीजिये। आप अपने इस धनुर्बाण की तरफ़ आँख उठाइये। जानते हैं, यह किसके धारण करने योग्य है? यह क्षमाशीलों के हाथ में रहने के लिए नहीं। राज्य-लक्ष्मी के स्वामी राजा ही के हाथ में धारण करने के लिए है। इसे आप अभी फेंक दीजिये। आज से आप सच्चे क्षमाशील तपस्वी बनकर और जटाजूट बढ़ाकर इस जङ्गल में निरन्तर अग्निहोत्र किया कीजिये।

"हाँ, मुझे एक बात और कहनी है। मेरे इस निर्भर्त्सना-पूर्ण उपालम्भ को सुनकर शायद मुझे आप अविवेकिनी समझें। शायद आप यह कहें कि 'बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञात-वास करने की प्रतिज्ञा तो अभी पूरी ही नहीं हुई। उसके पूर्ण हुए बिना पराक्रम करने और शत्रुओं से उनके दुष्कृत्यों का बदला लेने का तो अभी अवसर ही नहीं आया। फिर मैं इतना अकाण्ड-ताण्डव क्यों कर रही हूँ?' तो इसपर भी आप मेरी प्रार्थना सुन लीजिये। मेरा वक्तव्य यह है कि प्रतिज्ञा-पालन किया किसके साथ जाता है? जो स्वयं प्रतिज्ञा-पालन करता हो—जो स्वयं सच्चा हो—उसके साथ न? शत्रु तो प्रतिज्ञा-पालन नहीं कर रहे। वे तो

बराबर छल-कपट करते ही जा रहे हैं। इस दशा में आपके सदृश पराक्रमी पुरुष को प्रतिज्ञा-पालन की आन पर डटे रहना सर्वथा अनुचित है।"

द्रौपदी की बातें सुनकर भीमसेन बहुत प्रसन्न हुए। उनको उसकी बातें बहुत ही गौरवपूर्ण और हितकारिणी मालूम हुईं। अतएव द्रौपदी के भाषण का अनुमोदन करना उन्होंने अपना कर्त्तव्य समझा। उन्होंने युक्ति-पूर्ण और प्रौढ़ वचनों में अपना कथन आरम्भ किया। वे धर्मराज युधिष्ठिर से बोले—

"महाराज! प्रियतमा द्रौपदी ने बहुत ठीक कहा है। उसे सचमुच ही क्षत्रिय-कुल का बड़ा अभिमान है। अतएव उसे ऐसा कहना ही चाहिये था। जो कुछ उसने कहा, बिना विचार किये ही नहीं कहा; खूब सोच-विचारकर जैसी युक्ति-युक्त, जैसी सुन्दर और जैसी हितोपदेश-पूर्ण बातें उसने कहीं, वैसी वाचस्पति बृहस्पति से भी न कहते बनतीं। मैं तो यही कहूँगा कि उसका कथन सर्वथा ग्राह्य है।

"द्रौपदी यद्यपि स्त्री है, तथापि उसके भाषण से यही सूचित होता है कि वह नीति शास्त्र के तत्त्वों से अच्छी तरह परिचित है। अतएव उसका कथन मेरी सम्मति में सर्वथा मानने योग्य है। द्रौपदी ने यद्यपि बहुत ही थोड़े शब्दों में अपना अभिप्राय प्रकट किया है, तथापि उसका भाषण स्वल्प होकर भी बहुत गुणकारी मालूम होता है। उसे मैं तो रामबाण ओषधि के सदृश समझता हूँ। ओषधि जिस तरह परिणाम में सुख देनेवाली होती है, वैसे

ही द्रौपदी का भाषण भी परिणाम में सुख देनेवाला है। ओषधि जैसे उत्तम गुणों से युक्त होती है, द्रौपदी का भाषण भी वैसे ही गम्भीर अर्थों से युक्त है। ओषधि जैसे कड़वी होती है, अतएव जैसे वह अच्छी नहीं लगती, द्रौपदी का भाषण भी वैसे ही पराक्रमहीनों के लिए लाभदायक है। वह उन्हें अच्छा लगने योग्य नहीं, क्योंकि वह युद्ध के लिए उत्तेजना देनेवाले वाक्यों से लबालब भरा हुआ है। ओषधि जैसे थोड़ी होती है, द्रौपदी का भाषण भी वैसे ही थोड़ा है। ओषधि में जैसे आरोग्य और शक्तिवर्द्धन आदि अनेक गुण होते हैं, द्रौपदी के भाषण में भी वैसे ही शत्रु-नाश और राज-लाभ आदि अनेक गुण हैं। अतएव उसका कहना सर्वथा ग्रहण करने योग्य है।

"महाराज! आप तो आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्ड-नीति, इन चारों विद्याओं में पारंगत हैं। अतएव, आप यह अवश्य ही जान सकते हैं कि कौन बात सत् और कौन बात असत् है। आप जैसे विद्वानों की बुद्धि सदसद्विचारशालिनी होनी ही चाहिए। फिर भी, मैं नहीं जानता, क्यों वह कीचड़ में फँसी हुई हथिनी के सदृश अविवेक में डूबकर नष्ट-सी हो रही है?

"महाराज! जिसकी यह इच्छा होती है कि मेरा अभ्युदय हो, वह यदि बुद्धिमान् है तो और ही तरह की नीति का अवलम्बन करेगा। यदि उसे यह मालूम हो जायगा कि शत्रु का उत्कर्ष, फिर चाहे वह कितना ही अधिक क्यों न हो, अन्त में अनर्थकारक ही

होगा, तो वह उसका कुछ भी प्रतीकार न करके चुपचाप बैठा रहेगा। वह सोचेगा, इस उत्कर्ष के बाद जब शत्रु का आप-ही-आप अपकर्ष होनेवाला है, तो व्यर्थ परिश्रम करके उसे जीतने की क्या आवश्यकता? परन्तु यदि बुद्धिमान् मनुष्य को यह मालूम हो जायगा कि इस समय शत्रु की सम्पत्ति का नाश तो बड़े वेग से हो रहा है; परन्तु कुछ दिनों के बाद, उसके उत्कर्ष की सम्भावना है, तो वह पल-भर भी चुप न बैठेगा। वह तत्काल ही पराक्रमपूर्वक अपने शत्रु पर आक्रमण करके उसे अपदस्थ कर देगा। अतएव महाराज! शत्रु के वर्तमान उत्कर्ष अथवा अपकर्ष को आप न देखिये। इस समय उसके प्रतीकार अथवा उपेक्षा की आवश्यकता है या नहीं, इसका ज़रा भी विचार न कीजिये। आप शत्रु की भावी स्थिति पर विचार करके जो कुछ उचित हो कीजिये।

"आप शायद यह सोचते होंगे कि हम लोग बलहीन हैं और हमारा शत्रु बहुत बलवान् है। इस दशा में हम उसका सामना कैसे कर सकेंगे? परन्तु, भाई! आपकी यह शङ्का निर्मूल है। बात यह है कि उत्साह से ही सारे काम होते हैं। जिसमें उत्साह नहीं उसे कार्यसिद्धि की आशा ही छोड़ देनी चाहिये। द्वितीया के चन्द्रमा को देखिये। वह क्षय को प्राप्त होकर, फिर भी, जब सारे संसार को सुख देनेवाली अपनी स्वाभाविक कला को धारण करता हुआ उदित होता है और उत्तरोत्तर बढ़ने की इच्छा रखता है तब सभी लोग उसे नमस्कार करते हैं। इसी तरह क्षीण-शक्ति राजा भी जब अपना स्वाभाविक क्षत्रिय-तेज धारण करके अपनी

समृद्धि-प्राप्ति के लिए उत्साह दिखाता है तब प्रजा उसके सामने अपना मस्तक झुकाये बिना नहीं रहती। सम्भव है, आप इसपर भी कुछ आक्षेप करें। आप शायद कह बैठें कि 'हम लोगों में प्रभुता-सम्बन्धिनी शक्ति का तो सर्वथा अभाव है, फिर उत्साहित होकर कोई काम करने से क्या लाभ ? इस दशा में विजय की आशा रखना अविवेक के सिवा और कुछ नहीं।' इसपर भी मुझे कुछ निवेदन करना है। यह सच है कि सब बातों का विचार करके ही जब नीति की योजना की जाती है तभी वह फलवती होती है। यदि पहले इस बात का विचार कर लिया जाता है कि कार्य का आरम्भ किस तरह करना चाहिये, अपने पास धन और सैन्य कितना है, शत्रु के साथ युद्ध करने के लिए कौनसी जगह और कौनसा समय उपयुक्त है, विघ्न-बाधाएँ आने पर वे दूर की जा सकती हैं या नहीं, और अन्त में फलसिद्धि की आशा भी है या नहीं—तभी नीति की योजना राजा के कोष, यश और सैन्य की बढ़ानेवाली होती है। इसे मैं मानता हूँ। परन्तु जैसे कृषि और वाणिज्य आदि करनेवालों के लिए प्रारब्ध की अपेक्षा रहती है, वैसे ही राजा के लिए भी आलस्य-त्याग और उत्साह-धारण की अपेक्षा रहती है। बिना उत्साह के नीति-शास्त्र के पन्ने उलटने और उनपर विचार करते रहने से ही सिद्धि नहीं प्राप्त हो जाती। आप इस बात को स्मरण रखिये कि उत्साह ही सारे सुखों का मूल है। अतएव आपको उत्साह का अवश्य ही आश्रय लेना चाहिये।

"आप यह कह सकते हैं कि 'उत्साह दिखाने से ही अनर्थ नहीं टाला जा सकता। यथेष्ट साधन न होने से उत्साह क्या करेगा?' इसके उत्तर में मेरा निवेदन है कि क्षत्रियों के लिए राजत्व का पद सबसे अधिक प्यारा है। ऐसे श्रेष्ठ पद की प्राप्ति के लिए अवश्य ही यत्न करना चाहिये। उसकी प्राप्ति के लिये धैर्यवान् और अभिमानी पुरुषों को चाहिये कि वे अनर्थ टालने के लिए अपने ही पराक्रम पर भरोसा रक्खें, साधनों की परवा न करें। शूरवीर क्षत्रिय कोष और सैन्य आदि की सहायता की अपेक्षा नहीं करते। राज्य-प्राप्ति के लिए उन्हें जो कुछ करना होता है, एकमात्र अपने बल-पौरुष के भरोसे करते हैं। मेरी सम्मति में तो पराक्रम ही सबसे बड़ा साधन है। पराक्रमी पुरुषों को ही सारी सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं। जो पराक्रमहीन है—जिसे अपने बल का भरोसा नहीं—उसे बार-बार विपत्तियों की दलदल में फँसना पड़ता है। अतः उत्साह धारण करके आप उद्योग का आरम्भ कर दीजिये। सारी समृद्धियाँ पराक्रमी पुरुष को ही प्राप्त होती हैं।

"आप शायद यह समझते होंगे कि 'व्यर्थ पराक्रम करने की क्या आवश्यकता? प्रतिज्ञा की अवधि पूर्ण होने पर हमारा राज्य हमें मिल ही जायगा।' यदि आपके विचार ऐसे ही हों, तो आप इस प्रकार आकाश में किले बाँधना छोड़ दीजिये। आपकी यह आशा कभी सफल होने को नहीं। क्या आप अपनी आँखों नहीं देख रहे कि धृतराष्ट्र का बेटा दुर्योधन किस प्रकार सारे संसार

के सामने ही हमारे साथ कपट का व्यवहार कर रहा है ? ऐसा कपटी आदमी तेरह वर्ष तक राजसी सुख भोगकर भला क्यों हमें हमारा राज्य लौटा देगा ? इस अन्ध-सुत दुर्योधन ने कपट करके ही हम लोगों से हमारा राज्य छीन लिया। यह जो कुछ हुआ सो हुआ; अब भी तो खुल्लमखुल्ला हमारे साथ छल-कपट कर रहा है। ऐसे आदमी से अपने राज्य को फिर पाने की आशा तक करना हमारी बहुत बड़ी भूल है।

"हाय-हाय ! क्या हम लोगों में पशुओं की जैसी भी मनस्विता नहीं ? देखिए, हरिण आदि जङ्गली पशुओं का राजा सिंह भी मदोन्मत्त हाथियों को स्वयं मारकर अपनी उपजीविका करता है। दूसरे के मारे हुए शिकार को वह कभी छूता तक नहीं। चाहिये भी यही। अपने तेज से और सब लोगों को तेजोहीन करनेवाला तेजस्वी पुरुष इस बात की कभी स्वप्न में भी इच्छा नहीं रखता कि दूसरे की कृपा से उसे सुख और ऐश्वर्य मिले वह उनकी प्राप्ति अपने ही भुज-बल और अपने ही पराक्रम से करता है। अतएव, महाराज, साम आदि उपायों की बात अपने हृदय से एकदम दूर कर दीजिये। धनुर्बाण उठाइये और दुष्ट दुर्योधन से अपना राज्य छीन लेने के लिए तैयार हो जाइये।

"महाराज ! आपकी बुद्धि पर प्रमाद-जन्य अन्धकार का परदा-सा पड़ गया है। उदासीनता ने आपकी बुद्धि को कुंठित-सा कर दिया है। आप अपनी बुद्धि के इस मोहरूपी आवरण को तत्काल हटा दीजिये। अपना बल-विक्रम दिखाने के लिए शीघ्र

ही तैयार हो जाइये। शत्रु जो आनन्द से राज्य-सुख का उपभोग कर रहे हैं—उनके सङ्कटों का जो एकदम नाश-सा हो गया है—इसका एकमात्र कारण आपका अनुद्योग और आपका अनुत्साह है। इसे आप ध्रुव सत्य समझिये। यदि आप कुछ भी उद्योग करते, तो शत्रु सब तरफ़ से विपत्तियों के फन्दे में फँसे बिना न रहते। न मालूम कब उनका नाश हो गया होता।

"महाराज! आप इस शङ्का को अपने हृदय में एक क्षण के लिए भी स्थान न दीजिये कि युद्ध करने से आपको शत्रुओं से हार खानी पड़ेगी। मतवाले चार दिग्गजों और विस्तीर्ण चार समुद्रों के सदृश, पृथ्वी के कोने-कोने में विख्यात, इन्द्र के सदृश महापराक्रमी, आपके हम चारों छोटे भाई आपके लिए प्राण देने को तैयार हैं। आप ही बताइये, शत्रुओं के पक्ष में क्या एक भी वीर ऐसा है जो समर-भूमि में हमारा सामना कर सके? अतएव आप दुविधा को दूर करके अब निशङ्क युद्ध की तैयारी कर दीजिये। मुझे विश्वास है कि इसका फल अच्छा ही होगा।"

युधिष्ठिर तो बहुत बड़े राजनीतिज्ञ थे। उन्होंने देखा कि शत्रुओं के किये हुए अपकार का स्मरण करके भीमसेन के हृदय में विकार उत्पन्न हो गया है। अतएव वे क्रोध से उन्मत्त हो उठे हैं। यह सोचकर उन्होंने मतवाले हाथी के सदृश ही उन्हें धीरे-धीरे शान्त करना आरम्भ किया। उन्होंने मन में कहा कि युक्ति से भीमसेन की सान्त्वना करनी चाहिए। उन्हें फटकारने से काम न चलेगा। वे बोले—

"तुम्हारे भाषण-चातुर्य की मैं कहाँ तक प्रशंसा करूँ। भाई वाह! तुमने नीति-शास्त्र का बहुत ही अच्छा प्रतिपादन किया। तुमने इस इतने बड़े भाषण में ऐसे एक भी शब्द या पद का प्रयोग नहीं किया जिसका अर्थ स्पष्ट न हो। इतना होने पर भी तुमने अर्थ-गौरव को हाथ से नहीं जाने दिया। जितनी बातें तुमने कहीं, सभी अर्थ-गौरव से परिपूर्ण हैं। इसके सिवा अपने भाषण में तुमने पूर्वापर-सम्बन्ध का निर्वाह भी खूब ही किया। एक शब्द भी अप्रासङ्गिक नहीं आने दिया। तुमने यद्यपि एक ही विषय पर अपने विचार प्रकट किये, तथापि विषय एक होने पर भी कहीं भी पुनरुक्ति नहीं आने दी। तुम धन्य हो! मैं तो जैसे-जैसे तुम्हारे भाषण की योग्यता पर विचार करता हूँ, वैसे ही वैसे मुझे उसमें नये-नये गुण दिखाई देते हैं। तुम्हारा भाषण साकाङ्क्ष, अर्थ-गौरव-युक्त और स्पष्ट ही नहीं, तुमने उसमें अपने बुद्धि-बल से जिन युक्तियों का प्रतिपादन किया वे भी उत्तम हैं। तुम्हारा यह भाषण तुम्हारे क्षात्र-धर्म के सर्वथा ही योग्य है। जो लोग क्षात्र-धर्म के ऐसे कट्टर पक्षपाती नहीं, वे इस प्रकार का युक्तिपूर्ण और नीति-शास्त्र-संगत भाषण करने के लिए कभी निःशङ्क तैयार नहीं हो सकते।

"सूर्यास्त होने पर सर्वत्र अन्धकार फैल जाता है। इस कारण न कोई लिख सकता है, न कोई पढ़ सकता है, न कोई और ही काम कर सकता है। संसार के सब व्यापार प्रायः बन्द हो जाते हैं। ऐसे समय में दीपक जलाने से सब चीजें फिर दिखाई देने लगती

हैं और मनुष्यों के सारे काम फिर पूर्ववत् होने लगते हैं। इसी तरह अविवेक-रूपी अन्धकार से मनुष्य की बुद्धि जब आच्छादित हो जाती है, तब उसके लिए यह समझना बहुत ही कठिन हो जाता है कि कौन काम करने और कौन न करने योग्य है। ऐसे समय में, विवेकी पुरुषों के लिए सतत अभ्यास से निर्णय किये गये नीतिशास्त्र के वचन दीपक का काम देते हैं। उन्हीं की सहायता से विवेकशील पुरुष यह जानने में समर्थ होते हैं कि कौन काम हमारे करने और कौन न करने योग्य है। अतएव नीति-शास्त्र का अभ्यास करके विवेकशील होना मनुष्य का परम कर्त्तव्य है।

"जिनकी यह इच्छा हो कि वे अपने शत्रुओं पर विजय पावें, उन्हें पहले क्रोध पर विजय प्राप्त करना चाहिये। जो सच्चे क्षत्रिय हैं वे क्रोध को जीतकर तब शत्रु को जीतने की चेष्टा करते हैं। वे इस बात का निश्चय पहले ही से कर लेते हैं कि कौनसा प्रयत्न करने से—कौन से उपाय के अवलम्बन से—हमें भविष्यत् में यथेष्ट फल-सिद्धि होगी। यह करके तब वे तदनुकूल उपायों की योजना करते हैं। फल-सिद्धि का निश्चय पहले न करके पराक्रम करने के लिए उतारू हो जाना सर्वथा अनुचित है।

"क्षत्रियों के लिए क्रोध को जीत लेना परम आवश्यक है। बिना क्रोध को जीते अभीष्ट कार्य कदापि सफल नहीं हो सकता। जो अपने अभ्युदय की हृदय से इच्छा रखता हो, उसे चाहिये कि वह क्रोध से उत्पन्न हुए अज्ञान को अपनी विचारबुद्धि

से दूर कर दे। बिना ऐसा किये उसका अभ्युदय नहीं हो सकता।

"किसी-किसी की यह राय है कि जो दुर्बल है, उसी को क्रोध का त्याग करके युक्ति से अपना काम निकालना चाहिये। जो बलवान् है, उसे क्रोध-त्याग की क्या आवश्यकता? क्रोध से उसकी कोई हानि नहीं हो सकती, क्योंकि उसे तो अपने शौर्य्य और पराक्रम ही से अभीष्ट फल की प्राप्ति हो जाती है। परन्तु यह राय ठीक नहीं। इससे मैं सम्मत नहीं। जो लोग क्रोध से उत्पन्न हुए तमोरूपी मोह का नाश किये बिना ही, केवल अपने पराक्रम के भरोसे, कोई काम करते हैं, उन्हें कभी सफलता नहीं प्राप्त होती। कृष्ण-पक्ष जिस तरह चन्द्रमा की सम्पूर्ण कलाओं का नाश कर डालता है, उसी तरह एकमात्र शौर्य्य के भरोसे कार्य्यारम्भ करनेवाला क्रोधी मनुष्य प्रभु-शक्ति, मन्त्र-शक्ति और उत्साह-शक्ति, इन तीनों शक्तियों से प्राप्त होनेवाली सम्पत्ति का नाश कर डालता है। अतएव क्रोध का अवश्य ही त्याग करना चाहिए। उसकी उपेक्षा करने से कभी कार्य-सिद्धि नहीं होती। भाई भीमसेन, राजाओं को समान-वृत्ति तो होना चाहिए, परन्तु प्रसङ्ग की बात उन्हें सदा ध्यान में रखनी चाहिये। यदि नरमी दिखाने का प्रसङ्ग हो तो नरमी का व्यवहार करना चाहिये। यदि कड़ाई दिखाने का प्रसंग हो तो कड़ा व्यवहार करना चाहिये। प्रसंग को देखकर ही उसे मृदुता या तीक्ष्णता को स्वीकार करना चाहिये। जो राजा इस तरह का व्यवहार करता है, वह अपने तेज से ही सब

लोगों को अपने वश में रख सकता है। सभी उससे डरते और सभी उसकी आज्ञा मानते हैं। सूर्य्य को देखो। यद्यपि वह अपनी तेजस्विता कभी नहीं छोड़ता, तथापि ऋतु-विशेष में वह अपने तेज को घटा-बढ़ा जरूर देता है। शीतकाल में वह मृदु और ग्रीष्मकाल में तीक्ष्ण हो जाता है। यही कारण है जो उसके तेज का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। अतएव तेज के सम्बन्ध में राजा को अपना व्यवहार सूर्य्य के ही सदृश रखना चाहिये।

"भीमसेन, तुम तो ऐसे न थे। पहले तो तुम्हारा मन इस तरह क्षुब्ध न होता था। पहले तो तुमने अपनी गम्भीरता से सागर तक का तिरस्कार कर दिया था। गम्भीरता में तुम उससे भी बढ़ गये थे। आज तुम इतने चञ्चल क्यों हो उठे?

"भाई, क्षमा से बढ़कर संसार में और कोई साधन नहीं। क्षमा का अवलम्ब करने से सुख की उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्राप्ति होती है, और आरम्भ किया गया काम यथासमय सफल हो जाता है। क्षमा को तो मैं कार्य्यसिद्धि की जड़ समझता हूँ। उसमें एक और भी बहुत बड़ा गुण है। वह यह कि उसका कभी नाश नहीं होता; उसकी सहायता से शत्रुओं का अवश्य नाश हो जाता है। इस दशा में तुम्हीं कहो, क्षमा से बढ़कर कार्य्य-सिद्धि में सहायता देने वाली और कौनसी वस्तु संसार में है?

"तुम शायद यह समझते होगे कि जबतक हम लोग क्षमा-क्षमा कहते हुए चुपचाप बैठे रहेंगे, तब तक दुर्योधन सब राजाओं को अपने अनुकूल कर लेगा। फिर उससे पार पाना

असम्भव हो जायगा। परन्तु तुम्हारी यह शङ्का निर्मूल है यादव कभी दुर्योधन के अनुकूल न होंगे। हम लोगों पर उनका निष्कपट स्नेह है। उनका यह स्नेह सर्वथा स्वाभाविक भी है। वे हमारे स्नेह-पाश में बँध-से गये हैं। वे ऐसे-वैसे नहीं, बड़े ही आत्माभिमानी हैं; उनके साथ हम लोग सदा से ही नम्रता का व्यवहार करते आये हैं। अतएव वे हमें छोड़कर कभी दुर्योधन की अनुकूलता न करेंगे। हमारा उनका सख्य ही कुछ ऐसा है कि उसे वे त्रिकाल में भी तोड़ना न चाहेंगे। यद्यपि इस समय ऊपर से ऐसा मालूम होता है कि वे दुर्योधन ही के अनुकूल हैं, तथापि समय आने पर वे उसे छोड़कर हमारी ही सहायता करेंगे। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। यादव ही नहीं, उनके बन्धु-बान्धव भी हमारी ही सहायता करेंगे। यादवों के मातृ-पितृ-पक्ष के सम्बन्धी तथा उनके नये-पुराने मित्र भी यादवों ही का अनुसरण करेंगे। इन लोगों में से एक भी ऐसा नहीं, जो यादवों की बात का उल्लंघन करे। इस समय ये लोग जो दुर्योधन की अनुकूलता कर रहे हैं, उसका कारण है। ये लोग दुर्योधन को भुलावा दे रहे हैं। अपनी नम्रता और अनुकूलता से अभी तो ये ऊपरी तौर से यह दिखा रहे हैं कि युद्ध का प्रसङ्ग आने पर हम लोग तुम्हारी ही सहायता करेंगे। परंतु परिणाम में यह बात न होगी। उस समय ये लोग दुर्योधन को अवश्य ही छोड़ देंगे और यादवों के साथ हमारे पक्ष में आ मिलेंगे। इसका मुझे पूरा भरोसा है।

"भाई, दुर्योधन के साथ युद्ध करने का समय अभी नहीं आया। इस समय उसके साथ युद्ध छेड़ देने से न यादव लोग ही हमारी सहायता करेंगे और न उनके मित्र ही। बात यह है कि दुर्योधन ने तेरह वर्ष बाद हमें राज्य लौटा देने की प्रतिज्ञा की है। इस अवधि के पहले ही यदि हम लोग शस्त्र-ग्रहण करेंगे तो हमारा यह काम कभी न्याय-संगत न माना जायगा; और अन्यायी का पक्ष कोई भी समझदार आदमी नहीं ग्रहण करता। उदय होते ही सूर्य्य जैसे कमल के मुकुलों को फोड़ देता है, वैसे ही हम लोगों का असमय में शस्त्र-ग्रहण यादवों और तत्पक्षी राजाओं के सख्य को फोड़ देगा। नियमोल्लंघन करने के कारण फिर हमें इन लोगों की सहायता से वञ्चित होना पड़ेगा?

"जिस वनवासी को हमने दुर्योधन का हाल जानने के लिए भेजा था उसने अवश्य ही दुर्योधन की सभी बातों की प्रशंसा की है। उसके कथन से तो यही सूचित होता है कि दुर्योधन को रत्ती भर भी राज्य-मद नहीं। उससे यह भी सूचित होता है वह अपने बन्धु-बान्धवों, अपने इष्ट-मित्रों और अपने नौकर-चाकरों से बहुत ही स्नेह करता है। सम्भव है, यह सब सच हो। परन्तु, फिर भी, दुर्योधन दुर्जन ही है। सम्पत्ति प्राप्त होने पर दुर्जन किसी-न-किसी दिन अवश्य ही विपथगामी हो जाता है। ऐसे मनुष्य को राज्य का मद हुए बिना रहता ही नहीं। जिसका हृदय अहङ्कार से अभिभूत हो रहा है, जिसने कभी किसी काम का आरम्भ करके स्वयं उसे सफलतापूर्वक

नहीं समाप्त किया, वह कुछ दिन चाहे भले ही आनन्द से सम्पत्तियों का उपभोग करे, पर सदा नहीं कर सकता। विनय और शालीनता के कारण उसकी सम्पत्तियों का नाश कुछ ही समय तक रुक सकता है, अधिक समय तक नहीं। कारण उपस्थित होने पर वह अवश्य ही अहङ्कार के वशीभूत हो जाता है। फिर वह विनय और शील आदि को भूल जाता है। इस अवस्था को पहुँचने पर उसे अवश्य ही विपत्ति-ग्रस्त होना पड़ता है। दुर्जनों का राज-मद परिणाम में कभी सुखकारक नहीं होता।

"राज-मद अत्यन्त अनर्थकारी है। राजा के हृदय में मद और अहङ्कार की उत्पत्ति होने पर मूढ़ता उसे अवश्य ही आ घेरती है; और मूढ़ मनुष्य को कार्य्य-अकार्य्य का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। अतएव मूढ़ता का आगमन होते ही मनुष्य न्याय्य मार्ग का उल्लंघन कर जाता है—वह अन्याय करने लगता है। और, अन्यायी राजा से प्रजा कभी सन्तुष्ट नहीं रहती। वह अवश्य ही उसकी प्रतिकूलता करने लगती है। प्रजा के प्रतिकूल होने पर मन्त्री लोग भी प्रतिकूल हो जाते हैं। अन्यायी राजा को कोई पसन्द नहीं करता; सभी उससे घृणा करते हैं। प्रजाजनों और मन्त्रियों के विरोधी बन जाने पर, राजा चाहे जितना पराक्रमी क्यों न हो, उसका समूल नाश करना बहुत ही सहज हो जाता है। तीव्र वायु के झोंकों से जिस वृक्ष के पत्ते, डालियाँ और तना आदि सभी अवयव हिल जाते हैं—शिथिल हो जाते हैं—उसे मन्द वायु भी सहज ही में उखाड़ फेंकता है। यही हाल अहङ्कारी, मदोन्मत्त और अन्यायी राजा का होता है। उसकी

प्रजा और मन्त्रि-मण्डल के बिगड़ उठने पर वह निर्बल और सहायहीन हो जाता है। तब उसका जड़ से नाश करने में देर नहीं लगती। तब तो अल्प बल और अल्प साधन से युक्त भी शत्रु उसे, शिथिल हुए वृक्ष के सदृश ही, उखाड़ फेंकने में समर्थ होता है।

"हमारे शत्रु दुर्योधन का उत्कर्ष यद्यपि उत्तरोत्तर बढ़ रहा है, तथापि उसकी उपेक्षा करने ही में हमारी भलाई है। नीति कहती है कि राज-मद से मत्त हुए शत्रु का उत्कर्ष चाहे जितना अधिक रहा हो, बुद्धिमान् मनुष्य को उससे भयभीत न होना चाहिये। दुर्विनीत शत्रु भले ही ख़ूब बलवान् और ख़ूब पराक्रमी क्यों न हो, दुर्विनीतता के कारण उसका वह बल और वह पौरुष समय पर कुछ भी काम नहीं आता। भेद-भाव का प्रसंग उपस्थित होने पर बहुत ही थोड़े उपायों से वह जीता जा सकता है। कारण यह है कि दुर्विनीत और मदमत्त पुरुष के पास सम्पदाएँ बहुत दिन तक ठहर ही नहीं सकतीं। अन्त में वे उसे स्वयं ही छोड़ जाती हैं। उनका पर्य्यवसान अनर्थकारी हुए बिना रहता ही नहीं।"

अपने शत्रु दुर्योधन के अभ्युदय का स्मरण करके क्षुब्ध हुए भीमसेन को युधिष्ठिर इस प्रकार नीतिशास्त्र-सम्बन्धी रहस्य समझा ही रहे थे कि महामुनि व्यास वहाँ अकस्मात् आते दिखाई दिये।

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

पण्डित श्री सत्यनारायण कविरत्न

पण्डित सत्यनारायण, सरलता की—विनय की—मूर्त्ति, स्नेह की प्रतिमा और सज्जनता के अवतार थे। जो उनसे एक बार मिला, वह उन्हें फिर कभी न भूला। मुझे वह दिन और वह दृश्य अब तक याद है। सन् १९१५ ई० में (अक्टूबर के अन्तिम सप्ताह में) उनसे प्रथम बार साक्षात्कार हुआ था। पण्डित मुकुन्दरामजी का तार पाकर वह ज्वालापुर आये थे। मैं उन दिनों वहीं महाविद्यालय में था। वह स्टेशन से सीधे (पं० मुकुन्दराम के साथ) पहले मेरे पास पहुँचे। मैं पढ़ा रहा था। इससे पूर्व कभी देखा न था, आने की सूचना भी न थी। सहसा एक सौम्य मूर्त्ति को विनीत भाव से सामने उपस्थित देखकर मैं आश्चर्य-चकित रह गया। दुपल्लू टोपी, वृन्दावनी बगलबन्दी, घुटनों तक धोती, गले में अंगोछा—यह वेषभूषा थी। आँखों से स्नेह बरस रहा था। भीतर की स्वच्छता और सदाशयता मुस्कराहट के रूप में चेहरे पर झलक रही थी। उस समय 'किरातार्जुनीय' का पाठ चल रहा था। व्यास-पाण्डव-समागम का प्रकरण था। व्यासजी के वर्णन

में भारवि की ये सूक्तियाँ छात्रों को समझा रहा था—

'प्रसह्य चेतःसु समासजन्तमसंस्तुतानामपि भावमार्द्रम्।
माधुर्य-विस्रम्भ-विशेष-भाजा कृतोपसंभाषमिवेक्षितेन'।

इन सूक्तियों के मूर्त्तिमान् अर्थ को अपने सामने देखकर मेरी आँखें खुल गईं। इस प्रसंग को सैंकड़ों बार पढ़ा, पढ़ाया था, पर इसका ठीक अर्थ उसी दिन समझ में आया। मैं समझ गया कि हों न हों, यह सत्यनारायणजी हैं; पर फिर भी परिचय-प्रदान के लिये पं० मुकुन्दरामजी को इशारा कर ही रहा था कि आपने तुरन्त अपना यह मौखिक 'विज़िटिंग कार्ड' हृदयहारी टोन में स्वयं पढ़ सुनाया—

'नवल-नागरी-नेह-रत, रसिकन ढिंग विसराम।
आयौ हौं तुव दरस कौं, सत्यनरायन नाम'।

मुझे याद है, उन्होंने 'निरत नागरी' कहा था (सत्यनारायणजी की जीवनी में इसी रूप में यह छपा भी है); 'निरत', 'रत' में पुनरुक्ति समझकर मैंने कहा-'नवल नागरी' कहिये तो कैसा? फ़िक़रा चुस्त हो जाय। हस्बहाल मज़ाक़ (समयोचित विनोद) समझकर वह एक अजीब भोलेपन से मुस्कराने लगे, बोले—'अच्छा, जैसी आज्ञा।'

यह पहली मुलाक़ात थी। इस मौक़े पर शायद दो दिन पं० सत्यनारायणजी ज्वालापुर ठहरे थे। उनके मुख से कविता-पाठ सुनने का अवसर भी पहली बार तभी मिला था।

सत्यनारायणजी से मेरी अन्तिम भेंट दिसम्बर १९१७ ई० में हुई थी, जब वह 'मालतीमाधव' का अनुवाद समाप्त करके हम लोगों को—मुझे और साहित्याचार्य श्रीपण्डित शालग्रामजी शास्त्री को—सुनाने के लिये ज्वालापुर पधारे थे। परामर्शानुसार अनुवाद की पुनरालोचना करके छपाने से पहले एक बार फिर दिखाने को कह गये थे, पर फिर न मिल सके। उनके जीवन-काल में दो बार मैं धाँधूपुर भी उनसे मिलने गया था। एक बार की यात्रा में श्री पं० शालग्रामजी साहित्याचार्य भी साथ थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् भी दो-तीन बार मैं धाँधूपुर गया हूँ और सत्यनारायण की याद में जी खोलकर रो आया हूँ। अब भी जब उनकी याद आती है, जी भर आता है। एक प्रोग्राम बनाया था कि दो-चार ब्रजभाषा-प्रेमी मित्र मिलकर छः महीने ब्रज में घूमें, ब्रज की रज में लोटें, गाँवों में रहकर जीवित ब्रजभाषा का अध्ययन करें, ब्रजभाषा के प्राचीन ग्रंथों की खोज करें, ब्रजभाषा का एक अच्छा प्रामाणिक कोष तैयार करें। ऐसी बहुत-सी बातें सोची थीं, जो उनके साथ गईं और हमारे जी में रह गईं! अफ़सोस!

"ख़्वाब था जो कुछ कि देखा, जो सुना अफ़साना था!"

सत्यनारायणजी के कविता-पाठ का ढंग बड़ा ही मधुर और मनोहारी था। सहृदय भावुक तो बस सुनकर बेसुध-से हो जाते थे, वह स्वयं भी पढ़ते समय भावावेश की सी मस्ती में झूमने लगते थे। ब्रजभाषा की कोमल कान्त पदावली और सत्यनारायणजी

का कोकिलकण्ठ, 'हेम्नः परमामोदः', सोने-सुगन्ध का योग और मणि-काञ्चन का संयोग था। पठ्यमान—गीयमान—विषय का आँखों के सामने चित्र-सा खिंच जाता था और वह हृदय-पट पर अङ्कित हो जाता था। सुनते-सुनते तृप्ति न होती थी। कविता सुनाते समय वह इतने तल्लीन हो जाते थे कि थकते न थे। सुनाने का जोश और स्वर-माधुर्य उत्तरोत्तर बढ़ता जाता था। उच्चारण की विस्पष्टता, स्वर की स्निग्ध गम्भीरता, गले की लोच में सोज़ और साज़ तो था ही, इसके सिवा एक और बात भी थी, जिसे व्यक्त करने के लिये शब्द नहीं मिलता। किसी शाइर के शब्दों में यही कह सकते हैं—

'ज़ालिम में थी इक और बात इसके सिवा भी।'

सत्यनारायणजी के श्रुति-मधुर स्वर में सचमुच मुरली-मनोहर के वंशीरव के समान एक सम्मोहनी शक्ति थी, जो सुननेवालों पर जादू का सा असर करती थी। सुननेवाला चाहिये, चाहे जब तक सुने जाय, उन्हें सुनाने में उज्र न था। एक दिन हमलोग उनसे निरन्तर ६–७ घंटे कविता सुनते रहे, फिर भी न वह थके, न हमारा जी भरा।

सत्यनारायण स्वाभाविक सादगी के पुतले थे; गुदड़ी में छिपे लाल थे। उनकी भोली-भाली सूरत, ग्रामीण वेष-भूषा, बोल-चाल में ठेठ व्रजभाषा देख-सुनकर अनुमान तक न हो सकता था कि इस करामाती चोले में इतने अलौकिक गुण छिपे हैं! उनकी सादगी सभा-सोसाइटियों में उनके प्रति अशिष्ट व्यवहार का कारण

बन जाती थी। इसकी बदौलत उन्हें कभी-कभी धक्के तक खाने पड़ते थे। प्लेटफ़ार्म की सीढ़ियों पर मुश्किल से बैठने पाते थे! उनकी जीवनी में ऐसे कई प्रसङ्गों का उल्लेख है। इस प्रकार की यह एक घटना उन्होंने स्वयं सुनाई थी:—

मथुरा में स्वामी रामतीर्थजी महाराज आये हुए थे। ख़बर पाकर सत्यनारायणजी भी दर्शन करने पहुँचे। स्वामीजी का व्याख्यान होने को था; सभा में श्रोताओं की भीड़ थी; व्याख्यान का नान्दीपाठ—मंगलाचरण—हो रहा था, अर्थात् कुछ भजनीक भजन अलाप रहे थे। सद्यःकवि लोग अपनी-अपनी ताज़ी तुकबन्दियाँ सुना रहे थे। सत्यनारायणजी के जी में भी उमङ्ग उठी; यह भी कुछ सुनाने को उठे। व्याख्यान-वेदि की ओर बढ़े, आज्ञा माँगी, पर 'नागरिक' प्रबन्धकर्ताओं ने इन 'कोरे सत्य, ग्राम के वासी' को रास्ते में ही रोक दिया! दैवयोग से उपस्थित सज्जनों में कोई इन्हें पहचानते थे। उन्होंने कह-सुनकर किसी तरह ५ मिनट का समय दिला दिया। वेदि के पास पहुँचकर श्रीकृष्ण-भक्ति के दो सवैये इन्होंने अपने ख़ास ढंग में इस प्रकार पढ़े कि सभा में सन्नाटा छा गया; भावुक-शिरोमणि श्रीस्वामी रामतीर्थजी सुनकर मस्ती में झूमने लगे। ५ मिनट का नियत समय समाप्त होने पर जब यह बैठने लगे, तब स्वामीजी ने आग्रह और प्रेम से कहा कि अभी नहीं, कुछ और सुनाओ। यह सुनाते गये और स्वामीजी अभी और, अभी और, कहते गये; व्याख्यान सुनाना भूलकर कविता सुनने में मग्न हो गये! ५ मिनट की जगह

पूरे पौन घंटे तक कविता-पाठ जारी रहा। मथुरा की भूमि, व्रज-भाषा में श्रीकृष्ण-चरित की कविता, भावुक भक्तशिरोमणि स्वामी रामतीर्थ का दरबार, इन्हें और क्या चाहिये था। 'मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः' का सुन्दर सुयोग पाकर रस-वृष्टि से सबको शराबोर कर दिया—यमुना-तट पर व्रज-भाषा-सुरसरी की हिलोर में सबको डुबो दिया। कहा करते थे, वैसा आनन्द कविता-पाठ में फिर कभी नहीं आया!

हिन्दी-साहित्य की निःस्वार्थ सेवा और व्रजभाषा की कविता का प्रचार—लोकरुचि को उसकी ओर आकृष्ट करना—व्रज-कोकिल सत्यनारायण के जीवन का मुख्य उद्देश था। उन्होंने भिन्न-भाषा-भाषी अनेक प्रसिद्ध पुरुषों के अभिनन्दन में जो प्रशस्तियाँ लिखी हैं, उनमें प्रशस्ति-पात्रों से यही अपील की है—

'जैसो करी कृतारथ तुम अँग्रेजी भाषा,
तिमि हिन्दी उपकार करहुगे ऐसी आशा।'

—(कवीन्द्र रवीन्द्र के अभिनन्दन में)

'नित ध्यान रहे तव हृदय में ईश-चरन-अरविन्द को।
प्रिय सजन, मित्र निज छात्रजन हिन्दी हिन्दू हिन्द को।'

—(डॉब्सन साहब के अभिनन्दन में)

स्वामी रामतीर्थजी के वह इसलिये भी अनन्य भक्त थे कि उन्हें 'व्रज-व्रजभाषा-भक्त भक्ति-रस रुचिर रसायन' समझते थे। अपने समय के महापुरुषों में सबसे अधिक भक्ति उनकी स्वामी रामतीर्थजी ही में थी। स्वामीजी भी सत्यनारायणजी के

गुणों पर मुग्ध थे। उन्हें अपने साथ अमेरिका ले जाने के लिये बहुत आग्रह करते रहे, पर सत्यनारायणजी अपने गुरु की बीमारी के कारण न जा सके, और इसका सत्यनारायणजी को सदा पश्चात्ताप रहा। अस्तु। सत्यनारायण सभा-सोसाइटियों में भी इसी उद्देश से कष्ट उठाकर सम्मिलित होते थे, जैसा कि उन्होंने एक बार अपने एक मित्र से कहा था—'मैं तो ब्रजभाषा की पुकार लैकें जरूर जाऊँगो, और कछू नायँ तो ब्रज-भाषा-सुरसरी की हिलोर में सबको भिजायँ तो आऊँगो।'

सत्यनारायण मनसा, वाचा, कर्मणा हिन्दी के सच्चे उपासक थे, और अपनी वेष-भूषा, आचार-व्यवहार और भाव-भाषा से प्राचीन हिन्दुत्व और भारतीयता के पूरे प्रतिनिधि थे। बी० ए० तक अँगरेज़ी पढ़कर और अँगरेज़ी के विद्वानों की संगति में रात-दिन रहकर भी वह अँगरेज़ी से बचते थे। अनावश्यक अँगरेज़ी बोलने का हमारे नवशिक्षितों को कुछ दुर्व्यसन-सा हो गया है। इनकी हिन्दी में भी तीन तिहाई अँगरेज़ी की पुट रहती है। सत्यनारायण इस व्यापक दुर्व्यसन का एक अपवाद थे।

एक बार जब वह ज्वालापुर में आये हुए थे, हिन्दी-भाषा-भाषी एक नवयुवक साधु से मैंने उनका परिचय कराया। मैं भूल से यह कह गया कि सत्यनारायणजी अँगरेज़ी के भी विद्वान् हैं। फिर क्या था, यह सुनते ही साधु साहब प्लुत स्वर में हाँ ३ कहकर लगे अँगरेज़ी उगलने। यद्यपि वार्तालाप का विषय हिन्दी-भाषा का प्रचार था, 'साधु महात्मा' बराबर अँगरेज़ी बूँकते रहे

और सत्यनारायणजी अपनी सीधी-सादी हिन्दी में उत्तर देते रहे। कोई एक घंटे तक यह अँगरेज़ी-हिन्दी संग्राम चलता रहा, पर सत्यनारायणजी ने एक वाक्य भी अँगरेज़ी का बोलकर न दिया, वह अपने व्रत से न डिगे। अन्त में हारकर साधु-साहब ने पूछा—'क्या अँगरेज़ी बोलने की आपने क़सम तो नहीं खा रक्खी?' इन्होंने गम्भीरता से कहा—'मैं किसी भी ऐसे मनुष्य के साथ, जो टूटी-फूटी भी हिन्दी बोल-समझ सकता है, अँगरेज़ी नहीं बोलता। हिन्दी बोलने-समझने में सर्वथा ही असमर्थ किसी अँगरेज़ीदाँ से वास्ता पड़ जाय तो लाचारी है, तब अँगरेज़ी भी बोल लेता हूँ।' उक्त साधु अँगरेज़ी के कोई बड़े विद्वान न थे, इंट्रेन्स तक पढ़े थे। कुछ दिनों मद्रास की हवा खा आये थे और उन्हें अँगरेज़ी बोलने का संक्रामक रोग लग गया था।

सत्यनारायणजी ने समय अनुकूल न पाया। कविता के लिए यह समय वैसे ही प्रतिकूल है, फिर व्रजभाषा की कविता से तो लोगों को कुछ राम-नाम का वैर हो गया है। व्रजभाषा की कविता का उत्कर्ष तो क्या, उसकी सत्ता भी आजकल के साहित्य-धुरन्धरों को सह्य नहीं। सत्यनारायणजी के रोम-रोम और श्वास-श्वास में व्रजभाषा और व्रजभूमि का अनन्य प्रेम भरा था। यह पूर्व जन्म की प्रकृति थी; जन्मान्तरीण संस्कार थे। जो उन्हें बरबस इधर खींच रहे थे—'मोहूँ तो व्रज छोड़िकें अन्त कहूँ अच्छो नाय लगैगो! मैं तो व्रज में ही आऊँगो—मेरी व्रज की ही वासना है।'*

* (जीवनी, पृष्ठ २४८)

उनके इन उद्गारों से दृढ़ धारणा होती है कि अष्ट-छापवाले किसी महाकवि महात्मा की आत्मा सत्यनारायण के रूप में उतरी थी ! अन्यथा इस ......काल में यह सब कुछ कब सम्भव था ! यह तो दलबन्दी का ज़माना है, विज्ञापनबाज़ी का युग है, सब प्रकार की सफलता 'प्रोपगंडा' पर निर्भर है; जिसे इन साधनों का सहारा मिला, वह गुब्बारा बनकर ख्याति के आकाश में चमक गया। ग़रीब सत्यनारायण को कोई भी ऐसा साधन उपलब्ध न था ! यही नहीं, भाग्य से उन्हें कुछ मित्र भी ऐसे मिले, जिन्होंने उनके बेहद भोलेपन को अपने मनोविनोद की सामग्री या तफ़रीह-तबा का सामान समझा, जिन्होंने दाद देने या उत्साह बढ़ाने की जगह उनकी तथा ब्रजभाषा के अन्य कवियों की कविताओं की हास्योत्पादक समालोचना करके उन्हें बनाना ही सन्मित्र का क़र्त्तव्य समझ रक्खा था। और हाय ! उनकी जन्म-भर की कमाई 'हृदय-तरङ्ग' को, जिसे याद करके वह सदा दुःख के साँस लेते रहे, दरिद्र के मनोरथ की गति को पहुँचानेवाले भी तो उनके सुहृच्छिरोमणि कोई सज्जन ही थे ! ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति में पलकर और ऐसी 'क़द्रदान' सोसाइटी पाकर भी, आश्चर्य है, सत्यनारायण 'कविरत्न' कैसे कहला गये ! इसे स्वामी रामतीर्थ जैसे सिद्ध महात्मा का आशीर्वाद या अदृष्ट की महिमा ही समझना चाहिए।

सत्यनारायण के सद्गुणों का पूर्ण परिचय अभी संसार को प्राप्त नहीं हुआ था। नन्दन-कानन का यह पारिजात अभी

खिलने भी न पाया था कि संसार की विषैली वायु के झोकों ने झुलस दिया! व्रजकोकिल ने पञ्चम में आलाप भरना प्रारम्भ ही किया था कि निर्दय काल-व्याध ने गला दबा दिया! 'भारतीय आत्मा' कृष्ण को पुकारती ही रह गई और कोकिल उड़ गया!—
'वह कोकिल' उड़ गया, गया, वह गया कृष्ण! दौड़ो आओ'।
संसार में समय-समय पर और भी ऐसी दुर्घटनाएँ हुई हैं, पर सत्यनारायण का इस प्रकार आकस्मिक वियोग भारत-भारती हिन्दी-भाषा का परम दुर्भाग्य ही कहा जायगा।

सत्यनारायण की जीवनी में उनके सार्वजनिक जीवन पर, उनकी साहित्य-सेवा और व्यक्तित्व पर, अनेक विद्वानों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से विचार किया है, और खूब किया है; कोई बात बाक़ी नहीं छोड़ी। मैं भी प्यारे सत्यनारायण की याद में चार आँसुओं की यह जलाञ्जलि दे रहा हूँ। मेरी इच्छा थी कि उनकी कविता पर (और देखा जाय तो यही उनका वास्तविक जीवन था) ज़रा और विस्तृत रूप से विचार करूँ। पर सोचने पर अपने में इस कार्य की पात्रता न पाई, क्योंकि मैं व्रजभाषा की कविता का पक्षपाती प्रसिद्ध हूँ, और सत्यनारायण मेरे मित्र थे। सत्यनारायण की कविता की समालोचना का यथार्थ अधिकारी कोई तटस्थ विद्वान् ही हो सकता है, जो इस समय तो नहीं, पर कभी आगे चलकर सम्भव है—'कालो ह्ययं-निरवधिर्विपुला च पृथ्वी'।

दुर्भाग्य की बात है कि सत्यनारायणजी की उत्कृष्ट कविता का अधिकांश 'यार लोगों की इनायत' से नष्ट हो गया, जिसके

लिये वह अन्त समय तक तड़पते रहे। फिर भी उनकी बची-खुची जो कविता इस समय उपलब्ध है, वह उन्हें कम-से-कम 'कविरत्न' प्रमाणित करने के लिये, मैं समझता हूँ, पर्याप्त है। भले ही कुछ समालोचक उन्हें 'महाकवि' मानने को तैयार न हों; अपनी-अपनी समझ ही तो है। सत्यनारायण के सम्बन्ध में यह विवाद उठ चुका है। ब्रजभाषा के प्रवीण पारखी श्रीवियोगी हरिजी ने 'ब्रजमाधुरीसार' में लिखा है—'इसमें सन्देह नहीं कि सत्यनारायणजी ब्रजभाषा के एक महाकवि थे'। इसपर एक विद्वान् समालोचक ने यह कहकर आपत्ति की—"……सत्यनारायण को महाकवि कहना उनकी स्तुति भले ही हो, पर उसका औचित्य भी मानने के लिये कम-से-कम हम तो तैयार नहीं हैं।" इसपर वियोगी हरिजी ने 'नम्र निवेदन' किया—

"जो कवि एक आलोचक की दृष्टि में महाकवि है, वही दूसरे की नजर में साधारण कवि भी नहीं है। स्वर्गीय सत्यनारायण को अभी चाहे कोई महाकवि न माने, पर कुछ काल के बाद वे निःसन्देह महाकवियों की श्रेणी में स्थान पायँगे। यह अनुमान मुझे महाकवि भवभूति, वर्ड्सवर्थ और देव का स्मरण करके हुआ है।"*

भगवान् करे ऐसा ही हो। अब न सही, आगे चलकर ही सत्यनारायण को समझनेवाले पैदा हों और श्रीवियोगी हरिजी की इस सूक्ति का अनुमोदन करें—

---

* 'सम्मेलन पत्रिका', भाग ११, अङ्क १०.

'जग-व्योहारन भोरौ कोरौ गाम-निवासी,
ब्रज-साहित्य-प्रवीन काव्य गुन-सिन्धु-विलासी।
रचना रुचिर बनाय सहज ही चित आकरषै,
कृष्ण-भक्ति अरु देश-भक्ति आनँद रस बरषै।
पढ़ि 'हृदय-तरंग' उमंग उर प्रेमरंग दिन-दिन चढ़ै,
सुचि सरल सनेही सुकवि श्रीसत्यनरायन जसु बढ़ै।*

सत्यनारायण की जीवनी करुण रस का एक दुःखान्त महा-नाटक है। जिस प्रतिकूल परिस्थिति में उन्हें जीवन बिताना पड़ा और फिर जिस प्रकार उन्हें 'अनचाहत को संग' के हाथों तंग आकर समय से पहले ही संसार से कूच करने के लिए विवश होना पड़ा, उसका हाल पढ़-सुनकर किसी भी सहृदय को उनकी भाग्यहीनता पर दुःख और समवेदना हो सकती है। पर एक बात में सैकड़ों से वह बड़े ही सौभाग्यशाली सिद्ध हुए। गहन अन्धकार में भटकते को दीपक दीख गया, अपार सागर में थके हुए पंछी को मस्तूल मिल गया; सत्यनारायण को मरने के बाद ही सही, 'चुप की दाद देनेवाला' एक 'भारतीय हृदय', मुर्दा हड्डियों में जान डालनेवाला—यशःशरीर पर दया दिखानेवाला—एक 'मसीहा' मिल गया, जिसके कारण सत्यनारायण की स्वर्गीय संतप्त आत्मा अपने सांसारिक जीवन की समस्त दुःख-दायी दुर्घटनाओं को भूलकर सन्तोष की साँस ले सकती है, और अन्यान्य परलोकवासी हिन्दी के वे अभागे कवि, लेखक, जिनका

* कविकीर्तन.

नाम भी यह कृतघ्न और स्वार्थी संसार भूल गया, सत्यनारायण की इस खुशनसीबी पर रश्क कर सकते हैं, उनकी इस सौभाग्य-शालिता को स्पृहा की दृष्टि से देख सकते हैं। यही नहीं, हिन्दी के अनेक जीवित लेखक और कवि भी, यदि उन्हें यह विश्वास हो जाय कि मुर्दों को जिन्दा करनेवाला कोई ऐसा 'मसीहा' हमें भी मिल जायगा तो, सुखपूर्वक इस संसार से सदा के लिए बिदा होने को उस लेडी की तरह तैयार हो जायँ, जिसने आगरे के 'ताज' को देखकर अपने पति द्वारा यह पूछा जाने पर कि 'कहो इस अद्भुत इमारत के विषय में तुम्हारी क्या राय है ?' उत्तर दिया था कि 'मैं इसके सिवा कुछ नहीं कह सकती कि यदि आप मेरी क़बर पर ऐसा स्मारक बनावें तो मैं आज ही मरने को तैयार हूँ।' मेरा मतलब सत्यनारायणजी की जीवनी के लेखक 'भारतीय हृदय' पंडित बनारसीदासजी चतुर्वेदी से है। चतुर्वेदीजी की पर-दुःख-कातरता और दीनबन्धुता प्रसिद्ध है। प्रवासी भारतवासियों की राम-कहानी सुनाने में जो काम आपने किया है, वह बड़े-बड़े दिग्गज लीडरों से भी न बन पड़ा।

परमात्मा दया करके 'भारतीय हृदय' का सा विशाल, सहानुभूति-पूर्ण और प्रेमी हृदय हम सबको भी प्रदान करे, जिससे हम लोग अपने साहित्य-सेवियों का सम्मान करना सीखें और अपने सन्मित्रों की स्मृति और कीर्ति-रक्षा के लिये इनके समान प्रयत्नशील हो सकें।

चतुर्वेदीजी ने सत्यनारायण के अनेक मित्रों को कीर्तिशेष

स्वर्गीय मित्र के गुणगान-द्वारा वाणी और हृदय पवित्र करने का अवसर देकर उनपर एक बड़ा उपकार किया है। मैं चतुर्वेदीजी का कृतज्ञ हूँ कि मुझे भी उन्होंने इस बहाने सत्यनारायण की याद में 'चार आँसू' * बहाने का मौक़ा देकर अनुगृहीत किया।

मैं प्रत्येक सहृदय साहित्यप्रेमी से सत्यनारायण की इस जीवनी की राम-कहानी पढ़ने की सानुरोध प्रार्थना करूँगा।

—पद्मसिंह शर्मा

* यह पं० बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा लिखी गई पं० सत्यनारायण कविरत्न की जीवनी की पं० पद्मसिंह शर्मा की भूमिका का शीर्षक है।

अध्ययन

यदि हम चाहते हों कि हमें कोई ऐसा चसका लगे जो प्रत्येक दशा में हमारा सहारा हो और जो जीवन में हमें आनंद और प्रसन्नता प्रदान करे, उसकी बुराइयों से हमें बचावे—चाहे हमारे दिन कितने ही बुरे हों और सारा संसार हमसे रूठा हो—तो हमें चाहिए कि हम पढ़ने का चसका लगावें। पर अध्ययन की रुचि से जो लाभ हैं, वे इतने ही नहीं हैं। जिन उद्देश्यों के साधन के लिये अध्ययन किया जाता है, वे इतने ही नहीं हैं, इनसे अधिक हैं और इनसे उच्च हैं। आत्म-संस्कार-सम्बन्धी पुस्तक* में अध्ययन को केवल एक रुचि की बात कह देना ठीक नहीं, उसे परम कर्त्तव्य ठहराना चाहिए; क्योंकि ज्ञान की वृद्धि और धर्म के अभ्यास का अध्ययन एक प्रधान साधन है। यह ठीक है कि बहुतसे कर्मण्य पुरुष हुए हैं जो बड़े-बड़े काम कर गए हैं, पर लिखना-पढ़ना नहीं जानते थे। बहुतसे लोग ऐसे हो गये हैं जिनके पठन-पाठन वा मानसिक शिक्षा के अभाव की पूर्ति उनकी प्रज्ञा की प्रतिभा, अनुभव की अधिकता और अन्वीक्षण के अभ्यास द्वारा हो गई थी। पर पहली बात सोचने की यह है कि

* पं० रामचन्द्र शुक्ल-प्रणीत 'आदर्श जीवन'।

यदि वे पढ़े-लिखे होते, उनकी जानकारी और अधिक होती तो संभव है वे और अधिक उत्तम कार्य्य कर सकते। दूसरी बात यह है कि स्वाध्याय और आचरण आदि के सम्बन्ध में जो नियम ठहराए जाते हैं, वे ऐसे इक्के-दुक्के लोगों के लिये नहीं जिन्हें जन-साधारण से अधिक स्वाभाविक शक्तियाँ प्राप्त रहती हैं।

आत्म-संस्कार के विधान का स्वाध्याय एक प्रधान अंग है। हमारे लिये किसी जाति के उस साहित्य में गति प्राप्त करने का और कोई द्वार नहीं जिसमें उसके भाव और विचार व्यक्त रहते हैं तथा उसकी उन्नति के क्रम का लेखा रहता है। मनुष्य जाति के सुख और कल्याण के विषय में संसार के प्रतिभासंपन्न पुरुषों ने जो सिद्धान्त स्थिर किए हैं, उन्हें जानने का और कोई उपाय नहीं। जो मनुष्य पढ़ना नहीं जानता, उसे भूतकाल का कुछ ज्ञान नहीं। वह जो कुछ सोचता है, विचारता है, परीक्षा करता है, वह अपनी ही छोटी-सी पहुँच और अपने ही अल्प साधनों के अनु-सार। उसे उस भांडार का पता नहीं जो न जाने कितनी पीढ़ियों से संचित होता आया है। एक प्रसिद्ध गणितज्ञ के विषय में कहा जाता है कि जब वह लड़का था और उसे पुस्तकों की जानकारी नहीं थी, तब उसने गणित की कुछ प्रक्रियाएँ निकालीं और उन्हें यह समझकर कागज़ पर लिख लिया कि मैंने बड़े भारी आवि-ष्कार किए। कुछ दिनों के उपरान्त जब वह एक बड़े पुस्तकालय में गया, तब उसे यह जानकर बड़ा दुःख हुआ कि जिन्हें वह इतने दिनों से अपने आविष्कार समझे हुए था, वे साधारण छात्रों तक

को ज्ञात, पुरानी और पिष्टपेषित बातें हैं। विद्या के प्रत्येक विभाग में यही दशा उसकी होती है जो पढ़ता नहीं। मनुष्य की अन्वेषण और विचार-परम्परा ज्ञान की किस सीमा तक पहुँच चुकी है, इसकी उसे खबर नहीं रहती। उसके लिये उसके पूर्व का काल अन्धकारमय है। न जाने कितने लोग हो गए, कैसे-कैसे विचार कर गए, पर उसे क्या ? वह जो सामने देखता है वही जानता है और शिक्षा के अभाव के कारण वह अच्छी तरह देख भी नहीं सकता। वह अपने ही फैलाए हुए अंधकार में गिरता पड़ता है, टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियों में भटकता फिरता है, यह नहीं जानता कि मनुष्यों के श्रम से एक चौड़ा सीधा मार्ग तैयार हो चुका है।

यहाँ हम पढ़ने के दो-एक अत्यन्त प्रत्यक्ष लाभों की ओर ध्यान देते हैं। यह विषय जैसा उपयुक्त है, वैसा ही मनोरंजक भी है। पहली बात तो यह है कि पढ़ने से इतिहास और काव्य में हमारी गति होती है। और भूत काल की घटनाएँ हमारे अंतःकरण में प्रत्यक्ष हो जाती हैं। इसके द्वारा हमें संसार के बड़े-बड़े राज्यों की उत्पत्ति, वृद्धि और पतन का पता चलता है। पढ़ने से हमें विदित होता है कि किस प्रकार मनुष्य जाति की सभ्यता का प्रवाह कभी कुछ दिनों के लिये रुकता और कभी पीछे हटता हुआ, कभी एक स्थान में बँधता और दूसरे स्थान में इकट्ठा होता हुआ, कभी कुछ दिनों के लिये उथला और छिछला पड़कर फिर अनिवार्य्य वेग के साथ बहता और गंम्भीर होता हुआ अंततः आगे ही बढ़ता आया और उसने अपनी सुख-समृद्धिपूर्ण विजय का प्रसार

किया। हम जानते हैं कि किस प्रकार अनेक विघ्न-बाधाओं को सहकर, कितने ही दिनों तक भयानक कष्टों और आपत्तियों को झेलकर, जनता ने क्रमशः अपनी उन्नति की है, जिसका फल यह हुआ हैं कि प्रत्येक सभ्य देश के ग़रीब आदमी भी अपने पूर्वजों की अपेक्षा अधिक सुख-चैन से हैं। हम जानते हैं कि किस प्रकार संसार की अनेक क्रूर और धर्मभावशून्य जातियाँ बौद्ध धर्म ग्रहण करने को तैयार हुईं; किस प्रकार बौद्ध धर्म का प्रभाव और प्रचार बढ़ा तथा उससे मनुष्यों की रहन-सहन में कितना शुभ परिवर्तन हुआ। पुस्तकों में हम देखते हैं कि किस प्रकार प्रताप और शक्ति एक जाति से निकलकर दूसरी जाति में जाती है। उनसे यह भी पता लगता है कि किन-किन कारणों से और किन-किन दशाओं में ऐसा होता है। भारतवर्ष, फ़ारस, काबुल, मिस्र, यूनान, रोम—जो अब नाम ही नाम को रह गए हैं, कल्पना में जिनके प्रताप और महत्त्व की धुँधली छाया-मात्र शेष रह गई है—पुस्तकों के द्वारा हमें अपने यथार्थ रूप में प्रकट होते हैं और हम उनकी यथार्थ स्थिति को समझने में समर्थ होते हैं।

इतिहास की पुस्तकों से पाठकों को एक अत्यंत अनमोल शिक्षा मिलती है। मनुष्य जाति के मामलों में परमेश्वर किस प्रकार समय-समय पर हाथ डालता है, वे स्पष्ट देखते हैं। पर आधुनिक कोटि के इतिहासवेत्ता इस बात को देखकर भी इससे अनभिज्ञ बनते हैं। वे प्रत्येक कार्य वा घटना के कारण का पता विकास-सिद्धांत अथवा निज-कल्पित नियमों द्वारा लगाने का दम भरते हैं। पर यह बात

ऐसी प्रत्यक्ष है कि इसपर धूल नहीं डाली जा सकती। यह संसार के इतिहास में अमिट अक्षरों में अंकित है। भारतवासियों की धर्म-प्रवृत्ति का बौद्ध धर्म द्वारा जो संस्कार हुआ, उसे देखने से स्पष्ट झलकता है कि किस प्रकार मनुष्यों के आचार-व्यवहार और रीति-नीति में अनुकूल परिवर्त्तन उपस्थित करने के लिये परमात्मा की प्रेरणा से एक-न-एक नई शक्ति खड़ी हो जाती है। जिस समय भारतवासी अपना सारा धर्म-पुरुषार्थ वैदिक कर्मकांड की जटिल क्रियाओं में समझने लगे थे, उस समय उन्हें परोपकार और दया-धर्म की ओर फिर से प्रवृत्त करने के लिये भगवान् बुद्ध का अवतार हुआ। अग्निष्टोम, वाजपेय, दर्शपौर्णमास आदि का जितना फल समझा जाता था, उतना ही फल कूआँ, तालाब खुदवाने, बाग लगाने आदि का समझा जाने लगा। यह ठीक है कि परमात्मा का व्यापक उद्देश्य कभी-कभी हमारे संकुचित उद्देश्य से भिन्न होता है, जिससे हमारे मन में अनेक प्रकार की शंकाएँ उठती हैं। हम जैसा होना न्याय्य समझते हैं, वैसा होते न देख ईश्वर के विषय में अनेक प्रकार के संदेह करने लग जाते हैं। पर यदि विचारकर देखिए तो इतिहास में चारों ओर परमेश्वर की प्रेरणा का आभास मिलता है। कितनी छोटी-छोटी बातों से संसार में कितने बड़े-बड़े उलट-फेर हुए हैं, यह प्रत्येक इतिहासविज्ञ मनुष्य को विदित है। जहाँ एक शक्ति का पतन और नाश होता है, वहाँ दूसरी शक्ति का उदय और उत्थान होता है। अव्यवस्था के उपरांत व्यवस्था स्थापित होती है, अंधेर के पीछे सुनीति का संसार होता है, दुर्बलता के पीछे बल आता है,

बड़े-बड़े प्राचीन राज्यों के खँडहरों की ईंटों को जोड़-बटोरकर नए-नए अधिक बल-वैभव-सम्पन्न साम्राज्य खड़े होते हैं। मिस्र, बाबुल, फ़ारस आदि के अवशिष्टांश से यूनान की सभ्यता का विकास हुआ, यूनान की खंडित शक्ति से रोम राज्य की और रोम राज्य के छितराए खंडों से यूरोप की आधुनिक राजनैतिक शक्तियों की सृष्टि हुई।

अध्ययन के द्वारा हम घर बैठे बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वानों के गम्भीर विचारों को जान सकते हैं, संसार के प्राचीन महापुरुषों के सत्संग का लाभ उठा सकते हैं। अध्ययन के द्वारा हम ज्ञान के स्रोत तक बराबर पहुँच सकते हैं, चाहे ज्ञानदाता जिस स्थान पर हो और जिस काल में हुआ हो। इस विषय में दिक् या काल कोई बाधा नहीं डाल सकता। अध्ययन के द्वारा हम वाल्मीकि, व्यास और गौतम से उतने ही परिचित हो सकते हैं जितने उनके समकालीन थे। अध्ययन हमें भारतवर्ष के अतुल ज्ञान-भांडार से सन्तुष्ट कर सकता है, यूनान, रोम आदि की व्यवस्थित विचार-परम्परा से परिचित कर सकता है, अरब, फ़ारस आदि की भावुकता का अनुभव करा सकता है। भवभूति को हम मृत कैसे समझें जब कि वह 'उत्तररामचरित' द्वारा हमें अपनी मधुर वाणी सुना रहे हैं। क्या कालिदास की उज्जयिनी में शिप्रा के किनारे जाकर हमारा आँसू बहाना ठीक है जब कि अपने अलौकिक काव्य द्वारा वे हमारे सामने उपस्थित हैं। थोड़ा सोचिए तो कि इससे बढ़कर आनंद और क्या हो सकता है कि हम अपनी

कोठरी में ऐसे-ऐसे साथियों को लिए आराम के साथ लेटे हैं, जैसे कालिदास, भवभूति, चन्द बरदाई, तुलसी, रहीम। हमारा जब जी चाहता है तब हम जायसी की कहानी सुनकर अपना समय काटते हैं, जब मन में आता है अंधे सूर के प्रेम और चतुराई से भरे पद सुनकर रसमग्न होते हैं, कभी कल्पना में चित्रकूट के घाट पर बैठे राम-लक्ष्मण के दर्शन करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी की गंभीर गिरा से अपने उद्विग्न मन को शांत करते और मर्य्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र का चरित देख पुलकित होते हैं। एक कोने में कबीर अपनी ऐड़ी-बेड़ी बानी और 'सबद', 'साखी' द्वारा पंडितों और मुल्लाओं को फटकारते हुए बैठे हैं। कहीं बौद्धों से झगड़ते-झगड़ते थककर सिर पर हाथ दिए अद्वैतवादी शंकराचार्य्य संसार को मिथ्या बतला रहे हैं, कहीं भूषणजी मरहठों के बीच बैठे अन्याय-दमन की उत्तेजना दे रहे हैं। इसी प्रकार की एक ख़ासी मंडली जहाँ लगी हुई है, वहाँ और कोई साथी न रहे तो क्या ?

जो विद्याभ्यासी पुरुष पढ़ता है और पुस्तकों से प्रेम रखता है, संसार में उसकी स्थिति चाहे कितनी ही बुरी हो, उसे साथियों का अभाव नहीं खल सकता। उसकी कोठरी में सदा ऐसे लोगों का वास रहेगा जो अमर हैं। वे उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करने और उसे समझाने के लिये सदा प्रस्तुत रहेंगे। कवि, दार्शनिक और विद्वान्, जिन्होंने अपने घोर प्रयत्नों द्वारा प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करके शांति और सुख का तत्त्व निचोड़ा है,

बड़े-बड़े महात्मा, जिन्होंने आत्मा के गूढ़ रहस्यों की थाह लगाई है, सदा उसकी बातें सुनने तथा उसकी शंकाओं का समाधान करने के लिये उद्यत रहेंगे। यदि पाठक चाहे तो उनमें से प्रत्येक व्यक्ति उसको तुच्छ चिंताओं से मुक्त करके ऐसी भावमयी सृष्टि में ले जाने के-लिये तैयार रहेगा जहाँ सांसारिक प्रपंचों का लेश नहीं। चाहे कितनी ही घोर निःस्तब्धता हो, उसके कानों में प्रकृति का मधुर और रहस्यपूर्ण संगीत पड़ेगा, कोमल और गंभीर वचन सुनाई देगा। कालिदास अपनी अलौकिक प्रतिभा के बल से उसे मेघ के साथ अलकापुरी में पहुँचावेंगे अथवा भवभूति के साथ जाकर वह दंडक वन में थोड़ा विश्राम पावेगा। तुलसीदास उसे अपने साथ गंगा उतरकर वन की ओर जाते हुए राम-लक्ष्मण को दिखावेंगे, जिनके अलौकिक सौन्दर्य के कारण—

गाँव गाँव अस होई अनंदू, देखि भानुकुल-कैरव-चंदू।
जो यह समाचार सुनि पावहि, ते नृप रानिहिं दोष लगावहिं॥

और कहेंगे—

धन्य धन्य बन पथ पहारा, जहँ जहँ नाथ पाँव तुम धारा॥
धन्य विहग मृग काननचारी, सफल-जनम भे तुमहि निहारी॥
हम सब धन्य सहित परिवारा, दीख दरस भरि नयन तुम्हारा॥

जायसी उसे कलिग देश में ले जाकर जहाज पर चढ़ावेगा और राजा रतनसेन के साथ सिंहलद्वीप में उतारकर प्रेम-पथ का माधुर्य और त्याग दिखावेगा, फिर चित्तौरगढ़ लाकर चिता पर बैठी पद्मावती (पद्मिनी) के सतीत्व की अद्भुत दीप्ति का दृश्य

सम्मुख करेगा। चंद बरदाई उसे प्राचीन काल के सूर सामंतों की आन और नोंक-झोंक दिखावेगा। इस प्रकार विद्याभ्यासी पुरुष बड़े-बड़े लोगों की प्रतिभा से अपने भावों को पुष्ट करेगा। प्रत्येक युग और प्रत्येक देश के महान् पुरुष उसके सामने हाथ बाँध इस प्रकार खड़े रहेंगे जिस प्रकार मंत्रवेत्ता के आह्वान पर देवता उपस्थित होते हैं।

पढ़ते समय हमें विद्वान् और प्रतिभाशाली पुरुषों के मनोहर वाक्यों को, उनकी चमत्कारपूर्ण उक्तियों और विचारों को मन में संचित करते जाना चाहिए जिसमें हमारे पास ज्ञान का एक ऐसा प्रचुर भांडार हो जाय कि उसमें से समय-समय पर, जब जैसा अवसर पड़े, हम शांति, उपदेश और उत्साह प्राप्त कर सकें। इस प्रकार का भांडार अधिकार में रखना उपयोगी और आनंदप्रद दोनों हैं। बहुतसे ऐसे अवसर आ पड़ते हैं जब हमारा जी टूट जाता है और हमारी शक्ति शिथिल हो जाती है। सोचिए तो ऐसे अवसरों पर किसी ऐसे पुरुषार्थी महात्मा के उत्साहपूर्ण वचनों से कितना उत्साह प्राप्त होगा जिन्होंने कठिन संकट और विघ्न सहे, पर अंत में अपने अध्यवसाय के बल से सिद्धि प्राप्त की। इस वचन से कितना उत्साह मिलता है—

छाँड़िए न हिम्मत, बिसारिए न हरिनाम,
जाही बिधि राखैं राम, वाही विधि रहिए।

प्रयत्न में हताश वा दुःखी व्यक्ति को कितना धैर्य बँध सकता है, यदि उसे किसी ऐसे महात्मा के वचन सुनने को मिलें जो दुःख

पड़ने पर कहता है—"ईश्वर चाहता है कि हम इस दशा में रहें, हम इस कर्त्तव्य को पूरा करें, हम इस व्याधि को भोगें, हम इस विपत्ति में पड़ें, हम यह अपमान और ताप सहें। ईश्वर की जैसी इच्छा! ईश्वर की यही इच्छा है, हम या संसार चाहे जो कुछ कहे। उसकी इच्छा ही हमारे लिये परम धर्म है।"

पढ़ने का एक लाभ तो हुआ कि उससे हम समय पड़ने पर शिक्षा, उत्साह और शांति प्राप्त कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त उसके द्वारा हमें ऐसे-ऐसे अस्त्र प्राप्त होते हैं जिन्हें लेकर जीवन के भीषण संग्राम में हम अपनी थाप रख सकते हैं। उससे हमें उत्तम और उत्कृष्ट विचारों का आभास तथा उत्तम कार्य्यों की उत्तेजना मिलती है। एक बार किसी सरदार ने राजा की इच्छा के विरुद्ध कोई उचित और न्याय-संगत कार्य्य करने पर उद्यत एक दूसरे सरदार को परामर्श देते हुए कहा—"पर महाशय, राजाओं का क्रोध तो आप जानते हैं, मृत्यु सामने रखी है।" दूसरे सरदार ने चट उत्तर दिया—"तब तो मुझमें और आपमें केवल इतना ही अन्तर है कि मैं आज मरूँगा और आप कल।" इस अभिप्राय-गर्भित वाक्य से किसका उत्साह नहीं बढ़ेगा, किस का चित्त दृढ़ नहीं होगा? कोई छोटा है या बड़ा, यह कोई बात नहीं। मुख्य बात यह है कि जो जिस श्रेणी में है, वह उसके धर्म का पालन करता है या नहीं। साधारण विद्या बुद्धि का मनुष्य भी यदि मर्यादा का ध्यान रखता हुआ धर्मपूर्वक अपना कार्य्य करता जाय तो वह उसी प्रकार सफल-मनोरथ हो सकता है जिस प्रकार कोई बड़ा

बुद्धिमान् मनुष्य । पढ़ने का बड़ा भारी अलभ्य और मनोहर लाभ यह है कि उससे चित्त शुभ भावनाओं और प्रौढ़ विचारों से पूर्ण हो जाता है । जब कभी जी चाहे, मनुष्य चुपचाप बैठ जाय और जो कुछ उसने पढ़ा हो उसका चिन्तन करता हुआ उपयोगी और और आनंदप्रद विचारों की धारा में मग्न हो जाय, इसके लिये उसे किसी प्रकार के बाहरी आधार की आवश्यकता नहीं । खाली बैठे रहने के समय—जैसे रेल, नौका आदि की यात्रा में—हमारे लिये यह एक अच्छा लाभकारी मानसिक व्यायाम रखा हुआ है कि हम किसी अच्छे ग्रंथकार की कोई पुस्तक उठा लें और उसकी बातों को, उसकी चमत्कारपूर्ण उक्तियों को तथा उसके मनोहर दृष्टान्तों को हृदय में इस क्रम से धारण करते जायँ कि जब अवसर पड़े, तब हम उन्हें उपस्थित कर सकें । हृदय का यह भांडार ऐसा होगा जो कभी खाली न होगा; दिन-दिन बढ़ता जायगा । इस प्रकार हृदय में संचित किए हुए भाव और दृष्टान्त मोतियों के समान होंगे जिनकी आभा कभी नष्ट वा क्षीण नहीं होती ।

पढ़ने से हमारे व्यवसायों की बुराइयों और प्रलोभनों का, हमारे आचार-व्यवहार की त्रुटियों का, हमारे समय की कु-प्रवृत्तियों का जो निराकरण होता है, वह भी थोड़ा लाभ नहीं है । इस विषय में अध्ययन औषधोपचार का काम करता है । जो लोग दिन भर ऐसे कामों में हैरान रहते हैं जिनमें कठिन तर्क-वितर्क और सूक्ष्म विवेचना की आवश्यकता होती है, उन्हें चाहिए कि

जब अवकाश मिले तब वे विस्तीर्ण कल्पनावाले लेखकों की भावमयी रचनाओं का अवलोकन करें। पर जहाँ तक देखा जाता है, ऐसे लोग उत्कृष्ट कल्पना-पूर्ण रचनाओं और काव्यों से दूर भागते हैं, वे यह नहीं समझते कि उन्हें ऐसी पुस्तकों के अध्ययन की बड़ी आवश्यकता है। क्योंकि जो अपने समस्त जीवन का संस्कार करना चाहता हो, उसे अंतःकरण की ऐसी वृत्तियों का अभ्यास रखना चाहिये जिनका काम उसे अपने नित्य के व्यवसाय में नहीं पड़ता अथवा जिनके व्यवहार की ओर उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं होती। तर्कशास्त्र का अभ्यास ऐसे लोगों के लिये बहुत उपयोगी होगा जो प्रमाणपूर्वक यथातथ्य बात कहने तथा प्रौढ़ युक्ति देने में अनभ्यस्त हैं। जो जटिल विवेचना और कठिन मानसिक प्रयास में व्यस्त रहते हैं, काव्यों के अवलोकन से उनके चित्त को बहुत विश्राम और आनन्द मिलेगा। बहुत से लोगों के लिये ऐतिहासिक पुस्तकें औषध और पुष्टई का काम करेंगी। विशेष-विशेष पुस्तकें विशेष-विशेष अवस्थाओं के लिये उपयोगी होंगी। नाच-रंग और भोग-विलास की प्रवृत्ति का संशोधन भर्तृहरि के नीति और वैराग्यशतक तथा केशव की विज्ञानगीता आदि से हो सकता है। जिसमें प्राकृतिक दृश्यों के सौंदर्य्य के अनुभव की मार्मिकता नहीं, उसमें कालिदास और भवभूति की वाणी सुनते-सुनते यह मार्मिकता आ जायगी। प्रत्येक अवसर और प्रत्येक दशा के लिये वाल्मीकि का महाकाव्य उपयुक्त होगा जो हर समय उदास और मुँह लटकाए रहते हैं, उनकी दवा

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और प्रतापनारायण मिश्र के नाटकों तथा बंगाली लेखक दीनबन्धु मित्र के उपन्यासों से हो सकती है। मानसिक विकारों के लिये पुस्तकें बहुत ही उपयुक्त औषध हैं। जिनका चित्त अपने आस-पास के व्यापारों को दिन-रात देखते-देखते ऊब गया हो, उन्हें चाहिए कि वे अद्भुत घटनाओं और वृत्तान्तों से पूर्ण यात्रा की पुस्तकें पढ़ें। इससे उनका चित्त बहल जायगा और उनमें फुरती आ जायगी। 'चीन में तेरह मास' 'भारत-भ्रमण' कोलंबस की यात्रा, इत्यादि को हाथ में लेकर जब वे चीन, लंका, अमेरिका की बैठे-बैठे सैर करेंगे, तब वे अपने को कारागार से मुक्त हुआ समझेंगे और सृष्टि के विस्तार को देख प्रसन्न होंगे। संकीर्ण भाव के लोगों के आगे इतिहास की पोथियाँ खोलकर रखनी चाहिएँ। एक ग्रंथकार कहता है—"मुझे स्मरण आता है कि मैंने एकबार एक ऐसे पुरुष को, जो पत्नी के मरने पर उसके वियोग में दिन-दिन घुलता जाता था, भूगर्भ-शास्त्र की दस-पाँच बातें सुनाकर चंगा कर दिया। मैंने तो यह सोचा है कि जिस प्रकार पुस्तकालयों में लोग विषय के अनुसार दर्शन, गणित, इतिहास, काव्य, विज्ञान आदि लिखकर अलमारियों पर चिपकाते हैं, उसी प्रकार जिन-जिन रोगों के लिये जो-जो पुस्तकें उपकारी हों, उनकी अलमारियों पर उन्हीं रोगों के नाम—कास, ज्वर, शोकोन्माद आदि—लिखकर लगा दूँ।" आगे चलकर वही ग्रंथकार थोड़ा गम्भीर होकर फिर कहता है—"जब कोई ऐसा दुःख तुम्हारे चित्त में समा जाता है जो हटाए नहीं हटता, और तुम

यह समझने लगते हो कि जब ईश्वर ने इस एक सुख से तुम्हें वंचित कर दिया तब फिर जीवन व्यर्थ है, तब तुम्हारे लिये अच्छा यह होगा कि बड़े-बड़े पुरुषों के जीवनचरित हाथ में लो। फिर देखो कि उनमें एक पृष्ठ भी ऐसा न मिलेगा जिसमें किसी तुम्हारे ऐसे दुःख का पचड़ा गाया गया हो। प्रत्येक पृष्ठ में बराबर जीवन में अग्रसर होते जाने की बात मिलेगी। तुमपर जहाँ कोई दुःख पड़ा, तुम समझते हो कि बस तुम बिना हाथ-पैर के हो गए, तुम्हारी कमर टूट गई। नहीं, कभी नहीं! तुम्हारे हाथ-पैर टूटे नहीं, उनमें झुनझुनी चढ़ गई है। जीवनचरित में तुम देखोगे कि किस प्रकार दुःखों को लाँघता-फाँदता महान् पुरुष का जीवन आगे बढ़ता गया है।"

मनुष्य को किन-किन विषयों के पठन का क्रम रखना ठीक होगा, इसका विचार बहुत कुछ उसके व्यवसाय के अनुसार होना चाहिए। जो दिन-रात किस्से-कहानियाँ ही पढ़ा करता है, वह अच्छा गणितज्ञ कभी नहीं हो सकता। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि पढ़ने का मुख्य उद्देश्य अन्तःकरण का अर्थात् उसकी सब शक्तियों का समान संस्कार है जिसमें जब जिस शक्ति का प्रयोजन पड़े, उससे काम लिया जा सके। इससे हमें आँख मूँदकर विद्या के किसी एक ही विभाग की ओर संलग्न न हो जाना चाहिए। विवेचन-शक्ति का ऐसा अनन्य अभ्यास न करना चाहिये जिससे कल्पना की शक्ति मारी जाय; और कल्पना के व्यवहार की भी इतनी अधिकता न हो कि विवेचन की शक्ति मंद पड़ जाय।

जो मनुष्य विद्या के एक ही अंग में लिप्त रह जाता है, वह उस अंग का भी पूर्ण अधिकारी नहीं हो सकता; क्योंकि विद्या से भिन्न-भिन्न अंगों का संबंध एक-दूसरे से लगा हुआ है, वे एक-दूसरे के आश्रित हैं। जो अपना सारा जीवन केवल व्याकरण ही में बिता देते हैं उनकी विद्या बुद्धि कैसी होती है, यह प्रकट ही है। इसी से मेरा प्रत्येक मनुष्य से यह कहना है कि जहाँ तक हो सके, किसी एक विषय में प्रवीणता प्राप्त करते हुए सब बातों की आवश्यक जानकारी प्राप्त करो और पूरे मनुष्य बनो। इससे उस विषय में भी उत्कृष्टता आवेगी और मानव जीवन भी सफल होगा। इसी ढंग से तुम उस विचार-संकीर्णता से बच सकते हो जो किसी एक ही विषय में मग्न रहनेवालों में पाई जाती है। सारांश यह कि पेशा वा व्यवसाय चाहे जो हो, जो लोग उस पेशे ही भर में रह जायँगे, वे उन चीनियों के समान एकांगदर्शी और संकीर्ण ज्ञान के हो जायँगे, जो अपने बनाए हुए भूगोल के नकशे में चीन साम्राज्य के तो छोटे-छोटे गाँवों तक को लिखते हैं, पर उसके आगे लिख देते हैं "अज्ञात मरुभूमि" वा "बर्बरों का देश"।

शरीर को स्वस्थ रखने के लिये यह आवश्यक है कि आहार के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के और भिन्न-भिन्न गुण रखनेवाले पदार्थ हों। हमें ऐसी वस्तुओं का भोजन करना चाहिए जिनसे रुधिर भी बने, मांस भी बने, मेद भी बने, अस्थि भी बने। मनुष्य रोटी ही पर नहीं रह सकते। यदि वे केवल रोटी ही खायँ तो उनके जोड़ों और पेशियों में फुरती न रहेगी, स्नायुओं

की शक्ति क्षीण हो जायगी, हाथ-पैर न उठेंगे और रक्त दूषित हो जायगा। जो दशा शरीर की है, वही आत्मा की भी है। अंतःकरण तभी सशक्त और फुरतीला रह सकता है जब उसके पोषण के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुएँ पहुँचाई जायँ। उसकी कल्पना की शक्ति को भी पोषण-सामग्री पहुँचानी होगी और विवेचना की शक्ति को भी—विवेक को भी—पुष्ट रखना होगा और भावना को भी तीव्र रखना होगा। इस प्रकार अंतःकरण को स्वस्थ और बलिष्ठ रखना ही पढ़ने का उद्देश्य है। अध्ययन से अंतःकरण की सारी वृत्तियों का अभ्यास बढ़ता है, इससे बल और उत्साह भी प्राप्त होता है और आवश्यकतानुसार शान्ति भी आती है।

पढ़ने का एक प्रयोजन यह भी है कि इतिहास, काव्य आदि से उत्कृष्ट कर्म्मों के दृष्टान्तों को चुनकर उन्हें हृदय में अंकित करके सजावे—ठीक उसी भाँति जैसे गुणी चित्रकार अपनी चित्रशाला सजाता है। इन दृष्टान्तों और घटनाओं को एक-एक करके स्मृति के सन्मुख लाना, उनके ब्योरों पर ध्यान देना, उनके महत्त्व का चिन्तन करना और उनसे उपदेश ग्रहण करना कितना आनंद-दायक होता है! वे चित्र, जिन्हें पाठक अपनी स्मृति में उपस्थित करेंगे, उतने ही रंग-विरंग के होंगे जितने प्रकार के ग्रन्थ वे देखेंगे, उन्हें भिन्न-भिन्न जातियों के इतिहास से, श्रेष्ठ पुरुषों के जीवन-वृत्तान्तों से, कवियों की अलौकिक सृष्टि से, यात्रियों और अन्वेषकों की छानबीन से, वैज्ञानिकों के अनुसंधान से अनेक प्रकार के रुचिर और मनोरम दृश्य प्राप्त होंगे। वे वेदव्यास-अंकित

महात्मा भीष्म के उस समय के पराक्रम को देखेंगे जब वे रथ पर चढ़े पांडव-सेना पर अनिवार्य्य अस्त्रों की वर्षा कर रहे थे, अपने बाणों के अखंड प्रवाह से पांडवों को विकल कर रहे थे, और अर्जुन ऐसे धीर और पराक्रमी पुरुष के छक्के छुड़ा रहे थे। उसके उपरान्त फिर उन्हीं वृद्ध भीष्म पितामह को पाठक शरशय्या पर लेटे-लेटे राजनीति और धर्म्म के गूढ़ तत्त्वों का उपदेश करते देखेंगे।

सच्चा विद्यानुरागी ज्ञान-प्राप्ति का साधन इसलिये करेगा जिसमें वह अपना तथा दूसरों का हित-साधन कर सके। उसका मुख्य उद्देश्य उन शक्तियों की वृद्धि और परिष्कृति का साधन होना चाहिए जो उसे प्राप्त हैं। और उस साधन का मुख्य फल वह आनन्द होना चाहिए जो ज्ञान द्वारा प्राप्त होता है। ऐसे व्यक्ति को पढ़ने का लाभ मैं और क्या बतलाऊँ? प्रसिद्ध अँगरेज विद्वान् बेकन का उपदेश है—"हमें खंडन-मंडन करने के लिये, विश्वास और स्वीकार करने के लिये, तरह-तरह की बात करने के लिये नहीं पढ़ना चाहिए, बल्कि विवेक और विचार के लिये पढ़ना चाहिए।" आगे चलकर उसने पठन, वार्तालाप और लेखन का भेद समझाया है कि पठन से पूर्णता, वार्तालाप से तत्परता और लेखन से यथार्थता आती है। इसी से वह कहता है—"यदि कोई मनुष्य थोड़ा लिखे तो समझना चाहिए कि उसे धारणा की आवश्यकता है; यदि थोड़ा वार्तालाप करे तो समझना चाहिए कि उसमें उपस्थित बुद्धि का अभाव है; और यदि थोड़ा पढ़े तो

समझना चाहिए कि उसे चतुराई और समझ की आवश्यकता है।" बातचीत और लिखना दोनों बहुत प्रयोजनीय हैं। बातचीत व्यवहार-कुशल पुरुषों के लिये प्रायः पुस्तक का काम देती है। पर विद्यानुरागी के लिये पढ़ना एक बड़ा भारी मंत्र है जिसके प्रभाव से चिर-काल का संचित ज्ञान-भांडार उसके सामने खुल पड़ता है, वह सब काल के पुरुषों का समकालीन हो जाता है, और सब जातियों के विचारों का आगार बन जाता है, सैकड़ों पीढ़ियों के प्रयत्न का फल उसके हाथ में आ जाता है। यह प्रत्यक्ष है कि मनुष्यों के कर्मों की व्यवस्था ज्ञान से प्राप्त होती है; और ज्ञान वही श्रेष्ठ है जो अनेक विषयों से सम्बन्ध रखता है। ऐसे ज्ञान का द्वार अध्ययन है।

पर अध्ययन वा पढ़ना है क्या वस्तु? बिना किसी उद्देश्य के यों ही सरसरी तौर पर पुस्तकों के पन्ने उलटते जाना, जैसा कि प्रायः लोग मन-बहलाव के लिये अवकाश के समय किया करते हैं, पढ़ना नहीं है; बल्कि उनमें लिखी बातों को विचारपूर्वक स्थिर किए हुए नियमों और व्यवस्थाओं के अनुसार पूर्ण रूप से हृदय में ग्रहण और धारण करने का नाम पढ़ना है। आर्थर हेल्प्स कहते हैं—"प्रत्येक स्त्री-पुरुष को, जो थोड़ा-बहुत पढ़ सकता है, अपने पढ़ने का कोई उद्देश्य स्थिर कर लेना चाहिए। वह अपनी शिक्षा का कोई एक मूल कांड मान ले जिससे चारों ओर शाखाएँ निकलकर उस मूल वृक्ष के लिये प्रकाश और वायु संचित करें जो आगे चलकर शोभायमान और उपयोगी निकले तथा बराबर

फूलता-फलता रहे। विद्यार्थी को इसका ध्यान सबसे पहले रखना चाहिए। यदि वह बिना नकशे वा ध्रुवयंत्र के यों ही विद्या के अपार समुद्र में चल पड़ेगा और यह स्थिर न कर लेगा कि उसे किस बंदर की ओर चलना है, तो या तो उसकी नाव डूब जायगी या हवा और लहरों के झोंके खाती इधर-उधर टकराती फिरेगी।"

सबसे पहली बात तो यह है कि पढ़ना नियमपूर्वक होना चाहिए, अर्थात् उसके लिये नित्य कुछ समय रख लेना चाहिए और इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बहुत ही आवश्यक बातों को छोड़ और दूसरी बातें उस समय के बीच बाधक न होने पावें। यदि विद्यार्थी को जीविका के लिये कोई काम करना पड़ता हो, तो यह समय सुबीते के अनुसार ही रखा जा सकता है। बहुत करके ऐसे व्यक्ति को रात ही को ऐसा समय मिल सकता है जिसमें वह अपनी प्रिय पुस्तकों को हाथ में ले। अन्यथा सबेरे का समय ही एकाग्र चित्त से अध्ययन करने के लिये उपयुक्त होता है। उस समय चित्त बहुत तत्पर रहता है। रात भर के विश्राम से उसकी सारी शक्तियाँ काम करने के लिये तैयार रहती हैं। सूरदास के विषय में प्रसिद्ध है कि वे नित्य सवेरे स्नानादि के उपरांत कुछ पद बनाकर तब जलपान आदि करते थे। यही बात कई भक्त कवियों के विषय में कही जाती है। टेव ही सब कुछ है। प्राय: ऐसा होता है कि हमारा पढ़ने-लिखने को जी नहीं चाहता, आलस्य मालूम होता है। इसे दृढ़तापूर्वक रोकना चाहिए, नहीं तो आत्म-संस्कार की सारी आशा धूल में मिल जायगी। इस बुरे

प्रभाव से बचने की सबसे अच्छी युक्ति यह है कि बाँधे हुए नियम का दृढ़तापूर्वक पालन करे, उसे टूटने न दे। हमारा चित्त सदा एक-सा नहीं रहता। उसमें सदा एक-सी तत्परता नहीं रहती। आज हम जिस बात को लेकर आशा और उत्साह से भरे हैं, उसी बात से कल कोई आशा नहीं बँधती। प्रत्येक मनुष्य चित्त की इस चंचलता के वशीभूत है। पर यदि बुद्धि उदय होकर तुम्हें आलस्य छोड़ने और उत्साह के अभाव में भी कठपुतली की तरह चटपट काम कर चलने का आदेश करे और तुम उस काम को कर चलो, तो थोड़ा ही देर में देखोगे कि तुममें ज्यों-का-त्यों उत्साह आ गया है। फिर तुम सोचोगे कि हमने बहुत अच्छा किया जो आलस्य के फेर में पड़कर अपने नियमित विधान नहीं छोड़े। बुद्धि को साधना का सहारा दो, आलस्य और खिन्नता को अपने दृढ़ संकल्प द्वारा हटाओ; फिर देखोगे कि आलस्य तुम्हें आता ही नहीं और तुम्हारे चित्त में संयम और अध्यवसाय का संस्कार दृढ़ हो गया है।

दूसरी बात यह है कि पढ़ना समझ-बूझकर हो, अर्थात् हम ग्रंथकार के भाव को ठीक-ठीक समझने का उद्देश्य रखें, उसकी वाक्य-रचना पर ध्यान दें, उसके पूर्व-पक्ष और उत्तर-पक्ष को समझें, उसकी त्रुटियों का पता लगावें तथा उसके सिद्धान्तों की परीक्षा करें। हम जो पुस्तक पढ़ें, उसका मत भी देखें और अपना मत भी देखें। इस रीति से अध्ययन करने का कष्ट प्रायः नवयुवक नहीं उठाते, पर उन्हें समझ रखना चाहिए कि बिना इस

ढंग से अध्ययन किए किसी अच्छे ग्रंथ वा बड़े ग्रंथकार का अभि-प्राय पूर्ण रूप से समझ में नहीं आ सकता। यह प्रणाली पहले बहुत लंबी-चौड़ी और कष्टसाध्य प्रतीत होगी, पर थोड़े दिनों के अभ्यास से हम इसका अनुसरण सहज में और जल्दी-जल्दी करने लगेंगे। काल पाकर हमें इसकी टेव-सी पड़ जायगी और हम झट-झट पृष्ठ पर पृष्ठ पढ़ते जायँगे और हमारा पढ़ना इसी प्रणाली के अनुसार आप-से-आप होगा। पर यदि ऐसा भी न हो, तो भी इस प्रणाली से अध्ययन करने में जो अधिक समय और परिश्रम लगेगा, उससे भरपूर लाभ होगा। जो पुस्तक इस प्रकार समझ-बूझकर पूर्ण रूप से पढ़ी जायगी, वह सब दिन के लिये हमारी हो जायगी, उसके भाव हमारी नस-नस में घुस जायँगे और उसका विषय हमारे ज्ञान का एक अंग हो जायगा। इस प्रकार पूर्ण रूप से दस पुस्तकों का पढ़ना साधारण रीति से सौ पुस्तकों के पढ़ने से अच्छा है। जो मुसाफिर डाकगाड़ी में बैठा रम्य-से-रम्य प्राकृतिक दृश्यों के बीच से होकर ३५ मील प्रति घंटे के हिसाब से भागा जाता है, वह भला क्या देख-सुन सकता है? वह एक बड़े देश से होकर निकल जायगा, पर उसकी विशेषताओं को न जान सकेगा। एक बात और भी है। यदि इस प्रणाली का पूर्णतया अनुसरण किया जायगा तो पढ़ने में बड़ी सुगमता होगी, क्योंकि इसके द्वारा हम प्रस्तुत पुस्तकों की अच्छी बातों का पूरा आनंद लेते जायँगे। बहुतसे नवयुवक यह कहते सुने जाते हैं कि मैंने यह पढ़ा है, वह पढ़ा है; पर यदि उनसे पूछिए

तो पुस्तक के नाम के सिवा वे और कोई बात नहीं बतला सकते। यह कोई पढ़ना नहीं है, इसे समझ-बूझकर पढ़ना नहीं कह सकते। तुम किसी पुस्तक को तब तक पढ़ी हुई नहीं कह सकते जब तक कि उसका सार तत्त्व, उसके निरूपण की शैली, ग्रंथकार की तर्कना-प्रणाली तथा उसके सिद्धान्तों को पुष्ट करनेवाले दृष्टान्त तुम्हारे मन में बैठ न जायँ।

मैंने अध्ययन की उस प्रणाली से बहुत ही लाभ उठाया है जिसे उद्धरणी कहते हैं। इस प्रणाली में बार-बार दोहराने की क्रिया करनी पड़ती है, जिससे पढ़ी हुई बात मन में बैठ जाती है। मैं पढ़ने में इसी प्रणाली का अनुसरण करता हूँ। जब मैं किसी पुस्तक का एक प्रकरण पढ़ चुकता हूँ, तब मैं पुस्तक को बंद कर देता हूँ और उसमें आई हुई मुख्य-मुख्य बातों को फिर ध्यान पर चढ़ाता हूँ। इसी क्रम से मैं एक-एक प्रकरण पढ़ता जाता हूँ। जब पुस्तक समाप्त हो जाती है, तब मैं सारी पुस्तक के विषय का अनुक्रम, एक-एक प्रकरण करके, मन में धारण करता हूँ और इस प्रकार पुस्तक की सारी बातों को मन में दोहरा जाता हूँ। यह हो सकता है कि कोई मनुष्य बहुतसी पुस्तकें पढ़े और कुछ भी न जाने। पढ़ने का जो ढंग ऊपर बतलाया गया है, उसके अनुसार यदि कोई पढ़े तो उसे पुस्तकों के विषय पर पूरा-पूरा अधिकार हो जायगा। यह ढंग जल्दी-जल्दी पढ़ने के लिये तो उपयुक्त नहीं है पर सम्यक् रूप से पढ़ने के लिये उपयुक्त है। जब कोई युवा पुरुष पढ़ना आरंभ करे, तब उसे चाहिए कि वह धीरे-धीरे समझ-बूझकर

पढ़े। दूर जानेवाला कोई हरकारा जब अपनी यात्रा आरंभ करता है, तब धीरे-धीरे चलता है; फिर ज्यों-ज्यों पैर गरमाता जाता है, वह अपनी चाल बढ़ाता जाता है। यदि कोई पाठक पहले ही बहुत अधिक आगे बढ़ना चाहेगा तो उसका चित्त बहुतसी बातों के बोझ से घबरा जायगा और वह विषय को ग्रहण और धारण न कर सकेगा। प्राचीन काल के पंडित और विद्वान् आजकल के पंडितों और विद्वानों से एक बात में अच्छे थे। उनके पास पुस्तकें तो थोड़ी ही सी रहती थीं, पर वे उन्हें अच्छी तरह पढ़ते थे। बहुतसी पुस्तकों ही से बोध नहीं हो जाता। बोध के लिये यह देखना आवश्यक नहीं है कि 'हमने कितना पढ़ा है' बल्कि यह देखना आवश्यक है कि 'हमें कितना उपस्थित है'। एक अनाड़ी किसान सौ बीघे में भी उतनी फसल नहीं पैदा कर सकता, जितनी एक चतुर किसान पचास बीघे में कर सकता है।

पढ़ने के समय एक नोट बुक रख लेने से बड़ी सहायता मिल सकती है। जो पुस्तक तुम पढ़ो, उसके उत्तम और चमत्कारपूर्ण अंशों को उसमें अक्षर-क्रम से या और किसी क्रम से टाँकते जाओ। पढ़ते समय हाथ में एक पेंसिल भी रखो और (यदि पुस्तक तुम्हारी हो तो) पृष्ठ के किनारे ऐसे स्थलों पर निशान करते जाओ, जो बार-बार पढ़ने योग्य हों, जिनमें कोई सुन्दर उक्ति हो, जो संदिग्ध हों, अथवा जिनके विषय में छानबीन आवश्यक हो। पठन-प्रणाली के कई एक लेखकों ने पुस्तक पर निशान के लिये इतने प्रकार के चिह्न बनाए हैं कि यदि कोई पाठक उनका व्यवहार

करे तो सारी पुस्तक ही रँग जाय। पर मैंने जहाँ तक अनुभव किया है, केवल चार चिह्नों ही से काम चल जाता है। वे चार चिह्न ये हैं—

। इस चिह्न से यह सूचित होता है कि जहाँ यह लगा है, उस स्थल का भाव या उक्ति सुन्दर है।

× इससे ऊपरवाले चिह्न का उलटा अभिप्राय समझना चाहिए।

? इस चिह्न से यह अभिप्राय है कि बात संदिग्ध वा अयथार्थ है।

० यह सूचित करता है कि कथन कहीं से उद्धृत है, वा विचार कहीं से लिए गए हैं।

बहुतसे चिह्नों का आडंबर रखने से पढ़ने में सुविधा न होगी, रुकावट ही होगी; क्योंकि पढ़नेवालों का ध्यान इन्हीं चिह्नों की ओर रहेगा, इस विषय की ओर न रहेगा। उसका पढ़ना इसी प्रकार होगा जैसे कोई रास्ते में मील और फ़रलाँग के पत्थर गिनता चले और चारों ओर के रमणीय दृश्यों और विशेषताओं की ओर ध्यान न दे।

पढ़ने में विषयों का विभाग भी अत्यन्त प्रयोजनीय है। हमें ऐसी शक्ति प्राप्त करनी चाहिए कि जिसे धारण करने योग्य विचार का एक बार हमारे चित्त में संचार हो, उसे हम धारण कर लें, 'नोट-बुक' और चिह्नों से, जिनका उल्लेख ऊपर हुआ है, विषय-विभाग में बड़ी सहायता मिलेगी, पर सबसे अधिक सिद्धि अंतःकरण में स्थित, अन्वय और व्यतिरेक की शक्ति की साधना

से होगी। पाठक को अपने विचारों को सुव्यवस्थित करने का अभ्यास करना चाहिए। ज्यों-ज्यों वह पढ़ता जाय, त्यो त्यों उन भावों और विषयों को क्रमबद्ध करता जाय जो उसके सामने आवें।

विषयों के अध्ययन का कोई क्रम होना चाहिए। इस क्रम का अभाव बड़ी भारी भूल है जो प्रायः नवयुवकों से हुआ करती है। वे काव्य पढ़ते-पढ़ते इतिहास पढ़ने लगते हैं, इतिहास छोड़कर तर्क-विद्या की ओर झुकते हैं, फिर उपन्यास हाथ में लेकर बैठते हैं; सारांश यह कि जैसे भिखमंगे एक द्वार से दूसरा द्वार देखा करते हैं। वैसे ही वे एक विषय से दूसरे विषय की ओर जाया करते हैं। वे लोहे की खान खोदते-खोदते ताँबे की खान खोदने लगते हैं, फिर सीसे की खान की ओर लपकते हैं। तात्पर्य्य यह कि एक-एक करके वे प्रत्येक विषय का पल्ला चूमते हैं, पर किसी में भी कुछ काल तक नहीं लगे रहते। इस प्रकार का पढ़ना अध्ययन के उद्देश्य और अभिप्राय का साधक नहीं बाधक होता है। इससे चित्त सदा चंचल और अस्थिर रहता है; और बहुतसे विषयों का बोझ लाद देने से बुद्धि स्तब्ध और शिथिल हो जाती है। सोचना चाहिए कि पढ़ने का उद्देश्य क्या है। जैसा कि बेकन ने कहा है—"पढ़ना खंडन-मंडन करने, वा मानने-मनाने के लिये नहीं होता, वल्कि विचार और विवेक के लिये होता है।" अस्तु; हम लोग जो कुछ पढ़ें, उसे अच्छी तरह समझें-बूझें। पढ़ना हमें केवल ज्ञान की सामग्री प्रदान करता है, विषय में पूर्ण प्रवेश चिन्तन से होता है।

बिना किसी क्रम और व्यवस्था के धारणा में बहुत-सी ऊटंपटाँग और बेमेल बातों को स्थान देने से कोई लाभ नहीं हो सकता। जैसे और सब बातों में वैसे ही पढ़ने के विषय में भी पक्का सिद्धान्त यही है कि एक समय में एक ही चीज पढ़ी जाय, और अच्छी तरह पढ़ी जाय। तीन घोड़ों पर चढ़कर केवल सरकसवाले निकलते हैं, पर सवार, जिसे किसी दूसरे प्रदेश में जाना रहता है, एक ही जँचे हुए घोड़े पर चढ़कर निकलता है। वह अस्थिर चित्त का मनुष्य, जो कभी कविताएँ लिखता है, कभी पुरातत्त्व में टाँग अड़ाता है, कभी राजनैतिक विषयों पर व्याख्यान देता है, किसी एक में भी प्रवीणता नहीं प्राप्त कर सकता। सच्चे विद्यार्थी को इस प्रकार की कुदान और सरसरी पढ़ाई से दूर रहना चाहिए, यह न समझना चाहिए कि बहुत से विषयों का पल्ला चूमने से ही आदमी कुछ सीख सकता है या बहुतसी पुस्तकें उलटने ही का नाम ख़ूब पढ़ना है। एक अनुभवी ग्रंथकार का उपदेश ध्यान देने योग्य है जो कहता है—"साधारणतः पढ़ने की ओर प्रवृत्ति आनंद और शिक्षा के लिये होती है। इससे युवा पुरुष का पढ़ना ऐसा होना चाहिए जिसमें कुछ श्रम मालूम हो और जिसका कुछ विशिष्ट उद्देश्य हो। जिसमें कुछ श्रम पड़ता है, उससे अंतःकरण की सब शक्तियों पर ज़ोर पड़ता है; और कोई विशेष उद्देश्य रखकर हम जो कुछ पढ़ते हैं, उसको धारणा जितनी दृढ़ता के साथ ग्रहण करती है, उतनी दृढ़ता के साथ यों ही सरसरी तौर पर पढ़ी हुई बातों को नहीं।"

एक बात और है। विद्याभिलाषी जो कुछ पढ़े, उसे आलोचनापूर्वक पढ़े। इसी सिद्धान्त की ओर लक्ष्य करके एक विद्वान् कहता है—"कुछ पुस्तकें ऐसी होती हैं जिन्हें सरसरी तौर पर ही पढ़ने के लिये एक आदमी की पूरी उमर चाहिए, कुछ ऐसी होती हैं जो पढ़ने में सहायक मात्र होती हैं और जिनका काम समय-समय पर पड़ता है, कुछ ऐसी होती हैं जो केवल खुशामद वा शिष्टाचार के निमित्त लिखी जाती हैं और जिनका केवल देख लेना ही पढ़ जाना है।" इन भारी-भारी पुस्तकों, सहायक पुस्तकों और शिष्टाचार की पुस्तकों को अलग रखकर विद्यार्थी को ऐसी-ऐसी पुस्तकें पढ़नी चाहिएँ जो उसे कुछ सिखावें, जो यह बतलावें कि कैसे जीना और कैसे मरना होता है, जो उसकी धारणा में उत्तम ज्ञान का भांडार भर दें और कल्पना में उत्तम-उत्तम चित्र अंकित कर दें, उसके श्रेष्ठ मनोवेगों को उभाड़ें तथा हृदय की पवित्र और मृदुल भावनाओं को प्रेरित करें। उसे अपने पढ़ने के लिये पुस्तकें बहुत सोच-विचारकर चुननी चाहिएँ, क्योंकि जो समय बुरी पुस्तक देखने में जाता है, वह नष्ट हो जाता है, और नष्ट करने के लिये विद्यार्थी को समय नहीं मिल सकता। अच्छी पुस्तकों की भी तीन श्रेणियाँ हैं—एक तो वे पुस्तकें जिनका ऊपर बताए हुए ढंग से पूर्ण अनुशीलन करना चाहिए, दूसरी वे पुस्तकें जिनका दो-तीन बार पढ़ जाना ही काफ़ी है, तीसरी वे जिन्हें एक बार से अधिक पढ़ने की आवश्यकता नहीं। जैसे और सब काम करने के वैसे ही पढ़ने के भी तीन ढंग हैं—साधारण पढ़ना, अच्छी तरह पढ़ना,

खूब अच्छी तरह पढ़ना। पर इस अंतिम ढंग से पढ़ने के योग्य पुस्तकें कितनी थोड़ी हैं ! ऐसी पुस्तकें कितनी थोड़ी हैं जिनके विषय में मिल्टन की यह उक्ति चरितार्थ होती हो कि "पुस्तकों में वैसी ही क्रियमाण जीवन-शक्ति उत्पन्न करने का गुण होता है जैसी उनके लिखनेवालों की आत्मा में थी।" पुस्तकों में उनके कर्त्ताओं की पवित्र बुद्धि का सार खींचकर रखा रहता है, जिनके सेवन से मननशील पुरुषों में ज्ञान-शक्ति का संचार होता है। मिल्टन ने आगे चलकर कहा है—"पवित्र मनुष्य के निकट सब वस्तुएँ पवित्र हैं, खान-पान ही नहीं, सब प्रकार का पढ़ना भी, चाहे अच्छा हो चाहे बुरा। यदि अंतःकरण शुद्ध है, तो किसी प्रकार का पढ़ना वा किसी प्रकार की पुस्तकें उसे कलुषित नहीं कर सकतीं। पुस्तकें भोजन की सामग्री के समान हैं, जिनमें कुछ अच्छी होती हैं, कुछ बुरी। लोग अपनी रुचि के अनुसार उनको चुन सकते हैं। विद्यार्थी को इस बात के ऊपर कभी न जाना चाहिए कि शुद्ध अंतःकरणवाले के लिये सब कुछ पवित्र है; क्योंकि बड़ी कठिनाई तो यह है कि हम निर्णय नहीं कर सकते कि कौनसी वस्तुएँ पवित्र हैं। बचपन से लेकर बराबर हम बुराई की ओर ले जानेवाली बातों से घिरे रहते हैं। ऐसी अखंड पवित्रता कितनों में पाई जाती है, जिनपर बुराइयों के संसर्ग से कुछ कल्मष न लगे ? बहुतसी पुस्तकें ऐसी हैं जिन्हें पढ़कर कोई युवा पुरुष बिना हानि उठाए नहीं रह सकता। यदि ऐसा भी हो सकता हो, यदि काजल की कोठरी में जाकर वह कालख से बच भी सकता

हो, तो भी उसे कोई लाभ नहीं पहुँच सकता। पहाड़ पर चढ़कर कंकड़ चुनने से क्या लाभ? नदियों और तालों में मोती नहीं मिल सकते। कुरुचिपूर्ण पुस्तकों में समालोचक लोग रचना के चाहे कितने ही चमत्कार दिखलावें, पर उनकी कुप्रवृत्ति के कलंक को नहीं मिटा सकते। ग्वाल, देव आदि कवियों में रस और अलंकार की पूर्णता और उक्तियों की अपूर्वता का जो आनन्द है, वह उस हानि से घटकर है जो पाठक को उनकी विलास-वासना-पूर्ण वाक्यावली से हो सकती है। इससे हमें क्या पढ़ना चाहिए, इसका पूर्ण विचार रखना चाहिए, अच्छी पुस्तकों का ग्रहण और बुरी पुस्तकों का त्याग करना चाहिये, हमें यह देख लेना चाहिए कि कौन पुस्तकें पवित्र और सारगर्भित हैं और कौन पुस्तकें अपवित्र और निःसार। मन, वचन और कर्म्म से किए हुए पापों के लिये हम उत्तरदाता हैं और पढ़ने का संबंध मन से है। प्रसिद्ध अँगरेजी उपन्यास-लेखक स्कॉट ने जब जाना कि उसके अंतिम दिन निकट आते जाते हैं, तब उसने कहा—"अब मेरे जीवन का अंतिम दिन निकट आता जाता है, अब मैं इस संसार-रूपी रंग-भूमि से विदा होना चाहता हूँ। मैंने अपने समय में सबसे अधिक पुस्तकें लिखीं और मुझे यह सोचकर परम संतोष है कि मैंने अपनी पुस्तकों द्वारा किसी मनुष्य का धर्म-विश्वास डिगाने वा किसी मनुष्य का सिद्धान्त दूषित करने का प्रयत्न नहीं किया। मैंने ऐसी कोई बात नहीं लिखी है जिसे मृत्यु-शय्या पर पड़ने के समय मैं मिटा देना चाहूँ"। इसी प्रकार जब

हमारी आयु पूरी होती दिखाई देगी, जब हमारे जीवन का अवसान निकट जान पड़ेगा, तब हमें यह सोचकर बड़ी शान्ति होगी कि हमने ऐसी कोई पुस्तक नहीं पढ़ी जिसे मृत्यु-शय्या पर पड़ने के समय हम भूल जाना चाहें।

मैंने अब तक जो कुछ कहा है, वह कुवासनापूर्ण पुस्तकों ही को लक्ष्य करके; पर मेरी चेतावनी ऐसी पुस्तकों के विषय में भी है जिनकी रचना दूषित है, जो आडंबर-पूर्ण कृत्रिम शब्दावली से भरी हैं, जिनकी वर्णन-शैली भद्दी और जिनके विचार निकम्मे हैं, और जिनकी ओर ध्यान देना समय और श्रम को नष्ट करना है। रसविहीन शब्दाडंबर-पूर्ण काव्य, बनावटी इतिहास, प्रचलित संशयवाद, उद्वेगपूर्ण उपन्यास—इनको विद्यार्थी अपने मार्ग से दूर रखे, क्योंकि वे उसकी उन्नति में बाधक ही होंगे। महात्मा लोग कह गए हैं कि ऐसी बातों को ग्रहण करना चाहिये जो ऊँची हों। पर यदि हम अंतःकरण को मूर्खता, प्रमाद और असत्य द्वारा पतित होने देंगे तो यह कैसे हो सकेगा? पुस्तकालयों और विद्यार्थियों के लिये महात्माओं का यह उपदेश कितना अमोल है! पढ़ना उसी को चाहिए जिससे कुछ शिक्षा मिले, न कि केवल उद्वेग उत्पन्न हो; जिससे कुछ आवे, न कि केवल ऊल-जलूल विचार हो। अध्ययन सूर, तुलसी ऐसे कवियों का करना चाहिए जो मानव-प्रकृति को प्रत्यक्ष करते हैं, ग्वाल और देव ऐसे कवियों का नहीं जो विषय-वासना को उत्तेजित करते हैं। पढ़ने में इसको अपना अटल सिद्धान्त रखना चाहिए।

अब पूछो कि यह कैसे जानें कि कौनसी पुस्तकें अच्छी और पढ़ने योग्य हैं और कौनसी पुस्तकें बुरी और रद्दी में फेंकने योग्य हैं, तो मैं यही कहता हूँ कि इस विषय में लोकमत और परम्परागत आलोचना को प्रमाण मानकर चलना चाहिए। बुरी पुस्तकों पर संसार ने कलंक का टीका लगा दिया है, जो प्रत्यक्ष है। यदि तुम आँख खोलकर देखोगे तो वह स्पष्ट दिखाई देगा। यंत्रालयों से जो अनेक प्रकार की पुस्तकें नित्य निकला करती हैं और जो पद-योजना तथा वर्णन शैली की विलक्षणता के कारण कुछ दिनों तक बहुत प्रिय रहती हैं, उनके विषय में यह सहज में निश्चित किया जा सकता है कि उनके पढ़ने से कोई लाभ होगा या नहीं। एक प्रकरण क्या, एक पृष्ठ ही पढ़ने से उनका उद्देश्य और भाव प्रकट हो जायगा। स्थालीपुलाक-न्याय से एक चावल से सारी बटलोई का पता चल जाता है। एक चावल जिसे अच्छा लगेगा, वह बटलोई का भात रुचि के साथ खायगा; यदि कच्चा या जला मालूम होगा, तो छोड़ देगा। जब मैं कुछ पढ़ता हूँ, तब किसी अच्छे उद्देश्य से पढ़ता हूँ। बहुतसी पुस्तकें ऐसी होती हैं जिन्हें देखते ही प्रकट हो जाता है कि वे उन सिद्धान्तों के प्रतिकूल हैं, जिन्हें मैं उत्तम समझता हूँ। ऐसी पुस्तकों के विषय में मैं यह नहीं कह सकता कि मुझे उन्हें पढ़ना ही चाहिए। यदि कोई मनुष्य मुझसे आकर कहे कि मैं बड़ी गूढ़ युक्तियों के द्वारा यह सिद्ध करूँगा कि दो और दो पाँच होते हैं, तो मुझे उसकी बातें सुनने की अपेक्षा और बहुतसे जरूरी काम हैं। यदि मुरब्बे का

एक टुकड़ा मुँह में रखते ही मुँह का स्वाद बिगड़ जाय, तो हमें यह देखने के लिये कि मुरब्बा रखना चाहिए या नहीं, सबका सब खाने की आवश्यकता नहीं है। बीस भागों में समाप्त किसी बड़े, पर साधारण, ग्रंथ के तीन-चार भाग पढ़कर ही हमें ग्रंथकार की शक्ति और पहुँच का अन्दाज़ कर लेना चाहिए और यह समझ लेना चाहिए कि यदि हम बीसों भाग पढ़ जायँगे, तो भी हमें कोई उच्च भाव, गंभीर अन्वीक्षण वा हृदय का सच्चा उद्‌गार न मिलेगा। ऐसे बीस भागों को पढ़ने से कोई लाभ नहीं। ऐसे बहुतसे लोग पाए जाते हैं जो किसी फ़ल की कामना से वा किसी देवता को प्रसन्न करने के लिए किसी ग्रंथ का पाठ, बिना उसके अभिप्राय से कोई संबंध रखे हुए, सप्ताह वा महीने के भीतर जैसे-तैसे समाप्त करते हैं। विद्यार्थी को ऐसी कोई आफ़त नहीं पड़ी है। हमें क्या पड़ी है कि हम किसी अपरिचित की निकम्मी बातें सुनने जायँ? इसी प्रकार हमें क्या पड़ी है कि हम कोई बुरी पुस्तक पढ़ने जायँ? जिस प्रकार हम एक से अपना पीछा छुड़ाते हैं, उसी प्रकार दूसरी से भी अपना पीछा क्यों न छुड़ावें?

—रामचन्द्र शुक्ल

सागर और मेघ

सागर—मेरे हृदय में मोती भरे हैं।

मेघ—हाँ, वे ही मोती जिनका कारण हैं—मेरी बूँदें।

सागर—हाँ, हाँ, वही वारि जो मुझसे हरण किया जाता है। चोरी का गर्व!

मेघ—हाँ, हाँ, वही जिसको मुझसे पाकर बरसात की उमड़ी नदियाँ तुझे भरती हैं।

सागर—बहुत ठीक। क्या आठ महीने नदियाँ मुझे कर नहीं देतीं?

मेघ—(मुसकराया) अच्छी याद दिलाई। मेरा बहुतसा दान वे पृथ्वी के पास धरोहर रख छोड़ती हैं, उसी से कर देने की निरन्तरता क़ायम रहती है।

सागर—बाष्पमय शरीर! क्या बढ़-बढ़कर बातें करता है! अन्त को तुझे नीचे गिरकर मुझी में बिलाना पड़ेगा।

मेघ—खार की खान! संसार भर से नीच! सारी पृथ्वी के विकार! तुझे मैं शुद्ध और मिष्ट बनाकर उच्चतम स्थान देता हूँ। फिर तुझे अमृत-वारि-धारा से तृप्त और शीतल करता हूँ। उसी का यह फल है।

सागर—हाँ, हाँ, दूसरे की करतूत पर गर्व। सूर्य का यश अपने पल्ले।

बादल—(अट्टहास करता है) क्यों मैं चार महीने सूर्य को विश्राम जो देता हूँ। वह उसी के विनिमय में यह करता है। उसका यह कर्म मेरी सम्पत्ति है। वह तो बदले में केवल विश्राम का भागी है।

सागर—और मैं जो उसे रोज़ विश्राम देता हूँ।

मेघ—उसके बदले तो वह तेरा जल शोषण करता है।

सागर—तब भी मैं अपना व्रत नहीं छोड़ता।

मेघ—(इठलाकर) धन्य रे व्रती, मानों श्रद्धापूर्वक तू सूर्य को वह दान देता हो। क्या तेरा जल वह हठात् नहीं हरता ?

सागर—(गंभीरता से) और वाड़व जो मुझे नित्य जलाया करता है, तो भी मैं उसे छाती से लगाए रहता हूँ। तनिक उस-पर तो ध्यान दो।

मेघ—(मुसकरा दिया) हाँ, उसमें तेरा और नहीं, कुछ शुद्ध स्वार्थ है; क्योंकि वह तुझे यदि जलाता न रहे तो तेरी मर्यादा न रह जाय।

सागर—(गरजकर) तो उसमें मेरी क्या हानि ! हाँ, प्रलय अवश्य हो जाय।

मेघ—(एक साँस लेकर) आः ! यह हिंसा-वृत्ति। और क्या; मर्यादा-नाश क्या कोई साधारण बात है ?

सागर—हो, हुआ करे। मेरा आयास तो बढ़ जायगा।

मेघ—आः! उच्छृंखलता की इतनी बड़ाई?

सागर—अपनी ओर तो देख, जो बादल होकर आकाश में इधर से उधर मारा-मारा फिरता है।

मेघ—धन्य तुम्हारा ज्ञान! मैं यदि सारे आकाश में घूम-फिरके संसार का निरीक्षण न करूँ और जहाँ आवश्यकता हो जीवन-दान न करूँ, तो रसा नीरसा हो जाय, उर्वरा से वन्ध्या हो जाय। तू नीचे रहनेवाला हम ऊपर रहनेवालों के इस तत्त्व को क्या जाने?

सागर—यदि तू मेरे लिये ऊपर है, तो मैं भी तेरे लिये ऊपर हूँ; क्योंकि हम दोनों का आकाश एक ही है।

मेघ—हाँ! निस्संदेह ऐसी दलील वे ही लोग कर सकते हैं जिनके हृदय में कंकड़-पत्थर और शंख-घोंघे भरे हैं।

सागर—बलिहारी तुम्हारी बुद्धि की, जो रत्नों को कंकड़-पत्थर और मोतियों को सीप-घोंघे समझते हो।

मेघ—(बड़े वेग से गड़गड़ करके हँसता हुआ) तुम्हारे रत्न तो, तुम्हें मथकर, कभी के देवताओं ने निकाल लिये। अब तुम इन्हीं को रत्न समझे बैठे हो।

सागर—और मनुष्य जो इन्हें निकालने के लिये नित्य इतना श्रम करते हैं, तथा इतने प्राण खोते हैं?

मेघ—वे अमरों की झूठी स्पर्धा करने में मरे जाते हैं?

सागर—अच्छा! जिनका स्वरूप प्रतिक्षण बदला करता है, उनकी दलील का कोटिक्रम ऐसा ही होता है।

मेघ—और जो क्षण भर भी स्थिर नहीं रह सकते, उनकी तर्कना का नमूना तुम्हारी बातें हैं, क्यों न ?

सागर—अरे, अपनी सीमा में रमने की मौज को अस्थिरता समझने वाले मूर्ख! तू ढेर-सा हल्ला ही करना जानता है कि—

मेघ—हाँ, मैं गरजता हूँ, तो बरसता भी हूँ। तू तो.....................

सागर—यह भी क्यों नहीं कहता कि वज्र भी निपतित करता हूँ।

बादल—हाँ, आततायियों को समुचित दंड देने के लिये।

सागर—कि स्वतंत्रों का पक्ष छेदन करके उन्हें अचल बनाने के लिये ?

बादल—हाँ, तू संसार को दलित करनेवाले उच्छृंखलों का पक्ष क्यों न लेगा; तू तो उन्हें छिपाता है न !

सागर—मैं दीनों की शरण अवश्य हूँ !

बादल—सच है अपराधियों के संगी ! यही दीनों की सहायता है कि संसार के उत्पातियों और अपराधियों को जगह देना और संसार को सदैव भ्रम में डाले रहना।

सागर—दंड उतना ही होना चाहिए कि दंडित चेत जाय, उसे त्रास हो जाय। अगर वह अपाहिज हो गया तो—

बादल—हाँ, यह भी कोई नीति है कि आततायी नित्य अपना सिर उठाना चाहे और शास्ता उसी की चिन्ता में नित्य शस्त्र लिए खड़ा रहे, अपने राज्य की कोई उन्नति न करने पावे।

सागर—एक छोटे-से मैनाक की इतने बड़े विश्व में क्या गिनती ?

बादल—जो अम्ल के एक बूँद की मनों दूध में। तू इस क्षात्र-धर्म की सूक्ष्मता को क्या समझे ?

सागर—और तूने हाथ में नर-कंकाल का एक टुकड़ा ले लिया कि बड़ा बृहस्पति बन बैठा।

बादल—आः! सुरराज के शस्त्र की यह अवमानना। तू तो साठ हज़ार मर्त्यों का द्रव है।

सागर—तो क्या यह बात भी सत्य नहीं कि वज्र की रचना के लिये एक तपस्वी की हत्या कराई गई ?

बादल—हाँ, कुलिश ने अपनी उत्पत्ति से दधीचि की तपस्या सफल कर दी थी।

सागर—तुम लोग जान ले लेना कोई बात ही नहीं समझते।

बादल—हम हत्या, वध, आलभन, बलिदान, हिंसा, नाश आदि का विभेद जानते हैं। इन गहन विषयों को तू क्या समझे ?

सागर—मैं हत्यारों से बात नहीं करना चाहता।

बादल—और मैं उन दुर्बल हृदयवालों से बात नहीं करना चाहता जो कायरता और कापुरुषता को धर्मभीरुता मानते हैं।

—राय कृष्णदास

चित्राङ्कण

कैसा चित्राङ्कण किया है, चित्रकार ! तेरी यह सारी चित्रकारी लोक के लिए असामयिक, अनुपयुक्त और अहितकर सिद्ध होगी। जान पड़ता है, तेरे रङ्गों में चटक ही है, स्थायित्व नहीं; तेरी लेखनी में लचक ही है, बल नहीं। इसी कारण तू अपने प्रयासों में असफल हुआ है।

यह कैसा चित्र खींचा है, भाई ! यह तो किसी रंग-महल का चित्र जान पड़ता है। सजावट तो खूब दिखाई है। गगन-स्पर्शी गुम्बजों और कनक-कँगूरों की छटा सचमुच ही निराली और चित्ताकर्षिणी है। छज्जे क्या ही मनोमोहक हैं ! इन झरोखों से क्या ये चन्द्रमुखियाँ झाँक रही हैं ? अच्छा ! यह दरबार का दृश्य है। स्वर्ण-सिंहासन पर एक सुन्दर और सुकुमार राजा विराजमान हैं। ये कैसे राजा हैं ! क्षात्र तेज तो इनमें लेश-मात्र भी नहीं। अस्तु। पीछे छत्र तना हुआ है। आस-पास चाटुकार सरदार और मन्त्री हाथ जोड़े खड़े हैं। सामने एक लावण्य-वती वाराङ्गना नृत्य कर रही है। राजा साहब को तो कुछ होश ही नहीं। बेचारे मखमली गद्दे पर लुढ़के पड़े हैं ! एक हाथ में शराब का प्याला है और दूसरे में फूलों की गेंद। एक युवती तांबूल खिला रही है। तलवार पैरों के नीचे दबी पड़ी है ! चित्र-कौशल तो तेरा, वास्तव में, प्रशंसनीय है, पर है यह सब घृणित

और विषाक्त। इस चित्राङ्कण का तुझे क्या पुरस्कार दिया जाय? पारितोषिक पाने के पहले अपनी कलुषित लेखनी तोड़कर फेंक दे, गन्दे रङ्ग उड़ेल दे, निर्जीव उँगलियाँ काट डाल। तुझे कुछ खींचना ही है तो ऐसा चित्र खींच। एक उजड़ा हुआ ग्राम बना। उसमें खँडहर और टूटी-फूटी झोंपड़ियाँ हों। खेत और बाग़ झुलसे और उजड़े पड़े हों। एक ओर भीषण अग्नि धाँय-धाँय करती हुई जीभ लपलपा रही हो। जहाँ-तहाँ अत्याचार-पीड़ित पद-दलित-अस्थि-कङ्काल पड़े हों। भूख के मारे नन्हे-नन्हे बच्चे माताओं की गोद में कलप रहे हों। लूट-खसोट और मार-पीट हो रही हो। सर्वत्र सर्वनाश का साम्राज्य हो। चित्रकार! क्या ऐसा चित्र तू खींच सकेगा? यदि हाँ, तो इसका पुरस्कार भी तुझे शीर्षस्थानीय दिया जायगा।

यह कैसा चित्र खींचा है, भाई! यह तो किसी मानिनी नायिका का चित्र जान पड़ता है। कोप-भवन खूब बनाया है। स्फटिक शिला पर एक मैली-सी सेज बिछी है। मानिनी उसी पर करवट लिये पड़ी है। सारा शरीर धूलि-धूसरित है। केश खुले हुए हैं। अङ्ग पर एक भी भूषण नहीं, सब-के-सब इधर-उधर पड़े हैं। एक सहेली आपको पङ्खा झलती है और दूसरी हाथ पकड़े मना रही है। पतिदेव पैर पलोट रहे हैं! पर श्रीमती मानिनी देवी उस बेचारे की ओर देखती तक नहीं! चित्र-कौशल तो तेरा, वास्तव में, प्रशंसनीय है, पर है यह सब घृणित और विषाक्त। इस चित्राङ्कण का तुझे क्या पुरस्कार दिया जाय? पारितोषिक

पाने के पहले अपनी कलुषित लेखनी तोड़कर फेंक दे, गन्दे रङ्ग उड़ेल दे, निर्जीव उँगलियाँ काट डाल। तुझे कुछ खींचना ही है तो ऐसा चित्र खींच। सबसे पहले एक शुभ्र मन्दिर बना। देख उसके चारों ओर अग्निदेव प्रखर ज्वालाएँ उगल रहे हों। मन्दिर में एक प्रलयङ्कारिणी महाशक्ति प्रतिष्ठित हो। उसके ज्वलन्त नेत्रों से वह्नि-शिखा निकल रही हो। अट्टहास की मुद्रा हो। दाँतों में बिजली-सी कौंधती हो। हृदय पर लाल फूलों का हार पड़ा हो। साड़ी भी लाल ही हो। सारा शरीर रुधिर से लथपथ हो। केश पैरों तक लहरा रहे हों। एक हाथ अनाथ भक्तों के मस्तक पर हो और दूसरे हाथ में हो रक्त-रञ्जित कराल कृपाण। मन्दिर में अखण्ड तेज और प्रचण्ड पराक्रम का साम्राज्य हो। चित्रकार! क्या ऐसा चित्र तू खींच सकेगा? यदि हाँ, तो इसका पुरस्कार भी तुझे शीर्षस्थानीय दिया जायगा।

यह कैसा चित्र खींचा है, भाई! यह तो किसी सुरम्य उद्यान का चित्र जान पड़ता है। रचना तो खूब दिखाई है! लहलही लताओं के मंडप और गहगहे गह्वर के ग्रीष्म-भवन सचमुच ही अनुपम हैं। क्यारियों की छटा कुछ निराली ही है! गमलों की सजावट देखने योग्य है। माधवी-निकुञ्ज क्या ही मनोमुग्धकारी है! कहीं डालों पर रङ्ग-बिरङ्गे पक्षी बैठे हैं, तो कहीं पंख फैलाये मोर नाच रहे हैं। इधर कुछ मनचले रसिक जन हिंडोलों पर झूल रहे हैं। अच्छा! यह जल-विहार का दृश्य है। एक-दूसरे पर जल छिड़क रहा है। कोई कमल की नली से

पानी गुड़गुड़ा रहा है, तो कोई अर्द्धमुकुलित कलियों को तोड़-तोड़कर उछाल रहा है। माधवी-निकुञ्ज में गान-वाद्य भी हो रहा है। इस चित्र को देखकर रसिक-मंडली अवश्य कह उठेगी कि चित्रकार ने क़लम तोड़ दी है। तेरा चित्रकौशल है भी प्रशंसनीय, पर है यह सब घृणित और विषाक्त। इस चित्राङ्कण का तुझे क्या पुरस्कार दिया जाय? पारितोषिक पाने के पहले अपनी कलुषित लेखनी तोड़कर फेंक दे, गन्दे रङ्ग उड़ेल दे, निर्जीव उँगलियाँ काट डाल। तुझे कुछ खींचना ही है तो ऐसा चित्र खींच। एक सघन वन-खण्ड बना। वह प्रान्त पहाड़ी हो। वहाँ एक निर्मल नदी भी बहती हो। तीर के वृक्ष झुककर उसके सुनील जल से आचमन कर रहे हों। नदी के तट पर एक ओर हृष्ट-पुष्ट गायें पानी पीती हों, और दूसरी ओर छोटे-छोटे मृग-शावक नव दूर्वा टूँग रहे हों। समय प्रभात का हो। प्राची को लालिमा से रँग देना। इधर-उधर पक्षी उड़ रहे हों। कहीं ऋषियों और ब्रह्मचारियों का स्नान-ध्यान हो रहा हो, तो कहीं सन्ध्या-पूजा। कहीं स्वाध्याय होता हो, तो कहीं हवन। निर्धूम अग्नि-खण्ड के समान ब्रह्मचारियों के मुख-मण्डल पर ज्वलन्त ओज दिप रहा हो। तपोधन ऋषियों के नेत्रों से शान्ति और आनन्द की धारा बहती हो। सारांश, सर्वत्र विश्व-प्रेम का साम्राज्य हो। चित्रकार! क्या ऐसा चित्र तू खींच सकेगा? यदि हाँ, तो इसका पुरस्कार भी तुझे शीर्ष-स्थानीय दिया जायगा।

—वियोगी हरि

तीर्थ-यात्रा

बहुत दिनों से दर्शनोत्कण्ठा थी। उसे देखने को, न जाने कब से, मन उड़ रहा था। यह नहीं, कि कभी उसे देखा न हो। देखा था; कई बार देखा था, और जी भर देखा था। चरण-स्पर्श भी एक बार किया था। मध्यमा वाणी द्वारा एकाध बार स्तोत्र-पाठ भी हो चुका था। पर, यह सब अन्यत्र, उसके तीर्थोपम स्थान पर नहीं। सुन रखा था कि वह वर्ष उसका 'अज्ञात वास' का वर्ष है। औरों की दृष्टि में ऐसा ही होगा, पर हमारी नज़र में तो वह वर्ष 'सुज्ञात वास' का संवत्सर था। हृदय-पटल पर तो उसका चित्र मुद्दत से खिंचा था, पर प्रत्यक्ष प्रमाण माननेवाली आँखों को प्रतीति कहाँ? हृदय और आँखों में समझौता न हो सका। बरसाती नदी की तरह उनकी तृष्णा प्रतिक्षण बढ़ने लगी।

भक्ति से अधीर हो एक दिन वहाँ पहुँच ही तो गया। गरमी के दिन थे। सूर्य भगवान् क्षितिज-रेखा को रक्तानुरञ्जित करने में व्यग्र थे। वृक्षों की छाया, सज्जनों की मैत्री के समान, पल-पल पर बढ़ती ही जाती थी, सान्ध्य गगन की ललित लालिमा कवि-कल्पना को प्रगाढ़ालिङ्गन दे रही थी। गो-धूलि से सुनील आकाश पाण्डुवर्ण हो गया था। निदाघ-ताप अब बहुत कम था। अस्तु;

उस स्थान की क्षेत्र-सीमा पर मैं पहुँचा। जिस पवित्र नदी के तट पर उस नर-श्रेष्ठ का आश्रम अवस्थित है उसमें, वृषादित्य की प्रचण्डता के कारण, जल की एक क्षीण रेखा दूसरे पार दिखाई देती थी। दूर तक बालू ही बालू नज़र आ रही थी। वृक्ष झुलस-से गये थे। सूखी पत्तियाँ झड़-झड़कर जहाँ-तहाँ बिछ गई थीं। कपास के पेड़ बड़े सुहावने जान पड़ते थे। बीच में एक खपरैल भवन था और उसके आस-पास कई छोटी-छोटी कुटियाँ। सादे रहन-सहन के कुछ परिश्रमी व्यक्ति और क्रीड़ा-निरत बालक-बालिकाओं को उस स्वतंत्रता-सदन के आँगन में देखकर मैं पुलकित और प्रफुल्लित हो गया। आश्रम में बड़ी स्वच्छता और पवित्रता थी। उस तीर्थ भूमि पर पैर रखते ही एक प्रकार की दिव्य शान्ति का अनुभव होने लगा।

दर्शन मिला। वह जगद्वन्द्य महापुरुष एक कुशासन पर आसीन था। आस-पास कुछ साधक बैठे थे। उस समय वह सदाशय अपने सम्मुख प्रतिष्ठित देवता की अर्चा में निरत था। पूजा समाप्त होने को थी। उसके आराध्य देव का नाम 'सुदर्शन' है। मैंने उस स्थितप्रज्ञ महात्मा को साष्टांग प्रणाम किया, और थोड़ा-सा मानसिक स्तवन भी। मानसिक इसलिये, कि मुख से कुछ भी बड़बड़ाने में संकोच और भय लगता था। वह मेरी ओर मुस्कराया। कुशल-क्षेम पूछा, और कुछ स्नेहोद्गार भी प्रकट किये। मेरे संकीर्ण हृदय में आनन्दाब्धि लहराने लगा। मन ही मन बोला, बड़ा भाग्यवान् हूँ, इस सौभाग्य पर क्यों न अभिमान करूँ?

हाँ, मानसिक स्तवन का भाव, जहाँ तक स्मरण है, कुछ-कुछ ऐसा था—

"नरश्रेष्ठ! तू वह आदर्श उपस्थित करने को धरातल पर अवतीर्ण हुआ है, जिसे हृदयस्थ कर आज नहीं तो कल अवश्य ही त्रिताप-संतप्त जन-समाज विश्व-वीणा के स्वर में सजीव सुख-शान्ति का राग अलापने में समर्थ होगा।

"सत्यनिष्ठ! तेरा जन्म और मरण दोनों ही सत्य-साधना के अर्थ हैं। सत्य को तू साकारता प्रदान कर चुका है। तेरा और सत्य का सौहार्द देखकर कौन कृतकृत्य न होगा? धन्य तेरा सत्याग्रह! धन्य तेरी सत्य-निष्ठा!

"तपोधन! तेरी तपस्या उनके निमित्त है, जो तिरस्कृत, पतित और पद-दलित हैं; जो निर्धन, निराश्रय और निर्बल हैं, जो दीन, हीन और पराधीन हैं। तू बोता है, वे काटते हैं!

"शक्तिशालिन्! तूने आज जगद्व्यापी हिंसा की भी हिंसा कर डालने का संकल्प किया है। तभी तो तूने अपने अप्रमेय पराक्रम से बड़े-बड़े बलवानों को भी थर्रा दिया है। तेरी प्रदत्त शक्ति का परिणाम निस्संदेह 'जीवनोत्सर्ग' है; और जीवनोत्सर्ग ही तो मुक्ति का जनक है।

"धर्ममूर्त्ते! तुझे किस धर्म का प्रतिनिधि कहें? तेरी आत्मा में राम की मर्यादा, कृष्ण की कर्मण्यता, बुद्ध की अहिंसा, शंकर की भीमता, चैतन्य की भावना, ईसा की दीनबन्धुता और मुहम्मद की कट्टरता आदि अनेक धर्म-धारणाएँ विद्यमान हैं। तू सत्य के

माध्यम द्वारा इन सभी धर्मों में समन्वय स्थापित कर रहा है। धन्य तेरा सत्प्रयास !

"भागवत-भूषण ! कौन कहता है कि तू कोरा राजनीतिक पथ-प्रदर्शक है। तू तो एक शुद्ध भागवत है। तेरी प्रेमानन्यता में गोपिकाओं की, कीर्तन में गौराङ्ग देव की, और भक्ति-विह्वलता में मीरा की प्रतिमूर्त्ति सामने आ खड़ी होती है। भक्ति की मूच्छित लता को आज तू अपने आँसुओं से सींच-सींचकर अनुप्राणित कर रहा है।

"महात्मन् ! वास्तव में इस युग का तू एक ईश्वरीय रहस्य है। तुझे नमस्कार है ! शत-सहस्रशः नमस्कार है ! !"

उस पुण्यश्लोक की मुट्ठी भर हड्डियों के दर्शन-लाभ से निश्चय ही मेरी मृतप्राय आत्मा में एक नवीन और पवित्र जीवन का संचार हुआ। तीर्थ-यात्रा सफल हुई। उस महानुभाव की अनिर्वचनीय अवस्था देखकर मुख से हठात् यह भगवदुक्ति निकल पड़ी—

'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति।'*

—वियोगी हरि

साहित्य की आलोचना

आलोचना का कार्य

साहित्य-क्षेत्र में, ग्रंथ को पढ़कर उसके गुणों और दोषों का विवेचन करना और उसके सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है। यह आलोचना काव्य, उपन्यास, नाटक, निबंध आदि सभी की हो सकती है; यहाँ तक कि स्वयं आलोचनात्मक ग्रंथों की भी आलोचना हो सकती है। यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें, तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा।

किसी ग्रंथ की आलोचना करने के समय हम उस ग्रंथ और उसके कर्त्ता का वास्तविक अभिप्राय समझना चाहते हैं, और तब उसके संबंध में अपनी कोई सम्मति स्थिर करना चाहते हैं। दूसरों ने किसी ग्रंथ या उसके कर्ता को जो आलोचना की हो, उससे भी हम लाभ उठा सकते हैं; पर वह लाभ उतना अधिक और वास्तविक नहीं हो सकता जितना स्वयं अध्ययन करने से होता है, क्योंकि उस दशा में हम उस आलोचक के विचारों से प्रभावान्वित हो जायँगे और अपनी निज की कोई सम्मति स्थिर करने में

असमर्थ होंगे। हाँ, अपनी आलोचना में हम दूसरे आलोचकों के अध्ययन और आलोचना से कुछ लाभ अवश्य उठा सकते हैं। यदि कोई अच्छा कवि जीवन की व्याख्या करता है, तो एक अच्छा आलोचक हमें वह व्याख्या समझाने में सहायक होता है। कोई अच्छा आलोचक साधारण पाठकों की अपेक्षा अधिक ज्ञान-सम्पन्न होता है; उसका अध्ययन भी अधिक गंभीर और पूर्ण होता है, और इसलिये वह किसी कवि या लेखक की कृति के भिन्न-भिन्न अंगों पर प्रकाश डालकर हमें अनेक नई बातें बतलाता और अनेक नए मार्ग दिखलाता है। वह हमारे मार्ग में एक अच्छे मित्र और पथ-दर्शक का काम देता है। वह हमें सिखलाता है कि अध्ययन किस प्रकार सचेत होकर और आँखें खोलकर करना चाहिए। चाहे उसकी सम्मति और निर्णय से हम सहमत हों और चाहे न हों, पर इसमें संदेह नहीं कि उसकी आलोचना से हम बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं और हमारा ज्ञान बहुत कुछ बढ़ सकता है।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, आलोचना से दो काम होते हैं। एक तो किसी कवि या लेखक की कृति की विस्तृत व्याख्या की जाती है, और दूसरे उसके सम्बंध में कोई मत स्थिर किया जाता है। बहुधा आलोचक इन दोनों कामों को एक साथ मिला देते और व्याख्या के अंतर्गत ही मत भी स्थिर कर लेते हैं। अब कुछ पाश्चात्य विद्वान् यह कहने लगे हैं कि आलोचक का काम केवल कृति की व्याख्या करना है और उसे अपना कोई मत प्रकट नहीं करना चाहिए; क्योंकि उस मत का दूसरों पर प्रभाव पड़ता है

जिससे आगे चलकर आलोचना के काम में बाधा पड़ती है। पर यह मत उतना ठीक नहीं जान पड़ता। प्रत्येक व्यक्ति किसी ग्रंथ के विषय में उसकी आलोचना करने के साथ ही साथ अपना मत भी प्रकट कर सकता है और उसके उस मत से लोग लाभ भी उठा सकते हैं।

यदि हम थोड़ी देर के लिये यह भी मान लें कि आलोचक को अपना मत प्रकट करने का कोई अधिकार नहीं है, तो भी यह प्रश्न उठता है कि व्याख्याता के रूप में आलोचक का क्या मत है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो जान पड़ेगा कि व्याख्या करने के लिये आलोचक को पूरा-पूरा अध्ययन करना पड़ेगा; उसे ग्रंथ के ऊपरी गुणों और दोषों को छोड़कर भीतरी भावों तक पहुँचना पड़ेगा और यह देखना पड़ेगा कि उसमें कौनसी बातें साधारण और क्षणिक हैं और कौनसी बातें विशेषतायुक्त और स्थायी हैं; तथा उसे इस बात का पता लगाना पड़ेगा कि उसमें कला या नीति आदि के कौन कौन सिद्धांत आदि हैं। उस ग्रंथ में जो गुण छिपे हुए होंगे, उनका वह प्रकाश करेगा और उसमें इधर-उधर बिखरे हुए तत्त्वों को एकत्र करके उनपर विचार करेगा। इस प्रकार वह हमें बतलावेगा कि विषय, भाव और कला आदि की दृष्टि से वह ग्रंथ कैसा है। इस दशा में उस ग्रंथ के गुण या दोष लोगों के सामने आप-से-आप आ जायँगे। परन्तु आलोचना का यह काम वह अपनी निज की रीति से करेगा। वह केवल आलोच्य ग्रंथ को भी देखकर उसकी आलोचना कर सकता है और उसी विषय के

दूसरे ग्रंथों के साथ उसकी तुलना भी कर सकता है। वह आवश्यकता पड़ने पर ऐतिहासिक दृष्टि से भी उसपर विचार कर सकता है, नैतिक दृष्टि से भी विचार कर सकता है, सामाजिक दृष्टि से भी विचार कर सकता है और साहित्यिक दृष्टि से भी विचार कर सकता है। परन्तु एक बात निश्चित है। वह चाहे जिस दृष्टि से और चाहे जिस प्रकार विचार करे, उसका एकमात्र उद्देश यही होगा कि वह स्वयं उस ग्रंथ तथा उसके कर्ता का अभिप्राय समझे और दूसरों को भी समझावे। हाँ, यह संभव है कि वह स्वयं अपनी रुचि के अनुसार उसके सम्बंध में किसी प्रकार का निर्णय न करे।

आलोचना का उद्देश

पाठकों के मन में यह प्रश्न उठना बहुत ही स्वाभाविक और अनिवार्य है कि अमुक ग्रंथ में जीवन की जो व्याख्या की गई है और जो दूसरी बातें बतलाई गई हैं, वे ठीक हैं या नहीं; कला की दृष्टि से वह ग्रंथ अच्छा है या नहीं, इत्यादि। इस प्रकार के प्रश्न हमारे मन में आप-से-आप उठते हैं और हम उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते। उस ग्रंथ को पढ़ने से पहले कम-से-कम सचेत होने के लिये हमें ऐसे प्रश्नों के उत्तर जानना आवश्यक होता है। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि हम जो कुछ कह रहे हैं, वह कोरे वैज्ञानिक ग्रंथों के संबंध में नहीं कह रहे हैं, बल्कि साधारण साहित्य के सम्बन्ध में कह रहे हैं; क्योंकि नीति

और कला आदि की दृष्टि से शुद्ध साहित्य पर ही विचार किया जाता है। भूगर्भ शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र या दूसरे अनेक शास्त्रों और वैज्ञानिक ग्रंथों का इस दृष्टि से विचार नहीं होता। भूगर्भ शास्त्र तो हमें केवल यही बतलाकर रह जाता है कि पृथ्वी का यह रूप किस प्रकार और कितने दिनों में हुआ, अथवा इसमें कितने समय में क्या परिवर्तन होता है। पर साहित्य का संबंध जीवन की व्याख्या, नीति, समाज आदि अनेक बातों से होता है और इसी कारण उसके गुणों और दोषों के विवेचन की भी आवश्यकता होती है। भूगर्भ शास्त्र के ग्रंथ में भी गुण और दोष हो सकते हैं, पर उन गुणों और दोषों का पता लगाना केवल भूगर्भ शास्त्र के पूर्ण पंडितों का ही काम है। साधारण पाठकों की शक्ति के यह बाहर है। साधारण साहित्य के सम्बंध में जहाँ गुणों और दोषों का विवेचन होगा, वहाँ विवेचक या आलोचक का मत और निर्णय भी आप-से-आप आ जायगा।

"भिन्नरुचिर्हि लोकः"—वाले सिद्धांत के अनुसार सभी लोग अलग-अलग अपने मत के अनुसार किसी ग्रंथ को अच्छा या बुरा बतलाते हैं। हमें जो कहानी अच्छी लगती है, संभव है कि वही आपको बिलकुल पसंद न आवे। हमारी समझ में जो नाटक किसी काम का नहीं है, उसी की लोग लंबी-चौड़ी प्रशंसा कर सकते हैं। जो मनुष्य कुछ भी समझ रखता है, वह किसी ग्रंथ को पढ़ने के समय उसके संबंध में कोई-न-कोई, अच्छी या बुरी सम्मति अवश्य ही स्थिर कर लेता है। जब हमारा कोई मित्र हमें

कोई नई पुस्तक लाकर पढ़ने के लिये देता है, तब सबसे पहले हम उससे यही प्रश्न करते हैं कि यह पुस्तक कैसी है, और तब उसके उपरांत हम स्वयं उस पुस्तक को पढ़कर उसके संबंध में अपना भी कोई मत स्थिर करते हैं। एक बार किसी पुस्तक को पढ़कर जो मत निश्चित किया जाता है, दो-तीन बार विशेष ध्यानपूर्वक उसी पुस्तक को पढ़ने पर उस मत में परिवर्तन भी हो सकता है। बल्कि ज्यों-ज्यों हम किसी पुस्तक का अधिकाधिक अध्ययन करते हैं, त्यों-त्यों मत स्थिर करने में हमारी असमर्थता और कठिनता बढ़ती जाती है; और इसी कठिनता को दूर करने के लिये अच्छे आलोचकों की आवश्यकता होती है। यदि हम केवल अच्छी पुस्तकें ही पढ़ना चाहें और निकम्मी या रद्दी पुस्तकों से बचना चाहें, तो अच्छे आलोचकों की सम्मतियाँ हमारे बहुत काम की हो सकती हैं।

काव्य का विवेचन करते हुए हम यह बात बतला चुके हैं कि किसी कवि की कृति को अच्छी तरह समझने के लिये यदि उस कवि के प्रति श्रद्धा नहीं तो कम से कम सहानुभूति तो अवश्य होनी चाहिए। श्रद्धा या सहानुभूति का अभाव हमें उस कवि या लेखक की आत्मा तक पहुँचने ही नहीं देता। यही कारण है कि श्रद्धा या सहानुभूति के अभाव में तथा मन में राग-द्वेष का भाव रखकर जो आलोचना की जाती है, उसका विद्वानों में कोई आदर नहीं होता। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो ऐसी आलोचना कोई आलोचना ही नहीं होती। यहाँ हम संक्षेप में यह बतलाना चाहते

हैं कि इस श्रद्धा और सहानुभूति के अतिरिक्त समालोचक में और किन-किन गुणों की आवश्यकता होती है।

आलोचक के आवश्यक गुण

सबसे पहले समालोचक को विद्वान्, गुणग्राही और निष्पक्ष होना चाहिए; और जिसमें ये सब गुण न हों, उसको समालोचना के काम से दूर ही रहना चाहिए। जिस समालोचक में ये सब गुण होंगे, वह बहुत सहज में आलोच्य ग्रंथ की बातों का मर्म समझ जायगा। आलोचक का मुख्य कार्य यह है कि वह आलोच्य ग्रंथ को उसके बिलकुल वास्तविक स्वरूप में देखे। किसी बुरे भाव अथवा पक्षपात से प्रेरित होकर वह जो कुछ कहेगा, उसकी गणना निंदा अथवा स्तुति में ही होगी; उसके उस कथन को आलोचना में स्थान न मिलेगा। समालोचक यदि विद्वान् न होगा, तो वह ग्रंथ के गुणों को न समझ सकेगा; यदि वह बुद्धिमान् न होगा तो क्षीर-नीर के विवेक में असमर्थ होगा; और यदि वह निष्पक्ष न होगा, तो उसका विवेचन निरर्थक और अग्राह्य होगा। समालोचक के लिये आवश्यक विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता और गुणग्राहकता तो बहुतसे लोगों में हो सकती और होती है, पर रागद्वेष या पक्षपात से बहुत ही कम लोग बचते या बच सकते हैं। अँगरेजी के सुप्रसिद्ध विद्वान् और साहित्यज्ञ जॉन्सन के विषय में कहा जाता है कि जिन लेखकों के विचारों और सिद्धान्तों से उनकी सहानुभूति होती थी, उनके ग्रंथों की आलोचना तो वे बहुत ठीक ढंग

से करते थे, पर जिनके विचारों के साथ उनकी सहानुभूति नहीं होती थी, उनके ग्रंथों की आलोचना के समय उनकी साहित्यिक जानकारी न जाने कहाँ चली जाती थी और वे बहुत बुरी तरह से उनकी खबर लिया करते थे। पोप और एडिसन के साहित्यिक आदर्शों का जॉन्सन बहुत आदर करते थे, इसलिये उनके जीवन-चरितों में उन्होंने उनकी कृतियों की बहुत ही योग्यतापूर्वक आलोचना की है। पर राजनीतिक विरोध के कारण मिल्टन की और व्यक्तिगत द्वेष के कारण ग्रे की कृतियों में उन्हें कुछ भी गुण न दिखाई दिए। हमारे यहाँ हिन्दी में भी ऐसे आलोचकों की कमी नहीं है जो कुछ विद्या और बुद्धि रखते हुए भी या तो पक्षपातवश ग्रंथों की आवश्यकता से अधिक प्रशंसा कर चलते हैं और या द्वेषवश उनकी धूल उड़ाने लगते हैं। बात यह है कि अनुचित पक्षपात और द्वेष दोनों ही मनुष्य की आँखों के आगे एक ऐसा परदा डाल देते हैं जिसके कारण या तो उन्हें दोषों और गुणों का ठीक पता ही नहीं चलता और या वे जान-बूझकर उनकी ओर ध्यान ही नहीं देते। हम इस विषय में और अधिक कुछ न लिखकर केवल यही कहना यथेष्ट समझते हैं कि इस पक्षपात या द्वेष के कारण कभी-कभी छोटे-मोटे अनर्थ और अन्याय भी हो जाते हैं। किसी ग्रन्थ की पक्षपातपूर्ण समालोचना देखकर बहुतसे लोग उन पुस्तकों के पढ़ने में व्यर्थ अपना समय और धन गँवा सकते हैं, और द्वेषपूर्ण समालोचना के कारण वे किसी अच्छे ग्रन्थ से लाभ उठाने से वंचित रह सकते हैं। अतः समालोचक

के लिए पंडित और समझदार होने के अतिरिक्त निष्पक्ष होने की भी बहुत बड़ी आवश्यकता होती है। ऐसे समालोचक की समालोचना से ही साहित्य की भी उन्नति होती है और पाठकों का भी लाभ होता है।

समालोचक होने के लिये ऊपर बतलाए हुए कतिपय प्राकृतिक गुणों की तो आवश्यकता होती ही है, पर साथ ही समालोचना के लिए एक विशेष प्रकार की बुद्धि या सामर्थ्य की भी आवश्यकता होती है। कभी-कभी देखने में आता है कि अच्छे-अच्छे पंडित और विद्वान् उतनी अच्छी समालोचना नहीं कर सकते जितनी अच्छी और सटीक समालोचना उनसे कम विद्या और योग्यता के लोग करते हैं। एक साधारण बुद्धिमान् पाठक भी कभी-कभी किसी ग्रन्थ के सम्बन्ध में बहुत ही अच्छे ढंग से और बहुत ही उपयुक्त सम्मति प्रकट कर सकता है; और उसकी उस सम्मति तथा आलोचना के ढंग को देखकर अच्छे-अच्छे पंडित चकित हो सकते हैं। इसका कारण कदाचित् यही होता है कि उसकी सम्मति विचारपूर्ण होने के अतिरिक्त राग-द्वेष और पक्षपात आदि से बिलकुल शून्य होती है। यह ठीक है कि जिस व्यक्ति का काम ही प्रायः अध्ययन और समालोचना करना है, वह समालोचना के नियमों और रीति आदि से विशेष परिचित होगा और उसका ज्ञान-भांडार भी साधारण पाठकों के ज्ञान-भांडार की अपेक्षा अधिक पूर्ण होगा। पर उसकी आलोचना तभी काम की होगी जब उसमें आलोचना करने की शक्ति पूर्ण रूप से होगी और

उसकी आलोचना राग-द्वेष या पक्षपात आदि से मुक्त होगी। करने को तो आलोचना सभी लोग कर लेते हैं, पर आलोचना भी एक प्रकार की कला है और उसके लिए एक विशेष प्रकार की योग्यता तथा शिक्षा की आवश्यकता होती है। साथ ही उसे अपने मन तथा विचारों पर भी अधिकार होना चाहिए। यदि उसमें इन बातों का अभाव होगा, तो वह न तो ठीक-ठीक और न उदारता-पूर्वक विचार कर सकेगा। उस दशा में उसकी आलोचना या सम्मति का भी कोई आदर न होगा।

तुलनात्मक आलोचना

अब हम एक दूसरे प्रकार की आलोचना के संबंध में, जिसे तुलनात्मक आलोचना कहते हैं, कुछ बातें बतलाना चाहते हैं। किसी एक पुस्तक की आलोचना करते समय कुछ लोग उसी विषय की और भी एक, दो या अनेक पुस्तकें अपने सामने रख लेते हैं; और उन पुस्तकों से तुलना करते हुए वे आलोच्य पुस्तक की आलोचना करते हैं। आलोचना का यह ढंग बहुत अच्छा है; क्योंकि इससे इस बात का पता लगता है कि एक ही विषय पर भिन्न-भिन्न लेखकों ने किस प्रकार विचार किया है; अपने-अपने विचारों को उन लोगों ने किस प्रकार प्रकट किया है; किसकी रुचि और वर्णन-शैली कैसी है, किसमें किन बातों की विशेषता और किसमें किन बातों की न्यूनता है, इत्यादि-इत्यादि। हमारे यहाँ अभी इस प्रकार की आलोचना का बहुत ही सूक्ष्म रूप से आरम्भ

हुआ है। उदाहरण के लिए पंडित पद्मसिंह शर्मा की बिहारी की आलोचना और पंडित कृष्णबिहारी मिश्र की देव और बिहारी की तुलनात्मक आलोचना है। अभी इस प्रकार की आलोचना के लिये बहुत ही विस्तृत क्षेत्र खाली पड़ा है। जिस समय हमारे यहाँ इस प्रकार की यथेष्ट आलोचनाएँ हो जायँगी, उस समय हमारे साहित्य की केवल मनोरंजकता ही नहीं बढ़ जायगी, बल्कि और भी अनेक प्रकार से उसकी उन्नति होगी, क्योंकि ऐसी आलोचनाएँ हमें विचार और रचना आदि के नए-नए मार्ग दिखलाती हैं और साहित्य में कूड़ा-करकट नहीं इकट्ठा होने देतीं।

इस प्रकार के आलोचनात्मक साहित्य का अध्ययन भी बड़े काम का होता है। जब इस प्रकार का साहित्य प्रस्तुत हो जाता है, तब दूषित और अनुचित आलोचनाओं का मार्ग भी बंद हो जाता है। ज्यों-ज्यों इस प्रकार का साहित्य तैयार होता जाता है, त्यों-त्यों उसकी मनोरंजकता और उपयोगिता भी बढ़ती जाती है, और अंत में ऐसे साहित्य का एक अलग इतिहास तैयार हो जाता है, जो साहित्य के इतिहास के परिशिष्ट का काम देता है। बात यह है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है और ऐसी आलोचनाएँ तैयार होती जाती हैं, त्यों-त्यों लोगों की विचार-शैली और मत भी बदलता जाता है। इस उत्तरोत्तर परिवर्तन और परिवर्धन के कारण आलोचनात्मक साहित्य को जो रूप प्राप्त होता है, वह शुद्ध साहित्य के अध्ययन और मनन में बहुत बड़ा सहायक होता है।

उपन्यास-रहस्य

कहा जाता है कि सत्य का ही रूप स्पष्ट करने के लिए साहित्य की सृष्टि होती है। काव्य, विज्ञान, इतिहास तथा दर्शन शास्त्र सत्य की ही खोज में लगे रहते हैं। यह सच है कि भिन्न-भिन्न शास्त्र भिन्न-भिन्न पथों का अवलम्बन करते हैं। यही कारण है कि इन शास्त्रों के कार्य्य-क्षेत्रों में भिन्नता रहती है। काव्य में कभी-कभी इतिहास के विरुद्ध बातें पाई जाती हैं, परन्तु इसका कारण उद्देश्य की भिन्नता है। ऐतिहासिक तथ्य की ओर कवि भले ही ध्यान न दे, क्योंकि वह सर्वकालीन सत्य की खोज करता है; परन्तु वह अपने काव्य में मिथ्या को आश्रय नहीं देगा। जो लोग उपन्यास तथा आख्यायिकाओं को कल्पना-प्रसूत समझकर मिथ्या मान लेते हैं वे भूल में हैं। उपन्यास में कवि अवश्य एक कल्पित समाज का चित्र खींचता है, परंतु उस चित्र की सभी बातें ऐसी होती हैं कि वे मनुष्य-मात्र में घट सकती हैं। अतएव वह मिथ्या नहीं। सहस्र-रजनी-चरित्र के समान तूल-तवील किस्सों में अलौकिक और अतिरञ्जित बातों का जमघट रहता है, परन्तु उनके भी भीतर हम मनुष्यत्व का सच्चा स्वरूप देख सकते हैं।

विज्ञान इतिहास नहीं। विज्ञान में मनुष्य-समाज का वर्णन नहीं रहता, उसमें प्राकृतिक अनन्त सत्यों का दिग्दर्शन कराया जाता है। अतएव यदि कोई विज्ञान में ऐतिहासिक तत्त्वों का अभाव देखकर उन्हें मिथ्या कह बैठे तो उसकी बात उपेक्षणीय ही होगी। यदि हम किसी कृति में सत्य का स्वरूप देखना चाहें तो हमें उस ग्रन्थ के ध्येय का अनुगमन करना चाहिये। हमें इसी दृष्टि से साहित्य की पर्यालोचना करनी चाहिए।

(१)

साहित्य के दो भेद किये जा सकते हैं, एक काव्य और दूसरा विज्ञान। काव्य में कल्पना का साम्राज्य है और विज्ञान में तर्क का। काव्य कभी भी तर्क का सामना नहीं कर सकता। उपन्यास और नाटक काव्य के अन्तर्गत हैं और इतिहास विज्ञान में सम्मिलित किया जा सकता है। काव्य का कार्य-क्षेत्र अंतर्जगत् है और विज्ञान का उपादान वहिर्जगत है। हम लोग प्रायः वहिर्जगत की ओर ध्यान देते हैं। अधिकांश लोगों के लिए प्रायः सत्य का रूप बाह्य जगत् में ही परिमित होता है। अन्तर्जगत् की घटनाओं में वे सहसा सत्य का स्वरूप नहीं देख सकते। पत्थर के लगने से फल का गिरना सत्य है। उसको सभी मान लेंगे, परंतु किसी अलक्षित कारण विशेष से मनुष्य के अधःपतन में सत्य का दर्शन कर लेना सभी के लिए साध्य नहीं है। वैज्ञानिकों के आविष्कारों की सत्यता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता; परन्तु जब कवि अपनी कल्पना

द्वारा अन्तर्जगत् का गूढ़ रहस्य समझाने लगता है, तब कुछ लोग संदिग्ध-चित्त हो सकते हैं। कितने ही लोग ऐसे हैं जो कल्पना को सत्य का विरोध समझते हैं।

यह तो सभी को स्वीकार करना पड़ेगा कि कल्पना निराधार नहीं हो सकती। उसका आश्रय सत्य ही होना चाहिए। जिसका अस्तित्व नहीं, उसकी कल्पना कैसे की जा सकती है। हम कल्पना द्वारा देख सकते हैं कि मनुष्य आकाश में उड़ता है। कहानियों में हमने मनुष्यों के उड़ने की बात सुनी भी है। इसमें न तो मनुष्य मिथ्या है, न आकाश असत्य है और न उड़ना शब्द ही ग़लत है। तो भी यह बात सच है कि मनुष्य आकाश में नहीं उड़ सकता। संसार में यह बात होती नहीं। तब इस कथन में सत्य क्या है? यदि कोई जन्मान्ध से कहे कि सोने का रंग हरा होता है तो वह इसे स्वीकार कर लेगा, और यह मिथ्या बात स्वीकार कर लेने पर भी उसे अपने जीवन में किसी प्रकार की अड़चन न उठानी पड़ेगी। सोने का रंग हरा मानकर भी वह सोने के मूल्य को कम नहीं करेगा। रंग उसके लिए गौण है। सोना ही उसके लिए महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार कहानियों में मनुष्यों के उड़ने की बात मिथ्या होने पर भी कहानी का महत्त्व नहीं घट जाता। चन्द्रकान्ता और चपला के अस्तित्व पर कोई विश्वास नहीं करेगा, तो भी हम उनके सुख-दुःख की कथा में इतने व्यस्त रहते हैं कि हम उनके अस्तित्व की सत्यता की ओर ध्यान नहीं देते। कहानी में पात्र नहीं, पात्र का अन्तर्जीवन सत्य है। यदि चन्द्रकान्ता के स्थान पर कमल-कुमारी

रख दी जाय तो भी उससे कथा का रस नष्ट नहीं होगा।

सभी भाषाओं में ऐतिहासिक नाटक और उपन्यास लिखे जाते हैं। ऐतिहासिक नाटक और उपन्यास की विशेषता यह है कि उनके पात्र ऐतिहासिक होते हैं, कल्पित नहीं। अब प्रश्न यह है कि ऐसे ग्रन्थों के लेखक अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में इतिहास का अनुसरण करते हैं या नहीं। क्या उन्हें अधिकार है कि वे किसी ऐतिहासिक व्यक्ति को किसी अन्य रूप में प्रदर्शित कर सकें ? कुछ समय पहले बंगाल के एक प्रसिद्ध चित्रकार ने 'लक्ष्मणसेन का पलायन' नाम का एक चित्र बनाया था। कितने ही ऐतिहासिकों का कहना था कि ऐसी घटना हुई नहीं। तब उसका चित्र क्यों बनाया गया ? इससे मिथ्या को प्रश्रय मिलता है। बंकिम बाबू के कुछ उपन्यासों में इतिहास-विरुद्ध बातें पाई जाती हैं। द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों में महाबतखाँ प्रतापसिंह के भाई माने गये हैं। हिन्दी में एक वार 'इला' नाम का एक उपन्यास प्रकाशित हुआ था। वह एक बँगला-उपन्यास का अनुवाद था। इतिहास-विरुद्ध होने के कारण शायद उसपर कुछ विवाद भी हुआ था और कदाचित् उस पुस्तक का प्रचार भी रोक दिया गया। बात यह थी कि वह अँगरेजी के एक प्रसिद्ध लेखक शेरीडन के एक नाटक का अनुवाद-मात्र था। अनुवादक महोदय ने उसके पात्रों के नाम बदलकर ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम कर दिये। फल यह हुआ कि उसमें उदयपुर के महाराणा उदयसिंह आ गये और हेमू के साथ उनका घोर युद्ध हुआ। अब यह पूछा जा सकता है कि इन लेखकों ने

इतिहास-विरुद्ध बातें लिखी क्यों ?

उपन्यास-लेखक का पहला कर्त्तव्य है कि वह अपनी कथा को सजीव बनावे। कथा की सजीवता का मतलब यही है कि पाठक अपनी कल्पना द्वारा उन पात्रों को प्रत्यक्ष देख लें। कथा में मानव-चरित्र का विकास प्रदर्शित किया जाता है, और वही मुख्य भी है। परन्तु उसके प्रभाव को बढ़ाने के लिए उपन्यासकार ऐसे व्यक्तियों का नामोल्लेख कभी-कभी कर देते हैं जिनसे पाठकों का चित्त कथा की ओर अधिक आकृष्ट हो जाता है। इतिहास भी कथा के प्रभाव को बढ़ाने के लिए उपयुक्त होता है। द्विजेन्द्रलाल राय ने महावतखाँ को प्रतापसिंह का भाई बना दिया है। इससे उनके 'मेवाड़-पतन' के कथा-भाग का प्रभाव खूब बढ़ गया है, कथा सजीव हो गई है। हमें ऐसे स्थानों में स्मरण रखना चाहिए कि ऐतिहासिक होते हुए भी ये पात्र कवि की सृष्टि ही हैं। अतएव हमें कथा-भाग पर खयाल रखकर उनके चरित्र के विकास की ओर ध्यान देना चाहिए। यदि कवि को उसमें असफलता हुई है तो हम उसकी आलोचना कर सकते हैं। अँगरेज़ी के एक समालोचक ने यह निर्णय किया है कि कवि, नाटककार अथवा चित्रकार को यह अधिकार है कि वे परिमित रूप में इतिहास के विरुद्ध भी अपनी कथा की सृष्टि कर सकते हैं। परन्तु एक दम ऐसी झूठ बात भी न लिख देनी चाहिए जिससे कथा का प्रभाव ही नष्ट हो जाय।

रवीन्द्र बाबू ने एक स्थान में लिखा है कि विधि-प्रणीत इतिहास

और मनुष्य-चरित कहानी, इन्हीं दोनों के मेल से तो मनुष्य का संसार बना है। मनुष्य के लिए सिर्फ़ अशोक और अकबर ही सत्य नहीं हैं। जो राजपुत्र मणि-माणिक के अनुसंधान में सात समुद्र को पार कर चला गया था, वह भी सत्य है। हनूमान् ने गंधमादन पहाड़ को उखाड़ लिया था, यह भी उनके लिए सत्य है। कौन अधिक प्रमाणिक है और कौन कम प्रमाणिक है, यह उनके लिए कसौटी नहीं है। कथा की दृष्टि से, मनुष्यत्व की दृष्टि से, कौन सच्चा है, यही उनकी सत्यता की यथार्थ कसौटी है।

इतिहास में पात्र लेखक की सृष्टि नहीं है, परन्तु उपन्यास में सभी पात्र लेखक की उपज हैं। इसका फल यह होता है कि इतिहास के एक ही पात्र को हम भिन्न-भिन्न उपन्यासों में भिन्न-भिन्न रूपों में देखते हैं। यह संभव है कि किसी उपन्यास में कोई पात्र ऐतिहासिक व्यक्ति से बहुत कुछ मिलता-जुलता हो, पर दोनों एक कभी नहीं हुए हैं। श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासों से भी इतिहास का काम नहीं लिया जा सकता। ऐतिहासिक घटनाओं का अनुकरण उनमें भले ही किया जाय, परन्तु वे ऐतिहासिक घटनाएँ नहीं हैं। सच तो यह है कि उपन्यासों में बाह्य संसार की घटनाएँ दृग्गोचर अवश्य होती हैं, परन्तु वे स्वयं महत्त्व-पूर्ण नहीं हैं। औपन्यासिक पात्रों को अपने जीवन की अभिव्यक्ति के लिए किसी देश और काल का आश्रय अवश्य लेना पड़ता है। परन्तु ज्यों ही उनकी जीवन-लीला आरम्भ होती है त्यों ही हमारा ध्यान देश और काल से हटकर उन पात्रों पर ही केन्द्रीभूत हो जाता

है। लेखक का कला-नैपुण्य तभी ज्ञात होता है जब हम उसकी कृति में उन पात्रों का जीवन देख लेते हैं। ऐतिहासिक वर्णन से पूर्ण लम्बे-लम्बे परिच्छेदों से जो बात नहीं व्यक्त हो सकती, वह उन दो-चार वाक्यों से प्रकट हो जाती है जो औपन्यासिक पात्रों के मुँह से निकलते हैं।

(२)

भारतवर्ष के साहित्य-सेवियों में औपन्यासिकों की संख्या सबसे अधिक है। यह हाल प्रायः सभी देशों का है। उपन्यासों से सब से बड़ा लाभ यह है कि उनसे घड़ी आध घड़ी अच्छा मनोरञ्जन हो जाता है। इसीलिये उनका प्रचार भी अच्छा है। यदि उपन्यास-लेखक में इतनी कुशलता हो कि वह अपने ग्रन्थ में चित्ताकर्षक घटनाओं का समावेश कर दे तो उसका परिश्रम कभी व्यर्थ नहीं होगा। आलोचक भले ही कहते रहें कि इसमें न तो मानव-चरित्र का विश्लेषण है और न समाज का यथार्थ चित्रण है। पर उसमें लोकप्रियता तो होगी। कुछ विद्वानों की यह राय है उपन्यास शिक्षाप्रद अवश्य हों, कम-से-कम उनमें सदाचार का संहार तो न किया जाय। पर कितने ही ऐसे लेखक हैं जिन्हें इस बात की ज़रा भी परवा नहीं रहती कि पाठकों पर उनकी कथा का कैसा प्रभाव पड़ेगा।

इसमें सन्देह नहीं कि उपन्यास का उद्देश्य मनोरंजन है। परंतु मनोविनोद के लिए अनाचार से पूर्ण उपन्यासों ही की ज़रूरत

हो, यह कहना अनुचित है। कुछ लोग ऐसे अवश्य होते हैं जिन्हें ऐसी ही बातें पसन्द आती हैं जो समाज की दृष्टि में हेय हैं। पर अधिकांश लोगों का ऐसी बातों से मनोविनोद होता है जो बिलकुल स्वच्छ रहती हैं। उपन्यासों में जो यथार्थ चित्रण के पक्षपाती हैं वे केवल समाज के अन्धकारमय भाग को ही प्रकाशित करना चाहते हैं। यह ठीक नहीं है। संसार में अनाचार ही का राज्य नहीं है, वह इतना उच्छृङ्खल नहीं हो गया है कि उसने धर्म को तिलाञ्जलि दे दी हो। इसी प्रकार जो लोग आदर्श चरित्रों की सृष्टि करना चाहते हैं वे अपने ही आदर्श को सर्वोत्तम समझकर जगत् का धर्म-गुरु बनने का दावा करते हैं। वे धर्म-शास्त्र के आचार्य बनकर समाज का पथ निर्दिष्ट कर देना चाहते हैं।

आजकल भारतवर्ष के अधिकांश औपन्यासिक अपने उपन्यासो में समाज-सुधार का उपाय बतलाते हैं। जो विधवा-विवाह के पक्षपाती हैं वे अपने ग्रन्थ में विधवा-विवाह की उपयुक्तता सिद्ध करते हैं। जो उसके विरोधी हैं वे उसका खण्डन कर पातिव्रत का माहात्म्य बतलाते हैं। पाश्चात्य शिक्षा के प्रेमी लकीर के फ़क़ीरों की दिल्लगी उड़ाते हैं और प्राचीनता के पक्षपाती नवीन सभ्यता की बुराई प्रदर्शित करते हैं। स्त्री-शिक्षा के प्रेमी सास-ननदों के अत्याचारों का वर्णन करते हैं और प्राचीनता के अनुगामी सुशिक्षिता बहू का भ्रष्ट चित्र खींचते हैं। कहानियों में स्थानाभाव से समाज-सुधार की इतनी चर्चा नहीं रहती, तो भी लेखक अपने आदर्श को इतना ऊँचा रखते हैं कि पाठकों का ध्यान उधर

अवश्य आकृष्ट हो। लेखक अपने आदर्श को दूसरों पर क्यों लादना चाहते हैं? वे पाठकों को इतना अवकाश क्यों नहीं देते कि पाठक स्वयं उनके पात्रों की परीक्षा करें। कोई कहानियों को धर्म-शास्त्र समझकर तो पढ़ता नहीं। यदि किसी को 'कु' और 'सु' का निर्णय करना हो अथवा समाज-शास्त्र की बातें जाननी हों तो वह कहानी पढ़ने क्यों बैठेगा, धर्म-शास्त्र की बातें जाननी हों तो वह कहानी पढ़ने क्यों बैठेगा, धर्म-शास्त्र का अध्ययन न करेगा? लेखक समाज की दुर्बलता पर आघात अवश्य करे। पर उसे अपने पात्रों के व्यक्तित्व-विकास पर ज़ोर देना चाहिए। मतलब यह कि मनुष्यों के अनुसार समाज की रचना होनी चाहिए। किसी कल्पित समाज के अनुसार मनुष्यों की सृष्टि नहीं होनी चाहिए।

सदाचार का संबन्ध समाज से है। सत् और असत् की जो धारणा हम लोगों में है उसको हमने समाज से ही प्राप्त किया है। यदि मनुष्य समाज से बिलकुल पृथक् रहे, यदि समाज से उसका कोई भी सम्बन्ध न हो, यदि वह एकाकी ही अपना जीवन व्यतीत करे तो उसके लिए सत् क्या होगा? मनुष्य में जिन नैतिक वृत्तियों का विकास होता है वे समाज की ही सम्पत्ति हैं। समाज के परिवर्त्तन के साथ उन नैतिक वृत्तियों में भी परिवर्त्तन होता है। समाज में परिवर्तन होता ही रहता है और उसके अनुसार मनुष्य की नैतिक वृत्तियाँ भी परिवर्तित होती रहती हैं। समाज चिरन्तन है, नैतिक वृत्तियाँ चिरन्तन हैं और परिवर्तन भी चिरन्तन है। न समाज का अन्त होगा और न सदाचार का, परन्तु यह बात भी निश्चित है

कि सदाचार का कोई भी आदर्श स्थिर नहीं रहेगा। आदर्श के नाम से सदाचार का कोई भी साँचा नहीं बनाया जा सकता जो सदैव मनुष्यों को एक ही रूप में ढाल सके। कहा जाता है कि धर्म का नाश कभी नहीं होता, सत्य की सदा विजय होती है। जो सत्य है वह देश और काल के अतीत है। अच्छा अच्छा ही रहेगा और बुरा कभी अच्छा नहीं हो सकता। इस कथन का तात्पर्य यही है कि मनुष्य में धर्म का ज्ञान सदैव बना रहता है। असभ्य जातियाँ भी धर्म के ज्ञान से रहित नहीं होतीं। अच्छे और बुरे की भावना सभी में रहती है। परन्तु जब यह भावना कार्य-रूप में प्रकट होती है तब उसके विषय में यही बात नहीं कही जा सकती। जिस हिन्दू के लिए विधवा-विवाह अधार्मिक है, वही यदि ईसाई हो जाय तो उसके लिए विधवा-विवाह अधार्मिक न रहेगा। यह सच है कि कोई धर्म को अधर्म नहीं कहेगा, परन्तु अवस्था बदलने पर वह किसी धार्मिक कृत्य को अधार्मिक कह सकता है। साहित्य में जिस सदाचार का चित्र रहता है वह किसी विशेष काल के विशेष समाज का प्रतिबिम्ब होता है। यदि किसी कवि की कृति में सदाचार का उत्कर्ष अंकित हुआ है तो इसका मतलब यही है कि मनुष्य के आचरण में वह उत्कर्ष उसी समय में और उसी समाज में माना जा सकता है जिसमें वह कवि स्वयं हुआ है। दूसरे समय और दूसरे समाज में वह उत्कर्ष जीवन में प्रकट नहीं हो सकता। आचरण के उत्कर्ष को सभी लोग, चाहे वे किसी युग और किसी देश के हों, मानेंगे। परन्तु स्वयं उत्कृष्ट आचरण

सदैव उत्कृष्ट आचरण नहीं माना जा सकता।

कुछ समालोचक स्वदेशी और विदेशी कवियों की तुलनात्मक समालोचना करते समय इस बात को भूल जाते हैं। बहुधा साम्प्रदायिक धर्म को ही वे सदाचार की एकमात्र कसौटी मान बैठते हैं। इसी कारण चरित्र का माहात्म्य देखना उनके लिए असम्भव हो जाता है। कितने ही विदेशी समालोचक इसी संकुचित दृष्टि के कारण भारतीय चरित्र की गरिमा नहीं समझ सकते। जब कोई किसी एक समाज के माप से दूसरे समाज को नापने की चेष्टा करेगा तब उसका परिणाम यही होगा।

(३)

आजकल सभी देशों में उपन्यासों की खूब वृद्धि हो रही है। पुस्तक-रचना का मुख्य उद्देश तो यह है कि उसके द्वारा मनुष्यों की ज्ञान-वृद्धि हो और उनमें सद्भाव जागृत हों। परंतु अधिकांश उपन्यास ऐसे होते हैं कि उनसे न तो ज्ञान की वृद्धि होती है और न सद्भाव का प्रचार ही होता है। यही नहीं, किन्तु उनसे असद्भावनाओं का प्रचार होता है। ऐसे ग्रन्थों का प्रभाव समाज के लिए बड़ा ही अनिष्टकर होता है। इसीलिए बड़े-बड़े विद्वान् परीक्षक उनका प्रचार रोकने के लिए यत्नशील हैं। अधिकांश परीक्षकों की यही धारणा है कि आधुनिक साहित्य में कुरुचिपूर्ण ग्रन्थों ही की अधिक वृद्धि हो रही है।

साहित्य में मलिन रचनाओं का प्रचार बन्द कर देना बड़ा

कठिन काम है। अच्छी और बुरी किताबों का निर्णय करना भी सहज नहीं है। हालब्रुक जॉन्सन नामक एक विद्वान् ने लिखा है कि पत्रों में कुत्सित साहित्य के विषय में चर्चा तो खूब की जाती है, परन्तु अभी तक थोड़े ही लोग यह समझ सके हैं कि सचमुच सत्साहित्य है क्या। अधिकांश लोगों की धारणा यह है कि कुत्सित साहित्य में उन्हीं ग्रन्थों का समावेश किया जाना चाहिए जिनमें प्रचलित धर्म, समाज अथवा सदाचार के विरुद्ध बातें लिखी जाती हैं। कुछ लोग यह समझते हैं कि वही बुरी किताबें हैं जिन्हें हम किसी नवयुवक अथवा नवयुवती के हाथ में देने से हिचकते हैं। हालब्रुक जॉन्सन साहब का कथन है कि कुत्सित साहित्य के अन्तर्गत इन दोनों प्रकारों के ग्रन्थों की गणना नहीं हो सकती। आपकी तो यह राय है कि सर्व-साधारण जिसे कुत्सित साहित्य समझते हैं वही यथार्थ में पढ़ने योग्य साहित्य है। आप कहते हैं कि बुरी किताबें यथार्थ में वे हैं जिनमें सत्य का संहार किया जाता है। जो कृत्य सचमुच कुत्सित हैं उनपर समाज की मुहर लगाकर भव्य रूप देने का प्रयत्न किया जाता है। जिनमें मिथ्या को इतना प्रश्रय मिलता है उन्हें लोग क्वचित् ही निन्दनीय समझते हैं। अधिकांश लोग जिन उपन्यासों को शिक्षादायक समझकर पढ़ते हैं उन्हीं के द्वारा कुशिक्षा और मिथ्या संस्कारों का प्रचार होता है। सत्साहित्य वह है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी उन्नति के लिए चेष्टा करे। जो साहित्य संतोष की शिक्षा देता है वह यथार्थ में अनिष्टकर है।

हिन्दी में ही असत्य के प्रतिपादक 'शिक्षादायक' उपन्यासों का अभाव नहीं है। धर्म के पथ को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए यदि किसी समाज को मिथ्या आदर्शों से संतोष होता है, तो वह यही हिन्दू समाज है। अपने समाज की दुरवस्था की ओर ध्यान न देकर और उसके प्रतिकार की चेष्टा न कर ये ग्रन्थकार भगवती सीता और सावित्री के पातिव्रत का स्मरण करा समाज के मिथ्या धार्मिक संस्कार और अन्ध-विश्वास की पुष्टि करते हैं। समाज की मिथ्या धारणा के विरुद्ध भी कुछ कहना साहस का काम है। जो लोग समाज को उसका यथार्थ रूप दिखलाने की चेष्टा करते हैं उन्हें तिरस्कार और लांछना सहनी पड़ती है। बात यह है कि समाज साहित्य पर सदैव अपना प्रभुत्व रखना चाहता है। समाज का पथ सदैव निर्दिष्ट रहता है उच्छृङ्खलता उसे सह्य नहीं है। जो व्यक्ति उसकी मर्यादा को भङ्ग करने की चेष्टा करता है उसे समाज कठोर दण्ड देता है। साहित्य भी उसका प्रभुत्व अक्षुण्ण रखना चाहता है। यदि किसीने समाज की नीति के विरुद्ध लिखा तो वह अधार्मिक समझा जाता है और उसे दबाने की पूरी चेष्टा की जाती है। तो भी साहित्य में समाज के विरुद्ध चित्र स्थान पा लेते हैं। यह तभी होता है जब साहित्य में व्यक्तित्व का विकास होने लगता है। अन्त में उसी के द्वारा समाज की मर्यादा भंग हो जाती है। जब हम साहित्य में समाज के विरुद्ध चित्र देखते हैं तब हमें यही बतलाया जाता है कि यह चित्र अनिष्टकर है; परन्तु यथार्थ बात यह है कि वह चित्र समाज के भविष्य

विप्लव की सूचना देता है। जिस शृङ्खला के द्वारा समाज काल की गति को अवरुद्ध करना चाहता है उसकी भङ्गुरता का आभास हमें उसी चित्र से मिलता है। समाज के पास धर्म का एक साँचा होता है। वह उसी जीवन को धार्मिक समझता है जो उस साँचे में ढला रहता है। वह धर्म को जीवन से पृथक् रखता है। उसके अनुसार धर्म की उत्पत्ति जीवन से नहीं होती, परन्तु जीवन ही धर्म के आधार पर निर्मित होता है। धर्म के अन्तर्गत होने से पितृ-स्नेह धार्मिक है, मनुष्य-जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्ति होने से वह धार्मिक नहीं है। यदि समाज की आज्ञा हो तो व्यक्ति को महाराज दशरथ की तरह पुत्र-स्नेह भी छोड़ना पड़ता है। अपनी धर्म-पत्नी के अधिकारों की अवहेलना करना अधार्मिक है, परन्तु समाज की मर्यादा की रक्षा के लिए भगवान् रामचन्द्रजी को सीताजी का त्याग करना पड़ा। समाज का शासन अमान्य नहीं हो सकता। वही यथार्थ में धर्म माना जाता है। भारतवर्ष में धर्म ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य माना जाता है। परन्तु सच पूछो तो हिन्दू-धर्म कोई वस्तु नहीं है। हिन्दू समाज ही सब कुछ है। धर्म का जो स्वरूप समाज से निश्चित होता है एकमात्र वही धार्मिक समझा जाता है। जब कोई व्यक्ति समाज से अपना स्वत्व माँगता है तब समाज उसे अधार्मिक कहकर दबाना चाहता है। यही जब साहित्य में प्रकट होता है तब समाज के पक्षपाती आदर्श की दुहाई देकर उसको निर्मूल कर देना चाहते हैं। साहित्य में आदर्श की जो कल्पना की गई है वह बिलकुल

मिथ्या है। साहित्य में आदर्श की सृष्टि हो नहीं सकती। किसी विशेष परिस्थिति में यदि किसी ने किसी प्रकार के जीवन को आदर्श माना हो, तो क्या उसका वह परिमित जीवन अनन्त मानव-जीवन के लिए आदर्श हो सकता है? जब लोग साहित्य में किसी आदर्श की सृष्टि कर यह कहते हैं कि वस्तुतः जीवन ऐसा होना चाहिए, तब वे किसी विशेष परिस्थिति का वर्णन करते हैं, आदर्श का नहीं।

यह सच है कि साहित्य में जिन चरित्रों ने अक्षय स्थान प्राप्त कर लिया है उनके प्रति मनुष्य की दृढ़ भक्ति है। हिन्दू-साहित्य में राम, कृष्ण, अर्जुन, भीष्म, सीता, सावित्री आदि के चरित्र चिरस्मरणीय बने रहेंगे। ये हम लोगों के दैनिक जीवन में मिल गये हैं। यदि ये हिन्दू जाति की स्मृति से लुप्त कर दिये जायँ तो हिन्दू-धर्म और भारतीय सभ्यता का विशाल भवन ढह जाय। वेद और शास्त्रों की चर्चा में अल्पसंख्यक विद्वान् ही निरत रहते हैं। अधिकांश हिन्दुओं का धर्म-ज्ञान राम और कृष्ण की कथा ही तक है। कुछ लोग कदाचित् यह कहें कि उपासना के केन्द्र होने के कारण इन्हीं चरित्रों पर हिन्दू-धर्म स्थापित है। परन्तु उपासना का कारण है इनके जीवन की सम्पूर्णता। उनकी ईश्वरता ध्यान-गम्य है, परन्तु उनकी मनुष्य-लीला हृद्गम्य है। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को अपना जो रूप दिखलाया वह योगियों के लिए है। सर्व-साधारण तो उनके मनुष्य-रूप ही पर मुग्ध हैं। अतएव साहित्य का एकमात्र ध्येय मनुष्य-जीवन की सम्पूर्णता है और

वही साहित्य श्रेयस्कर है जिसमें मनुष्य-जीवन की पूर्णता पर विचार किया गया है। हिन्दी के सामाजिक उपन्यासों में शायद दो ही चार ऐसे हों जो सत्य की कसौटी पर अच्छी तरह कसे जा सकते हैं।

(४)

उपन्यासों में प्रायः सत्य का बहिष्कार किया जाता है। औपन्यासिक घटनाएँ कल्पित अवश्य होती हैं, परन्तु ये प्राकृतिक नियमों का व्यतिक्रमण नहीं कर जातीं। हिन्दी के सामाजिक उपन्यासों में मनुष्य के मनुष्यत्व का विकास प्रदर्शित नहीं किया जाता। उपन्यास-लेखक अपनी इच्छा के अनुकूल ही अपने पात्रों को कठपुतलियों की तरह नचाया करते हैं और वे अपने पाठकों से यही आशा रखते हैं कि पाठक चुपचाप उनके पात्रों का नृत्य-कौशल देखा करें। इससे उपन्यास में मिथ्या को प्रश्रय मिलता है। हिन्दी के उपन्यासों के पात्र सह्य और असह्य सभी प्रकार के कष्ट सह सकते हैं। संसार में सज्जनों पर विधाता की सदैव अनुकूल दृष्टि नहीं रहती। पर उन पात्रों के भाग्य-विधाता उनकी स्थिति को अनुकूल ही कर देते हैं। यदि कोई उपन्यास दुःखान्त हुआ है तो उसका कारण स्थिति की प्रतिकूलता नहीं, किन्तु पात्रों का दुर्भाग्य समझना चाहिये। स्वर्गीय बाबू देवकीनंदन के समान कितने ही लोग अपने ही उपन्यास को सुखान्त और दुःखान्त दोनों कर डालते हैं। आपका कहना भी था कि जो

दुःखान्त के प्रेमी हैं वे ग्रन्थ के अन्तिम दो पृष्ठ फाड़ डालें, सुखान्त दुःखान्त हो जायगा। विधाता के विधान का फैसला दो ही पृष्ठों पर कर दिया गया। हिन्दू-मात्र पूर्व जन्म पर विश्वास करते हैं। उनका ख़याल है कि विधाता निरङ्कुश नहीं है। मनुष्य अपने ही कृत्यों का फल भोगता है। पर हिन्दी के उपन्यासकार इसके क़ायल नहीं। एक ही कृत्य के लिए ये चाहें तो किसी को स्वर्ग दे सकते हैं या नरक में ढकेल सकते हैं। मानव-स्वभाव की गरिमा का ज़रा भी ख़याल न रख किसी के चरित्र को कालुष्य-पूर्ण बताकर उसपर पूरा अत्याचार किया जाता है। चरित्र का उत्थान और पतन बिलकुल साधारण बात है। यही हिन्दी के उपन्यासों का मिथ्या अंश है।

सभी देशों के साहित्य में जातीय गौरव की रक्षा की जाती है। सभी मनुष्यों को अपनी जाति का अभिमान होता है। यही कारण है कि अपने जातीय गौरव की रक्षा के लिए, समय आने पर, साधारण मनुष्य भी आत्म-त्याग कर सकता है। कभी-कभी लोग जातीय अभिमान से प्रेरित होकर प्राण तक देना स्वीकार करते हैं, पर वे अपनी जाति को किसी प्रकार अपमानित होते नहीं देख सकते। अँगरेज़ी के एक कवि ने एक छोटी-सी कहानी लिखी है। उसमें एक अँगरेज़ी सैनिक का जातीय अभिमान प्रदर्शित हुआ है। उस कहानी के विषय में कहा गया है कि वह एक सच्ची घटना के आधार पर लिखी गई है। कहानी का सारांश यह है कि एक बार चीन में एक अँगरेज़ तीन सिक्खों के साथ

कहीं गुल-गपाड़ा करता हुआ पकड़ा गया। जब वे चारों किसी चीनी अफ़सर के सामने लाये गये तब उस अफ़सर ने कहा—तुम लोग मुझे झुककर सलाम करो, नहीं तो मार डाले जाओगे। तीनों सिक्खों ने सलाम कर अपनी प्राण-रक्षा की। पर उस अँगरेज़ ने स्वीकार नहीं किया। अन्त में वह मार डाला गया। इसी घटना को लेकर अँगरेज़ कवि ने अँगरेज़ों के जातीय अभिमान की प्रशंसा की है और काले सिक्खों की कायरता की ओर इशारा किया है। सिक्ख जाति के इतिहास में ऐसी घटनाओं का अभाव नहीं है जिनमें सिक्खों ने सहर्ष प्राण त्याग दिये हैं। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि सिक्ख जाति प्राण देना नहीं जानती। पर जिनका हृदय क्षुद्र होता है वे जातीय अभिमान के कारण दूसरों में गुण देख ही नहीं सकते। ऐसे लोगों की रचनाओं में विदेशी जातियों का घृणास्पद चित्र अंकित रहता है।

उपन्यास चाहे ऐतिहासिक हों अथवा सामाजिक, पौराणिक हों अथवा राजनैतिक, उनमें कल्पना की प्रधानता रहती है। ऐतिहासिक अथवा पौराणिक व्यक्ति लेखक की कल्पना में अपना यथार्थ स्वरूप नहीं रख सकते हैं। अतएव यदि उनके चरित्र-चित्रण में वही दोष है तो वह लेखक की कल्पना का दोष है। यदि लेखक को अपने उत्तरदायित्व का पूरा ज्ञान है तो वह अपने उपन्यास के प्रत्येक पात्र के जीवन की समीक्षा करेगा। उसे स्मरण रखना चाहिए कि उसके पात्र मनुष्य हैं। वे न तो देवता हैं और न पिशाच। यदि उनका चरित्र देव-तुल्य अथवा पिशाच-

तुल्य है तो उसे बतलाना होगा कि वह किस स्थिति को अतिक्रमण कर उस अवस्था को पहुँचा है। लेखक को स्मरण रखना चाहिए कि गोपाल अथवा हेनरी सिर्फ़ हिन्दू या अँगरेज़ नहीं हैं। वे मनुष्य भी हैं। शायलाक की तरह वे भी कह सकते हैं—हमें काटोगे तो हमें भी दुःख होगा, हँसाओगे तो हम भी हँसेंगे, हम भी इच्छा करते हैं, उठते हैं, गिरते हैं। हममें भी गुण और अवगुण हैं, यदि हम बुरे हैं तो किसी कारण से बुरे हैं। हे लेखक, तुम हमारे भाग्य-विधाता बने हो, पर याद रक्खो कि यदि तुम हमारी स्थिति में रहो तो तुम भी बुरे हो सकते हो। अतएव तुम्हें हमारे साथ सहानुभूति रखनी चाहिए। हम जानना चाहते हैं कि हिन्दी के कितने औपन्यासिक अपने कल्पित पात्रों को मनुष्य समझते हैं, उन्हें सिर्फ़ कल्पना की सृष्टि नहीं समझते।

हिन्दी के नाटकों के विषय में एक लेखक ने एक प्रश्न उठाया था। वह था नाटकीय पात्रों की भाषा। हिन्दी नाटकों के विदेशी पात्र एक अद्भुत भाषा में बातचीत करते हैं। कदाचित् लेखक अपने नाटकों में स्वाभाविकता लाने के लिए ऐसा करते हों। यदि स्वाभाविकता का मतलब यह है कि पात्र जो भाषा संसार में बोलते थे उसी भाषा का उपयोग रंगभूमि में करें, तो लेखक राम, सीता, राधा और कृष्ण से हिन्दीभाषा में बातचीत क्यों कराते हैं। हम नाटकों में कितनी बातों को लेखक के कथनमात्र पर मान लेते हैं; तब हम यह भी विश्वास कर सकते हैं कि एक बंगाली शुद्ध हिन्दी बोल सकता है। तब ऊटपटाँग भाषा में किसी को बातचीत

कराने से क्या लाभ ? क्या इसी से हास्य-रस का स्रोत फूट पड़ता है ? हमारी समझ में तो इससे केवल पात्र का चरित्र उपहास-जनक हो जाता है। यदि अँगरेजी साहित्य में बाबू-इँग्लिश को स्थान मिलता है तो वह केवल बाबुओं की दिल्लगी उड़ाने के लिए। क्या इससे अनुदारता सूचित नहीं होती ?

आजकल का उपन्यासों का क्षेत्र खूब व्यापक हो गया है। सभी तरह की पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। उनमें कुछ अच्छी होती हैं तो अधिकांश बुरी होती हैं। परन्तु बुरे होने से उपन्यासों का प्रचार कम नहीं होता। देखा गया है, अधिकांश पाठकों का मनो-विनोद श्रेष्ठ साहित्य से नहीं होता। कभी-कभी चरित्र को भ्रष्ट करनेवाली अनाचार से पूर्ण किताबों की खूब खपत होती है। अँगरेजी साहित्य में आजकल बर्नार्ड शा का बड़ा नाम है। नाटक-रचना में आप बड़े पटु समझे जाते हैं। आपने अच्छी और बुरी पुस्तकों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं। आपके विचारों में मौलिकता है, अतएव उनका मर्म नीचे दिया जाता है। हम लोग उपन्यासों में भयानक हत्याकाण्डों का वर्णन पढ़ते हैं। उनमें हम भयानक हत्यारों की भीषण लीलाएँ देखते हैं, परन्तु उससे हम स्वयं घातक नहीं हो जाते। यही नहीं, किन्तु हमारी जिघांसा की प्रवृत्ति एक कल्पित राज्य में जाकर आप-से-आप नष्ट हो जाती है। उसी प्रकार हम काव्यों में श्रेष्ठ नर-नारियों का चरित्र पढ़ते हैं, उनके सद्‌गुणों का परिचय पाते हैं। पर वे सद्-गुण भी कल्पना के ही क्षेत्र में अवरुद्ध हो जाते हैं। हमारी

सत्प्रवृत्तियाँ उत्तेजित तो अवश्य होती हैं, पर वे कल्पित राज्य में ही विलीन हो जाती हैं। अब विचारणीय यह है कि वाचनालयों में कैसी किताबें रक्खी जायँ। हमारी समझ में तो वहाँ ऐसी ही किताबें रक्खी जायँ जिनमें दुराचारियों का वर्णन रहे। जासूसी उपन्यासों में चोरों और बदमाशों का खूब हाल रहता है। अतएव पुस्तकालयों में उन्हीं की भरमार रहनी चाहिए। ऐसी किताबों को पढ़ते-पढ़ते जब पाठकों को अनाचार से विरक्ति हो जायगी, तब वे स्वयं आकर कहेंगे—भाई, अब कोई ऐसी किताब दो जिसमें आदर्श चरित्र अंकित किया गया हो। किसी साधु पुरुष अथवा महात्मा का जीवन-चरित हो। तब पुस्तकालय के अध्यक्ष को उत्तर देना चाहिए—सद्गुणों के निदर्शन के लिए संसार ही प्रधान कार्य-क्षेत्र है। आप स्वयं जाकर अच्छे-अच्छे काम कीजिए। यदि कभी आपमें दुष्प्रवृत्तियाँ जागृत हों तो आकर किताबें पढ़िए। मैं फिर आपको ऐसी किताबें दूँगा जिनसे आपकी दुष्प्रवृत्ति खूब उत्तेजित होगी और अन्त में आप-से-आप नष्ट हो जायगी। बर्नार्ड शा के कथन का यही सार है। जो लोग साहित्य में अनाचार के द्वार अवरुद्ध करना चाहते हैं उन्हें बर्नार्ड शा की इस सम्मति पर विचार करना चाहिए।

हिन्दी में साधारणतः जो उपन्यास प्रकाशित होते हैं उनमें विषय की महत्ता पर विशेष ध्यान दिया गया है। विषय महत्त्वपूर्ण होने से ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण हो, यह कोई बात नहीं है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इससे लेखकों की महत्त्वाकांक्षा सूचित होती है।

हिन्दी के उपन्यासों, नाटकों और आख्यायिकाओं तक का विषय-क्षेत्र इतना विस्तृत होता है कि उसमें निपुण ग्रन्थकारों की बुद्धि भी चक्कर खा जाय। आदर्श ऊँचा रखना बुरा नहीं, परन्तु उस आदर्श को मनुष्य-जीवन में दिखलाने के लिए अनुभूति चाहिए। जिसने अभी भारतीय राजनीति के साधारण तत्त्वों को समझा नहीं है, वह यदि कल्पना के बल से उपन्यास में राजनैतिक जीवन का रहस्योद्‌घाटन करना चाहे तो इसे उसका साहस कहना चाहिए। यही हाल सामयिक तथा धार्मिक समस्याओं का भी है। किसी विधवा को आजन्म ब्रह्मचारिणी अंकित कर देने से भारतीय समाज की दुर्दशा दूर नहीं हो जाती और न शिक्षित रमणी का विकृत चित्र खींच देने से स्त्रियों की समस्या हल हो जाती है। संसार में कर्मयोग का जीवित चित्र खींच देना साधारण काम नहीं है। बुद्धदेव अथवा प्रताप को नायक बना देने से ही नाटक या उपन्यास श्रेष्ठ नहीं हो जाता। एक साधारण मनुष्य के जीवन में जो हलचल होती रहती है, पहले उसी का तो चित्र खींचा जाय, फिर किसी उच्च जीवन का विकास दिखलाया जाय। जो लोग बुद्धदेव के जीवन का रहस्य बतलाना चाहते हैं वे पहले अपने जीवन की परीक्षा कर लें। जब तक वे अपने जीवन में बुद्धदेव की महत्ता का अनुभव नहीं कर लेंगे तब तक वे केवल कल्पना के सहारे बुद्धदेव के पास नहीं पहुँच सकते। रामचरितमानस लिखने के लिए गोस्वामीजी की ज़रूरत होती है। रामचरितमानस गोस्वामीजी की कल्पना का फल नहीं है। वह

उनकी साधना का, अनुभूति का, फल है। हिन्दी के नये ग्रन्थों में दो-चार को छोड़कर सभी में इसी अनुभूति का अभाव है। कुछ लोग असाधारणता को ही उत्तमता समझते हैं। इसी के फ़ेर में पड़कर लोग मनुष्य को न देखकर उसका स्वाँग देख रहे हैं।

साहित्य का उद्देश ज्ञान का प्रचार करना है, कम-से-कम सत् साहित्य का यही उद्देश है। साहित्य से मनुष्य का जो मनोरञ्जन होता है उसका कारण है उसकी स्वाभाविक ज्ञान-लिप्सा। यदि उसमें ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा बलवती न होती तो साहित्य के किसी भी अंग से उसकी मनस्तुष्टि न होती। मनुष्य मनुष्य-समाज को जानना चाहता है। इसी से इतिहास, नृतत्त्व शास्त्र, समाज-शास्त्र राजनीति-विज्ञान आदि शास्त्रों की सृष्टि होती है। वह मनुष्य के अन्तस्तल में प्रवेश करके उसके अन्तर्निहित भावों को जानना चाहता है। इसी से काव्य का निर्माण होता है। वह प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करना चाहता है। इसी से विज्ञान की रचना होती है। जब वह बाह्य प्रकृति के साथ अपना संबन्ध ढूँढ़ने लगता है, तब समाज-शास्त्र की आवश्यकता होती है। मतलब यह कि समस्त साहित्य के मूल में ज्ञान है। साहित्य के जिस अंश से हम ज्ञान का जितना ही अधिक अंश स्वायत्त कर लेते हैं वह हमारे लिए उतना ही अधिक उपादेय है। ज्ञान की प्राप्ति में ही साहित्य की उपादेयता है।

कथा, उपन्यास और आख्यायिका, ये काव्य के अन्तर्गत हैं।

कुछ लोगों की धारणा है कि इनका उद्देश केवल मनोरञ्जन है इसमें संदेह नहीं कि उपन्यासों से जितने अधिक लोगों का मनोरञ्जन होता है उतना अन्य किसी शास्त्र से नहीं होता। परन्तु इससे इनका महत्त्व घटता नहीं है। उपन्यास अथवा कथाओं से मनुष्य का मनोरञ्जन इसीलिए होता है, क्योंकि उनसे वह अपना मनुष्यत्व पहचान लेता है। इतिहास राष्ट्र से हमें परिचित कराता है और उपन्यास व्यक्ति से। यही दोनों में भेद है। राष्ट्र अथवा समाज का ज्ञान हमारे लिए जितना हितकर है उससे कम व्यक्ति का ज्ञान नहीं है। एक में हम राष्ट्र का उत्थान-पतन देखते हैं और दूसरे में व्यक्ति का। जिस कथा से हमें मनुष्यत्व का जितना ही अधिक ज्ञान होता है वह उतनी ही अच्छी समझी जाती है।

अब विचारणीय यह है कि साहित्य में उपन्यासों की क्या मर्यादा है। यह तो स्पष्ट है कि उसका उद्देश ही मानवीय स्वभाव की ज्ञान-प्राप्ति है। परन्तु क्या यह कहा जा सकता है कि ज्ञान की सीमा यहीं तक है, इससे अधिक हम नहीं जा सकते? उदाहरण के लिए, क्या कथाओं के विषय में यह कहा जा सकता है कि उनमें हमें श्रेष्ठ पुरुषों के ही जीवन की महत्ता देखनी चाहिए। क्षुद्रों की क्षुद्रता देखने से लाभ क्या? प्राचीन काल की कथाओं में राजा और रानी की ही कहानियाँ वर्णित हुई हैं। रामायण, महाभारत, रघुवंश आदि सभी काव्यों के नायक महापुरुष हैं। चरित्र-हीन, नीच, दुष्ट जनों को अपनी कृति द्वारा अक्षय करने की चेष्टा किसी ने नहीं की है। तो क्या ऐसे मनुष्यों का जीवन

अवर्णनीय है ? निवेदन है कि आँख मूँद लेने से हमारे लिए कोई नहीं रह जाता। परन्तु संसार उठ नहीं जाता। वह जहाँ का तहाँ बना रहता है। इसीलिए जो आँख मूँदकर चलने की चेष्टा करते हैं वे ठोकर भी खाते हैं। अतएव नीति की दृष्टि से तो यह आवश्यक है कि मनुष्य भलाई और बुराई दोनों से परिचित हो जाय। परन्तु सबसे बड़ी बात यह है कि हमें मनुष्य-स्वभाव का पूरा ज्ञान होना चाहिए। एक चरित्र-हीन के जीवन में मनुष्यत्व का जो विकास हुआ है वह हमारे लिए उपेक्षणीय नहीं है। ऐसे ग्रन्थों के पाठ से चित्त कलुषित नहीं होता। यथार्थ ज्ञान से सहानुभूति उत्पन्न होती है। जिन लेखकों में यह शक्ति नहीं है कि वे मनुष्य के अन्तस्तल तक पहुँच सकें, उन्हीं की रचनाओं में मनुष्यत्व का विकृत रूप प्रदर्शित होता है, जिससे चित्त विकृत होता है। मनुष्य के लिए अधःपतन अस्वाभाविक है। परन्तु इस पतनावस्था में जो प्रवृत्तियाँ काम करती हैं उन्हीं में यह शक्ति भी रहती है कि वे मनुष्य को उच्चतम अवस्था में ले आवें। अतएव उनका ज्ञान हमारे लिए अनिष्टकर नहीं है।

—पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

मध्यकालीन भारत की शासन-व्यवस्था*

प्राचीन भारत में राजनीति और शासन-पद्धति का पूर्ण विकास हो चुका था। हमारे देश में भी राजा के अधिकार किसी प्रकार नियंत्रित थे। यहाँ भी कई प्रजा-

शासन-पद्धति

तंत्र राज्य थे, जिनको गणराज्य भी कहते थे। कई राज्यों में राजा चुना भी जाता था। राजा प्रजा पर अत्याचार नहीं कर सकता था। प्रजा की आवाज़ सुनी जाती थी। शासन-प्रबंध बहुत उत्तम होता था।

हमारे काल में भी हम इस प्रकार का शासन देखते हैं। हर्ष के राज्यकाल के ताम्रलेखों, हर्षचरित और हुएन्त्संग के वर्णन से तात्कालिक शासन-पद्धति का कुछ पता लगता है। राजा उस

---

* इस पाठ में मध्यकालीन भारत, 'हमारे काल', निर्दिष्ट काल' आदि से ईसवी सन् ६०० से १२०० तक का काल अभिप्रेत है। इसी काल की भारतीय संस्कृति पर इसके लेखक ने संयुक्त प्रदेश की हिन्दुस्तानी एकेडेमी की अवधानता में ई० स० १९२८ में प्रयाग में तीन व्याख्यान दिये थे। इस पाठ में तीसरे व्याख्यान का कुछ अंश उद्धृत है। —संपादक

समय सर्वेसर्वा नहीं था। उसकी मंत्रिपरिषद् होती थी, जिसके हाथ में वस्तुतः राज्य की प्रायः सारी शक्ति रहती थी। राज्यवर्धन का प्रधान सचिव भंडि था। राज्यवर्धन के मारे जाने पर भंडि ने त्रिपरिषद् की बैठक बुलाकर देश की स्थिति समझाई और कहा कि 'राजा का भाई हर्ष कर्तव्यपरायण, प्रजाप्रिय तथा दयालु है। प्रजा उसपर विश्वास करेगी। मैं प्रस्ताव करता हूँ कि उसे राजा बनाया जाय। प्रत्येक मंत्री इसपर अपनी सम्मति दे'। सब मंत्रियों ने इसपर सहमत होकर हर्ष से राजा बनने की प्रार्थना की। इससे जान पड़ता है कि मंत्रि-परिषद् का शासन में बहुत अधिकार था। भिन्न-भिन्न मंत्रियों का भी उल्लेख मिलता है, जिनमें सांधिविग्रहिक, रणभांडागारिक, विनयस्थितिस्थापक (न्याय-का प्रबंधकर्ता), अक्षपटलाधिपति (आय-व्यय का हिसाब रखने-वाला) आदि मुख्य हैं। राजा का मुख्य कार्य शासन करना था। वह मंत्रिपरिषद् से सलाह लिया करता था। राजा का कर्तव्य प्रजा में शान्ति रखना और उसकी रक्षा करना था। हुएन्त्संग ने लिखा है कि राजा का शासन दयायुक्त नियमों पर अवलंबित था। प्रजा पर किसी प्रकार की जबरदस्ती नहीं की जाती थी। क्षत्रिय लोग बहुत पीढ़ियों से शासन कर रहे हैं, परन्तु उनका उद्देश्य प्रजोपकार और दया है*।

एकतंत्र शासन होते हुए भी राजा परोपकारी और प्रजाहितैषी शासक (Benevolent Monarch) था। उस समय ब्राह्मणों

*'वॉटर्स; ऑन् युवनच्वांग़ ट्रैवल्स; जिल्द १, पृ० १६८।

तथा धर्मगुरुओं का प्रभाव राजा पर बहुत होता था। वह राज्य की सब प्रकार की क्रियाओं और चेष्टाओं (Activities) का उत्तरदाता था।

राजा के कर्त्तव्य

वह केवल प्रजा के आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नों की ओर ही ध्यान नहीं देता था, किन्तु प्रजा की धार्मिक और शिक्षा-संबंधी अवस्था पर भी लक्ष्य रखता था। बहुत से राजाओं ने धार्मिक उन्नति में विशेष भाग लिया और शिक्षा की उन्नति के लिये भी विशेष प्रयत्न किया। उनके दरबार में बड़े-बड़े कवियों और विद्वानों को आश्रय दिया जाता था। जब कभी कोई कवि एक उत्कृष्ट ग्रंथ तैयार करता, तो राजा दूसरे नरेशों के दरबारों से भी उसे सुनने के लिये विद्वान् प्रतिनिधि बुलाता था। काश्मीर के राजा जयसिंह के समय में मंख-रचित 'श्रीकंठचरित' सुनने के लिये कन्नौज के गोविन्दचन्द्र के दरबार से सुहल और उत्तरी कोंकण के राजा अपरादित्य के दरबार से तेजकंठ आदि विद्वान् भेजे गये थे। प्रायः प्रत्येक दरबार में कुछ कवि तथा विद्वान् रहते थे, जिनका वहाँ पूर्ण सम्मान होता था। राजा लोग उन्हें नए-नए ग्रंथ लिखने के लिये भी उत्साहित करते थे।

शासन की सुविधा के लिये देश भिन्न-भिन्न भागों में बँटा हुआ था। मुख्य विभाग भुक्ति (प्रान्त), विषय (जिला) और ग्राम थे। सबसे मुख्य संस्था ग्राम-संस्था थी। बहुत प्राचीन काल से भारतवर्ष में ग्राम-संस्थाओं का प्रचार था। ग्राम के लिये वहाँ की पंचायत

ग्राम-संस्था

ही सब कुछ कार्य करती थी। केन्द्रीय सरकार का उसी से संबंध रहता था। ये ग्राम-संस्थाएँ एक छोटा-सा प्रजातंत्र थीं, इनमें प्रजा का अधिकार था। मुख्य सरकार के अधीन होते हुए भी ये एक प्रकार से स्वतंत्र थीं।

प्राचीन तामिल इतिहास से उस समय की शासन-पद्धति का विस्तृत परिचय मिलता है, परंतु हम स्थानाभाव से संक्षिप्त वर्णन ही देंगे। शासन-कार्य में राजा को सहायता देने के लिये पाँच समितियाँ होती थीं। इनके अतिरिक्त जिलों में तीन सभाएँ होती थीं। ब्राह्मण-सभा में सब ब्राह्मण सम्मिलित होते थे। व्यापारियों की सभा व्यापारादि का प्रबन्ध करती थी। चोल राजराज (प्रथम) के शिलालेख से १५० गाँवों में ग्राम-सभाओं के होने का पता लगता है। इन सभाओं के अधिवेशन के लिये बड़े-बड़े भवन होते थे, जैसे तंजोर आदि में बने हुए हैं, साधारण गाँवों में बड़े-बड़े वट-वृक्षों के नीचे सभाओं के अधिवेशन होते थे। ग्राम-सभाओं के दो रूप—विचार-सभा और शासन-सभा—रहते थे। सम्पूर्ण सभा के सभ्य कई समितियों में विभक्त कर दिये जाते थे। कृषि और उद्यान, सिंचाई, व्यापार, मंदिर, दान आदि के लिये भिन्न भिन्न समितियाँ थीं। एक समय एक तालाब में पानी अधिक आने के कारण ग्राम को हानि पहुँचने की संभावना होने पर ग्राम-सभा ने तालाब-समिति को उसका सुधार करने के लिये रुपया दिया और कहा कि इसका सूद मंदिर-समिति को दिया जाय। यदि कोई किसान कुछ वर्ष तक कर न देता था, तो उससे

भूमि छीन ली जाती थी। ऐसी ज़मीन फिर नीलाम कर दी जाती थी। भूमि बेचने या ख़रीदने पर ग्राम-सभा उसका पूरा विवरण तथा दस्तावेज़ अपने पास रखती थी। सारा हिसाब-किताब ताड़-पत्रादि पर लिखा जाता था। सिंचाई की तरफ़ विशेष ध्यान दिया जाता था। जल का कोई भी स्रोत व्यर्थ नहीं जाने पाता था। नहरों, तालाबों और कुओं की मरम्मत समय-समय पर होती थी। आय-व्यय के रजिस्टरों का निरीक्षण करने के लिये राज्य की ओर से अधिकारी नियुक्त किये जाते थे *।

चोल राजा परांतक के समय के शिलालेख से ग्राम-संस्थाओं की निर्माण-पद्धति पर बहुत प्रकाश पड़ता है। उसमें ग्राम-सभा के सभ्यों की योग्यता-अयोग्यता-संबंधी नियम, उपसमितियों का निर्माण तथा आय-व्यय के परीक्षकों की नियुक्ति आदि पर विचार किया गया है। चुनाव सार्वजनिक होता था, जिसकी विधि यह होती थी कि लोग ठीकरियों पर उम्मीदवार का नाम लिखकर घड़े में डाल देते थे; सबके सामने वह घड़ा खोलकर उम्मीदवारों के मत गिने जाते थे और अधिक मत से कोई उम्मीदवार चुना जाता था †।

इन संस्थाओं का भारत की जनता पर जो सबसे अधिक

---

* विनयकुमार सरकार; दि पोलिटिकल इन्स्टिट्यूशन्स एंड थ्योरीज़ ऑफ़ दि हिन्दूज़, पृ० ५२-५६।

† ऐन्युअल रिपोर्ट ऑफ़ दि आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया, सन् १९०३-५ ई०, पृ० १४२-४५।

व्यापक प्रभाव पड़ा, वह यह है कि वह ऊपर के राजकीय कार्यों से उदासीन रहने लगी। राज्य में चाहे कितने बड़े-बड़े परिवर्तन हो जायँ, परन्तु पंचायतों के वैसे ही रहने से साधारण जनता में कोई परिवर्तन नहीं दीखता था। जन-साधारण को परतन्त्रता का कटु अनुभव कभी नहीं होता था। इतने विशाल देश के भिन्न-भिन्न राज्यों के लिये यह कठिन भी है कि वे गाँवों तक की सब बातों की तरफ़ ध्यान रख सकें। भारतवर्ष में इतने परिवर्तन हुए, परंतु किसी ने पंचायतों को नष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया।

शहरों में म्युनिसिपैलिटियाँ या नगर-सभाएँ भी होती थीं, जो नगर का पूर्ण प्रबंध करती थीं।

शासन और न्याय के नियम पर्याप्त कठोर थे। अंगच्छेद, देश-निर्वासन, जुरमाना और कारागार आदि दंड प्रचलित थे*। हर्ष के जन्म पर कैदियों के छोड़े जाने का उल्लेख बाण ने किया है। याज्ञवल्क्य ने कई कठोर एवं क्रूर दंडों का वर्णन किया है। ब्राह्मणों को विशेष कठोर दंड नहीं दिया जाता था। न्याय-विभाग के लिये एक विशेष अधिकारी रहता था, जिसके नीचे भिन्न-भिन्न प्रान्तों और स्थानों में अन्य अधिकारी रहते थे। याज्ञवल्क्य ने न्याय के बहुतसे नियमों का वर्णन किया है, जिससे पता लगता है कि उस समय की न्याय-व्यवस्था कितनी उन्नत और पूर्ण थी। अभियोगों में लिखित और मौखिक साक्षियों की परीक्षा की जाती थी।

दंड

* वॉटर्स; ऑन् युवनच्वांग्ज़ ट्रैवल्स; जि० १, पृ० १७२।

आश्चर्य की बात यह है कि सब बातों में इतनी उन्नति होते हुए भी दिव्यसाक्षी (Ordeal) की क्रूर प्रथा अवश्य विद्यमान थी,† परंतु बहुत ही कम उपयोग में आती थी।

स्त्रियों की राजनीतिक स्थिति

क़ानून में स्त्रियों की भी राजनीतिक स्थिति स्वीकृत की जाती थी। उत्तराधिकार-संबंधी नियमों में स्त्री की संपत्ति का भी अच्छा विवेचन किया है। पुत्र के न होने पर लड़की ही पिता की संपत्ति की अधिकारिणी होती थी। अपने पितृ-गृह की ओर से मिलनेवाले धन पर स्त्री का पूर्ण स्वत्व रहता था। मनु ने इसका उल्लेख किया है*।

राज्य की ओर से व्यापार और व्यवसाय की रक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। कारीगरों की रक्षा के लिये विशेष नियम बने हुए थे। यदि कोई व्यापारी अनुचित उपायों द्वारा वस्तुओं का मूल्य आदि बढ़ा देता या बाट और नाप कम या अधिक रखता तो उसे दंड मिलता था।

शासन प्रबन्ध

उस समय के शासन का कुछ परिचय तत्कालीन कर्मचारियों के नामों से मिलता है। राजा या सम्राट् के नीचे बहुत से छोटे-छोटे राजा होते थे, जिन्हें

---

† वॉटर्स; ऑन् युवनच्वांग्ज़ ट्रैवल्स, जि० १, पृ० १७२। साचू; अलबेरूनीज़ इंडिया, जि० २, पृ० १५८–६०।

* विनयकुमार सरकार; दि पोलिटिकल इन्स्टिटयूशन्स एंड थ्योरीज़ ऑफ़ दि हिन्दूज़, पृ० २७-३०।

महाराजा, महासामंत आदि उपाधियाँ मिलती थीं। ये राजा सम्राट् के दरबार में उपस्थित होते थे, जैसा कि बाण के वर्णन से विदित होता है। कभी जागीरदार भी ऊँचे पदों पर पहुँच जाते थे। प्रांत के शासक को 'उपरिक महाराज' कहते थे। कई शिलालेखों में प्रांतीय शासकों के गोप्ता, भोगिक, भोगपति, राजस्थानीय आदि नाम भी मिलते हैं। प्रांतीय शासक विषय या ज़िले के शासक को नियुक्त करता था, जिसे विषयपति या आयुक्तक कहते थे। विषयपति अपने ज़िले के मुख्य स्थान में, जिसे अधिष्ठान कहते थे, अपना अधिकरण या दफ़्तर रखता था।

प्रांतीय शासकों के पास राजा की लिखित आज्ञाएँ जाती थीं। एक ताम्रपत्र से पता लगता है कि ये आज्ञाएँ तभी ठीक मानी जाती थीं, जब कि उनपर सरकारी मुहर हो, प्रांतीय शासक की स्वीकृति हो, राजा के हस्ताक्षर और तत्संबंधी सब क्रियाएँ ठीक हों*। राजा की तरफ़ से दी गई तमाम सनदों पर राजमुद्रा की छाप होती थी, यहाँ तक कि दानपत्रों के साथ जुड़ी हुई और ताँबे पर ढली हुई बड़ी-बड़ी राजमुद्राएँ मिलती हैं, जिनमें कहीं-कहीं राजा के पूर्वजों की पूरी नामावली तक रहती थी। ऐसी मुद्राओं में कन्नौज

---

* मुद्राशुद्धं क्रियाशुद्धं भुक्तिशुद्धं सचिह्नकम्।
राज्ञः स्वहस्तशुद्धं च शुद्धिमाप्नोति शासनम्॥

शिलारावंशी राजा रट्टराज का शक संवत् ९३० (वि० ० १०६५) का दानपत्र (एपिग्राफ़िया इंडिका, जि० ३, पृ० ३०१)।

के रघुवंशी प्रतिहार राजा भोजदेव तथा मौखरी शर्ववर्मा आदि की मुद्राएँ उल्लेखनीय हैं।

स्थानीय सरकारों के भिन्न-भिन्न कर्मचारियों के नाम भी शिलालेखों में मिलते हैं, जिनमें से हम कुछ यहाँ देते हैं, जैसे महत्तर (ग्राम-सभा का सभ्य), ग्रामिक (ग्राम का मुख्य शासक), शौल्किक (कर लेनेवाला कर्मचारी), गौल्मिक (किलों का अध्यक्ष), ध्रुवाधिकरण (भूमि-कर लेनेवाला), भांडागाराधिकृत (कोषाध्यक्ष), तलवाटक (ग्राम का हिसाब रखनेवाला)। वर्तमान क्लर्क के नाम 'दिविर' और 'लेखक' थे। 'करणिक' आजकल के रजिस्ट्रार का काम करता था। इन कर्मचारियों के अतिरिक्त दूसरे भी बड़े-बड़े कर्मचारी रहते थे। दंडपाशिक, चौरोद्धरणिक आदि पुलिस के कर्मचारियों के नाम थे*।

आय-व्यय

राज्य की आय कई विभागों से होती थी। सबसे अधिक आय भूमि-कर से थी। भूमि-कर उपज का छठा हिस्सा होता था। किसानों पर भी एक आध और कर लगता था। ये कर अनाज के रूप में लिये जाते थे। मंडपिका (चुंगी कर) भी कई पदार्थों पर लगता था। बंदरगाहों पर आनेवाले माल पर तथा दूसरे राज्यों से अपनी सीमा में आनेवाले माल पर आयात-कर लगता था।

* चिन्तामणि-विनायक वैद्य; हिस्ट्री ऑफ़ मेडिएवल हिन्दू इंडिया, जि० १, पृ० ११८-४१। राधाकुमुद मुकर्जी; हर्ष, पृ० १०२-१२।

द्युत-भवनों पर भी बहुत कर लगता था। नमक तथा खानों पर भी कर लगाया जाता था*, परन्तु ये कर भारी नहीं थे, जैसा कि हुएन्त्संग का कथन है। उसने राजकीय आय का चार भागों में व्यय किये जाने का वर्णन किया है। एक भाग सरकार तथा राष्ट्रीय कार्यों के लिये व्यय किया जाता था, दूसरा भाग सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के लिये खर्च होता था, तीसरा भाग शिक्षा-विभाग के लिये और चौथा भिन्न-भिन्न धार्मिक संप्रदायों को सहायता देने के लिये रहता था†।

खेती की उन्नति के लिये पर्याप्त प्रयत्न किया जाता था। सरकार की ओर से भूमि को नापा जाता था। कई शिलालेखों में मानदंड, निवर्तन, 'पदावर्त' आदि नापों का उल्लेख मिलता है। राज्य की तरफ़ से लंबाई का 'मापक' निश्चित था। पारमेश्वरीय हस्त भी परिमाण होता था। ग्रामों की सीमाएँ निश्चित की जाती थीं। ग्राम पर कर लगता था। ग्रामों के साथ गोचर-भूमि छोड़ी जाती थी। जागीर या इनाम में मिले हुए गाँवों पर कोई कर नहीं लगता था। राज्य की ओर से तोल के बाटों का भी निरीक्षण किया जाता था।‡

राज्य की ओर से सार्वजनिक हित के कार्यों की तरफ़ भी

---

* राधाकुमुद मुकर्जी; हर्ष, पृ० ११२-१३।

† वॉटर्स; ऑन् युवेनच्वांग्ज़ ट्रैवल्स, जि० १, पृ० १७६-७७।

‡ चिंतामणि-विनायक वैद्य, हिस्ट्री ऑफ़ मेडिएवल हिन्दू इंडिया, जि० १, पृ० १३३; जि० २, पृ० २४०।

बहुत ध्यान रहता था। नगरों में धर्मशालाएँ और कुँए बनाये जाते थे। राज्य की ओर से ग़रीब रोगियों के लिये औषधालय भी स्थापित किये जाते थे। सड़कों पर भी यात्रियों के आराम के लिये वृत्त, जलाशय आदि का प्रबंध किया जाता था। राज्य की ओर से शित्तणालयों को विशेष सहायता दी जाती थी।

सार्वजनिक कार्य

इस शासन-प्रबंध के अतिरिक्त भारत की सैनिक व्यवस्था भी कम उन्नत नहीं थीं। सैनिक विभाग शासन-प्रबंध से बिल्कुल पृथक् था। प्रांतीय शासकों का सेना पर कोई अधिकार नहीं था; उसके अधिकारी बिल्कुल स्वतंत्र रहते थे। प्रायः हर समय युद्ध आदि की संभावना के कारण सेनाएँ काफ़ी बड़ी रहती थीं। हर्ष की सेना में ६०००० हाथी और १००००० घोड़े थे। हुएन्त्संग ने हर्ष की सेना चार प्रकार की—हाथी, घोड़े, रथ और पदाति—बताई है*। घोड़े भिन्न-भिन्न देशों से मँगवाये जाते थे। बाण ने कांबोजज, वनायुज, सिंधुज, पारसीक आदि घोड़ों की जातियों के नाम दिये हैं। पीछे से शनैः-शनैः रथों का प्रचार कम होता गया।

सैनिक प्रबन्ध

इन चार प्रकार की सेनाओं के अतिरिक्त जल-सेना भी बहुत सुसंगठित और व्यवस्थित थी। जिन राज्यों की सीमा पर बड़े-बड़े दरिया होते थे वे नौ-सेना रखते थे। समुद्री तट के राज्यों को भी नौ-सेना रखने की आवश्यकता थी। हुएन्त्संग ने अपनी यात्रा के

* वॉटर्स; ऑन् युवनच्वांग्ज़ ट्रैवल्स, जि० १, पृ० १७०-७१।

प्रसंग में जहाज़ों का वर्णन किया है। मलाया, जावा, बाली आदि द्वीपों में हिन्दुओं के राज्य विद्यमान थे; इससे भी जलसेनाओं के सुव्यवस्थित होने का निश्चय होता है। चोल राजा बहुत शक्ति-शाली जलसेना रखते थे। राजराज ने चेर-राज्य का जंगी बेड़ा नष्ट कर लंका को अपने राज्य में मिला लिया था। राजेन्द्र चोल का जंगी बेड़ा निकोबार और अंडमन द्वीपों (आजकल का काला पानी) तक पहुँचा था। स्ट्रेबो ने भारतीय सेना में जलसेना के होने का उल्लेख किया है। जलसेना की विद्यमानता बहुत प्राचीन काल से थी। मैगास्थनीज़ ने चन्द्रगुप्त की सेना का वर्णन करते हुये जलसेना का वृत्तांत लिखा है। भिन्न-भिन्न सेनाओं के लिये भिन्न-भिन्न अफ़सर होते थे। सम्पूर्ण सेना के अधिकारी को महासेना-पति, महाबलाध्यक्ष या महाबलाधिकृत कहते थे। पैदल और घोड़ों की सेना के अध्यक्ष को भटाश्वसेनापति कहते थे। घोड़ों की सेना के अध्यक्ष को बृहदश्ववार कहते थे। युद्ध-विभाग का कोषाध्यक्ष रणभांडागाराधिकरण कहलाता था। काश्मीर के इतिहास से एक 'महासाधनिक' का पता लगता है, जो युद्ध के लिये आवश्यक सामग्री की व्यवस्था करता था*।

सेना के सिपाहियों को वेतन नक़द दिया जाता था, पर प्रबंध के अन्य कर्मचारियों को अनाज के रूप में दिया जाता था। स्थिर सेना (Standing army) के अतिरिक्त कठिन अवसरों

---

* चिन्तामणि-विनायक वैद्य; हिस्ट्री ऑफ़ मेडिएवल हिन्दू इंडिया, जि० १, पृ० १४२-५५।

पर अस्थायी सेना की भी व्यवस्था की जाती थी। कई राज्यों में दूसरे राज्यों के लोग भी भरती किये जाते थे*।

उपर्युक्त शासन-व्यवस्था और प्रबंध में हमारे निर्दिष्ट काल में बहुत परिवर्त्तन हुए। पिछले समय में भारतवर्ष की राजनीतिक स्थिति बहुत अधिक अच्छी नहीं रहा। छोटे-छोटे राज्य बनते जा रहे थे। हर्ष और पुलकेशी के बाद तो इन दोनों का राज्य कई भागों में विभक्त हो गया। सोलंकी, पाल, सेन प्रतिहार

राजनीतिक स्थिति तथा शासनपद्धति में परिवर्त्तन

यादव, गुहिल, राठोड़ आदि कई वंश अपनी-अपनी उन्नति में लगे हुए थे। संपूर्ण भारत के बहुत से राज्यों में विभक्त होने से उनकी शक्तियाँ बिखर गईं। भारत में एक-राष्ट्रीयता का भाव प्रबल रूप से नहीं था। इन राज्यों के पारस्परिक युद्धों से शान्ति नष्ट होती रही। इसका स्वाभाविक परिणाम देश की शासन-पद्धति तथा अन्य राजकीय संस्थाओं पर पड़ा। सब राजा शनैः-शनैः अधिक स्वतंत्र और उच्छृंखल होते गये। देश के शासन की ओर उनका अधिक ध्यान न रहा। प्रजा की आवाज़ की सुनवाई कम होने लगी। राजाओं को सेना की विशेष आवश्यकता होने पर उन्होंने प्रजा पर अधिक कर लगाये। राजा स्वयं ही मंत्रियों की नियुक्ति करता था। कोई जनसभा या क्रमागत मंत्रि-परिषद् नहीं थी। इस समय तक राज्य के पुराने अधिकारी ही चले आते थे। ग्यारहवीं और बारहवीं सदी के शिलालेखों में राजामात्य,

* राधाकुमुद मुकर्जी; हर्ष, पृ० ९७-९८।

पुरोहित, महाधर्माध्यक्ष, महासान्धिविग्रहिक, महासेनापति, महा-मुद्राधिकृत (राजमुद्रा का रक्षक), महाक्षपटलिक और महा-भोगिक आदि अधिकारियों के नाम मिलते हैं, जिनसे विदित होता है कि शासन-प्रबंध में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था। इन अधिकारियों में 'महा' शब्द के प्रयोग से यह स्पष्ट है कि इनके अधीन भी बहुतसे कर्मचारी रहते थे*। रानी और युवराज भी शासन में भाग लेते थे। कुछ राज्यों में छोटे-छोटे कर बढ़ा दिये गये। पिछले राजाओं के समय में कई कर लगने का उल्लेख मिलता है। भूमि और कृषि आदि की भी व्यवस्था पूर्ववत् थी। क्षेत्रपाल और प्रान्तपाल आदि कई अधिकारियों के नाम मिलते हैं। आय-व्यय विभाग भी पहले की तरह ही था। न्यायालयों की भी व्यवस्था अच्छी थी। राजा की अनुपस्थिति में प्राड्विवाक (न्यायाधीश) काम करता था। अलबेरूनी ने मुक़दमों के विषय में लिखा है—अभियोग उपस्थित करते हुए वादी अपनी पुष्टि में प्रमाण देता था। यदि कोई लिखित प्रमाण न हो तो कम-से-कम चार गवाह चाहिएँ। उन्हें जिरह की आज्ञा नहीं दी जाती थी। ब्राह्मणों और क्षत्रियों को हत्या के अपराध में प्राणदंड नहीं दिया जाता था। उनकी संपत्ति लूटकर उन्हें देश-निर्वासित कर दिया जाता था। चोरी के अपराध में ब्राह्मण को अंधा करके उसका बायाँ हाथ और दहिना पैर काट दिया जाता था। क्षत्रिय अन्धा नहीं

---

* चिन्तामणि-विनायक वैद्य, हिस्ट्री ऑफ़् मेडिएवल हिन्दू इण्डिया, जि० ३, पृ० ४५३-'५४।

किया जाता था*"। इससे जान पड़ता है कि उस समय तक क्रूर दंड देने की प्रथा विद्यमान थी।

सैनिक व्यवस्था में भी कुछ परिवर्तन हो रहा था। राजाओं के पास अपनी स्थिर सेना रखने का रिवाज कम हो रहा था, परन्तु सरदारों और जागीरदारों के पास सेनाएँ रखने और युद्ध के समय पर उनसे सेनाएँ लेने का प्रचार बढ़ रहा था। भिन्न-भिन्न राज्यों की सेवा में दूसरे राज्यों के वीर सिपाही भरती किये जाते थे। पिछले ताम्रपत्र आदि से भी मालूम होता है कि इस समय भी महासेनापति और हाथियों, घोड़ों, ऊँटों जलसेना के भिन्न-भिन्न अफ़सर, प्रेषणीक, गमागमिक आदि अधिकारी रहते थे†।

भारतवर्ष का मुख्य व्यवसाय कृषि था। उस समय प्रायः सभी प्रकार के अनाज और फल यहाँ होते थे। कृषकों की प्रत्येक प्रकार की सुविधा का पूरा ख़याल रक्खा जाता था। सिंचाई का बहुत अच्छा प्रबंध था। नहरों तालाबों और कुओं द्वारा सिंचाई की जाती थी। नहरों का प्रबंध प्रशंसनीय था। राजतरंगिणी में सूय नामक इंजीनियर का वर्णन आता है। काश्मीर में बाढ़ आने पर वहाँ के राजा अवंतिवर्मन् ने सूय से उसका प्रबंध करने

कृषि और सिंचाई का प्रबन्ध

* साचू; अलबेरूनीज़ इंडिया, जि० २, पृ० १५८-६३।

† चिन्तामणि-विनायक वैद्य; हिस्ट्री ऑफ़् मेडिएवल हिन्दू इंडिया, जि० ३, पृ० ४७०।

को कहा। उसने वितस्ता (झेलम) के तट पर बहुत पानी देखकर बड़े-बड़े बाँध बँधवाकर उससे नहरें निकलवाईं। इतना ही नहीं, उसने प्रत्येक ग्राम की भूमि का इस दृष्टि से वैज्ञानिक निरीक्षण किया कि उसके लिये कितने जल की आवश्यकता है। उसके अनुसार प्रत्येक ग्राम को यथोचित जल देने की व्यवस्था की गई। कल्हण ने लिखा है कि सूय ने नदियों को इस तरह नचाया, जैसे सँपेरा साँपों को नचाता है। उसकी इस व्यवस्था के परिणाम-स्वरूप खेती बहुत हुई और एक खारी (परिमाण विशेष) चावल का दाम २०० दीनारों से ३६ दीनार तक हो गया। तामिल प्रदेश में नदियों को मुहानों के पास रोककर पानी इकट्ठा करने की व्यवस्था की जाती थी। हमारे समय से पूर्व करिकाल चोल ने कावेरी नदी पर सौ मील का एक बाँध बनवाया था। राजेन्द्र (१०१८-३५ ई०) ने अपनी नई राजधानी के पास बड़ा भारी जलाशय बनवाया। बड़े-बड़े तालाब भी हमारे समय से बहुत पूर्व बनाये जाते थे। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय गिरनार के नीचे एक विशाल सरोवर बनवाया गया था, जिसमें से अशोक ने नहरें निकलवाईं। इनकी समय-समय पर मरम्मत होती रही*। बहुतसे राजा स्थान-स्थान पर अपने नाम से बड़े-बड़े विशाल तालाब बनवाते थे, जिनसे सिंचाई बहुत अच्छी तरह हो सकती थी। ऐसे तालाब बहुतसे स्थानों पर अब भी मिलते हैं। परमार राजा

* विनयकुमार सरकार; दि पोलिटिकल इंस्टिट्यूशन्स एंड थ्योरीज़ ऑफ़ दि हिन्दूज़, पृ० १०३-४।

भोज ने भोजपुर में एक बहुत बड़ा तालाब बनवाया था, जो संसार की कृत्रिम झीलों में सबसे बड़ा था। अजमेर में आनासागर, बीसला आदि तालाब भी पहले के राजाओं ने बनवाये थे। कुओं से भिन्न-भिन्न प्रकार से सिंचाई होती थी, जो आज भी प्रचलित है। इस प्रथा को भारतीय लंका में भी ले गये थे। पराक्रमबाहु (११५० ई०) ने लंका में १४७० तालाब और ५३४ नहरें बनवाईं और बहुतसे तालाब तथा नहरों की मरम्मत कराई। इससे मालूम होता है कि उस समय सिंचाई की तरफ़ कितना ध्यान दिया जाता था*।

कृषि के बाद व्यापार की मुख्यता थी। भारत के बड़े-बड़े शहर व्यापार के केन्द्र थे। भारत में केवल ग्राम ही नहीं थे, विशाल नगर भी बहुत प्राचीन काल से विद्यमान थे।

व्यापारिक नगर

पांड्य राजाओं की राजधानी मदुरा बहुत विस्तृत नगर था, अपने शानदार और गगनभेदी प्रासादों के कारण प्रसिद्ध था। मलाबार के तट पर वंजि (वंचि) व्यापारिक दृष्टि से बहुत महत्त्व का नगर था। कोरोमंडल तट पर पकर (कावेरीप्पुम्पट्टिनम्) बहुत उत्तम बंदरगाह था। सोलंकियों की राजधानी वातापी (बीजापुर ज़िले में) अंतरराष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्वशाली थी। बंगाल का बंदरगाह ताम्रलिप्ति (तमलुक) भी व्यापारिक दृष्टि से बहुत महत्त्व का और विशाल नगर था,

---

* विनयकुमार सरकार; दि पोलिटिकल इंस्टिट्यूशन एंड थ्योरीज़ ऑफ़ दि हिन्दूज़, पृ० १०३-४।

जहाँ से व्यापारी पूर्वीय चीन की तरफ़ जाते थे। कन्नौज तो विशाल एवं एक प्रसिद्ध नगर था। मालवा की उज्जयिनी नगरी भी कम विशाल नहीं थी। यह उत्तरी भारत और भड़ोंच के बंदरगाह के बीच में व्यापारिक दृष्टि से मध्यस्थ का काम करती थी। बंबई प्रान्त के भड़ोंच (भृगुकच्छ) बंदरगाह से फ़ारस, मिस्र आदि में भारत से माल जाता था। पाटलिपुत्र तो मौर्य काल से ही प्रसिद्ध था, जिसका विस्तृत वर्णन मेगास्थनीज़ ने किया है। उसके कथनानुसार इसके ५७० बुर्ज और ६४ दरवाजे थे और उसका क्षेत्रफल २१॥ मील था, जो अरेलियन के समय के रोम से दुगुने से भी कुछ अधिक था। इसी तरह और भी अनेक बड़े-बड़े शहर भारतीय व्यापार के केन्द्र थे*।

व्यापार जल और स्थल-मार्ग से होता था। बड़े-बड़े जहाज़ी बेड़े व्यापार के लिये बनाये गये थे। अरब, फ़िनीशिया, फ़ारस, मिस्र, ग्रीस, रोम, चंपा, जावा, सुमात्रा आदि के साथ भारत का व्यापार होता था। समुद्र-यात्रा का निषेध पीछे से हुआ। हर्ष ने हुएन्त्संग को समुद्र-मार्ग से चीन लौटने की सलाह दी थी। जावा की कथाओं से ५००० भारतीयों का कई जहाज़ों द्वारा जावा में जाने का वर्णन मिलता है। इत्सिंग लौटता हुआ समुद्र-मार्ग से ही चीन को गया था। भारतीय पोतकला में बहुत प्रवीण

व्यापार के जल-मार्ग

---

* विनयकुमार सरकार; दि पॉलिटिकल इन्स्टिट्यूशन्स एंड थ्योरीज़ ऑफ़ दि हिन्दूज़, पृ० ६९-६५।

थे और इसे वे बहुत प्राचीन काल से जानते थे। प्रोफ़ेसर मैक्स-डंकर के कथनानुसार ई० पूर्व २००० में भी भारतीय इस कला से अभिज्ञ थे*।

व्यापार के स्थल मार्ग

स्थलमार्ग से भी व्यापार बहुत बढ़ा हुआ था। भारतवर्ष में व्यापार के लिये बड़ी-बड़ी सड़कें बनाई जाती थीं। इन सड़कों का महत्त्व युद्ध की दृष्टि से भी बहुत था। एक विशाल सड़क कोरोमंडल तट (पूर्वी) से कुमारी अंतरीप तक १७०० मील लंबी थी, जिसे कुलोत्तुङ्ग चोड़देव (ई० स० १०७०-१११८) ने बनवाया था। सैनिक दृष्टि से भी इसका विशेष महत्त्व था। हमारे समय से बहुत पूर्व मौर्यकाल में पाटलिपुत्र से अफ़ग़ानिस्तान तक ११०० मील लंबी सड़क बन चुकी थी। साधारण सड़कें तो बहुत जगह बनी हुई थीं†। स्थलमार्ग से केवल स्वदेश में ही नहीं, विदेश में भी व्यापार होता था। राइज़ डेविड्ज़ ने लिखा है—"स्वदेश और विदेश में भारतीय व्यापार दोनों मार्गों से होता था। ५०० बैलगाड़ियों के कारवान का वर्णन मिलता है"‡। स्थलमार्ग से चीन, बैबिलन, अरब, फ़ारस आदि के साथ भारत का व्यापार

* दीवान बहादुर हरबिलास सारडा, हिन्दू सुपीरियोरिटी, पृ० ३६४।

† विनयकुमार सरकार; दि पोलिटिकल इंस्टिट्यूशन्स एंड थ्योरीज़ आफ़् दि हिन्दूज़, पृ० १०२-३।

‡ दि जर्नल ऑफ़् दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, १९०१ ई०।

होता था। एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में लिखा है कि यूरोप के साथ भारत का व्यापार निम्नलिखित मार्गों से होता था—

(१) भारत से पलमायरा नामक शहर द्वारा रोम होता हुआ सीरिया की तरफ़।

(२) हिमालय को पार कर ऑक्सस होते हुए कैस्पियन सागर और वहाँ से मध्य यूरोप*।

भारतवर्ष से अधिकतर रेशम, छींट, मलमल आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्र और मणि, मोती, हीरे, मसाले, मोरपंख, हाथीदाँत आदि अधिक मात्रा में विदेशों में जाते थे। मिस्र की आधुनिक खोज में वहाँ की ममियों की कुछ पुरानी कबरों से बारीक भारतीय मलमल भी मिली है। विदेशी व्यापार के कारण भारतवर्ष बहुत अधिक समृद्ध हो गया। प्लिनी ने लिखा है कि प्रतिवर्ष रोमन साम्राज्य से दस लाख पौंड (एक करोड़ रुपये) भारत में आते थे † और केवल रोम से चालीस लाख रुपये भारत में खिंचे चले जाते थे‡।

भारतीय व्यापार

देश के आंतरिक व्यापार में भिन्न-भिन्न तीर्थों का भी बहुत महत्त्व था। इनके मेलों में सब प्रकार के व्यापारी और ग्राहक आते थे और बड़ी भारी ख़रीद-फ़रोख़्त होती थी। आज भी हरिद्वार, काशी और पुष्कर आदि

मेले

* जिल्द ११, पृ० ४५९।

† नैचरल हिस्ट्री।

‡ एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, जि० ११, पृ० ४६०।

तीर्थों में होनेवाले मेले व्यापारिक दृष्टि से कम महत्त्व के नहीं हैं।

आजकल भारतवर्ष केवल कृषिप्रधान देश रह गया है, परंतु पहले यह बात न थी। भारतवर्ष में व्यवसाय और उद्योग-धंधे भी बहुत अच्छी अवस्था में थे। सबसे उत्तम व्यवसाय वस्त्रों का था। वस्त्र बहुत प्रकार के बनते थे। भारत में महीन से महीन मलमल, छींट, शाल, दुशाले आदि कपड़े बनते थे। कपड़े रँगने की भी कला यहाँ बहुत उन्नत थी। वनस्पतियों से भी तरह-तरह के रंग निकाले जाते थे। यह आविष्कार भी पहले पहल भारतीयों ने ही किया था। नील की खेती तो केवल रंग के लिये ही होती थी। वस्त्र-व्यवसाय तो १८वीं शताब्दी तक चलता रहा और ईस्ट इंडिया कम्पनी के समय में नष्ट हुआ।

व्यवसाय

लोहे और फ़ौलाद के व्यवसाय की भी आश्चर्यजनक उन्नति हुई थी। कच्चे लोहे को गलाकर फ़ौलाद बनाना उन्हें प्राचीन काल से ज्ञात था। खेती आदि के सब प्रकार के लोहे के औज़ारों और युद्ध के हथियारों का बनाना भारत में प्राचीन काल से चला आता था। लोहे का यह व्यवसाय इतना अधिक था कि भारत की आवश्यकताओं से बचकर फ़िनीशिया में जाया करता था। डाक्टर राय ने लिखा है—'दमिश्क के तेज़ धारवाले औज़ारों की बड़ी प्रशंसा की जाती है, परन्तु यह कला फ़ारस ने भारत से

धातुओं का व्यवसाय

सीखी थी और वहाँ से अरबवालों ने इसका ज्ञान प्राप्त किया*'।

भारत के लोह-व्यवसाय के उत्कर्ष को दिखलाने के लिये कुतुब-मीनार के पासवाला लोह-स्तम्भ ही पर्याप्त उदाहरण है। इतना विशाल स्तम्भ आज भी यूरोप और अमेरिका का कोई बड़े-से-बड़ा कारखाना गढ़कर नहीं बना सकता। आज उसे बने हुए अनुमान १५०० वर्ष होगये; खुली हवा तथा वर्षा में रहने पर भी उसपर जंग का नाम नहीं, और उसकी कारीगरी भी प्रशंसनीय है। धार का जय-स्तंभ भी दर्शनीय वस्तु है। यह मुसलमानों के समय में तोड़ा गया था। इसका एक खंड २२ फ़ुट और दूसरा १३ फ़ुट का है। इसका एक छोटा-सा तीसरा खंड भी माँडू से मिला है। राजा लोग जयस्तंभ बनवाया करते थे। लोहे के व्यवसाय पर लिखते हुए मिसेज़ मैनिंग ने लिखा है कि आज भी ग्लासगो और शैफ़ोल्ड में कच्छ से अधिक अच्छा फ़ौलाद नहीं बनता†। लोहे के अतिरिक्त अन्य धातुओं का काम भी बहुत अच्छा था। सोने-चाँदी के तरह-तरह के पात्र और जेवर बनते थे। पात्रों के लिये अधिकतर ताँबा प्रयुक्त होता था। भाँति-भाँति के रत्न काट-कर सोने में मढ़े जाते थे। कुछ सुवर्ण-पत्रों पर ऐसी बौद्ध जातकें अंकित हुई हैं, जिनमें कई पत्र आदि पन्ने, माणिक वगैरह रत्नों के बने हुए हैं और पच्चीकारी के ढंग से लगे हुए हैं। रत्नों तथा कीमती स्फटिकों की बनी हुई मूर्तियाँ भी देखने में आई और

* दी० ब० हरबिलास सारडा; हिन्दू सुपीरियोरिटी, पृ० ३०५।

† एंश्यंट एंड मेडिएवल इंडिया, जि० २, पृ० ३६५।

ऐसी एक स्फटिक-मूर्ति तो अनुमान एक फ़ुट ऊँची पाई गई है। पिपरावा के स्तूप में से स्फटिक का बना हुआ छोटे मुँहवाला वर्तुलाकार सुंदर बर्तन मिला है, जिसके ढक्कन पर स्फटिक की सुन्दर मछली बनी हुई है। सुवर्ण की बनी हुई कई मूर्तियाँ अब तक विद्यमान हैं। पीतल या सर्वधातु की तरह-तरह की विशाल मूर्तियाँ अब तक कई मन्दिरों में स्थापित हैं। इससे यह भी अनुमान होता है कि भारत में खानों से धातु निकालने तथा उन्हें साफ़ करने की विधि प्रचलित थी।

धातुओं के अतिरिक्त काच का भी काम बहुत उत्तम होता था। प्लिनी ने भारतीय काच को सबसे उत्तम बताया है। खिड़कियों तथा दरवाज़ों में भी काच लगते थे और दर्पण भी बनाये जाते थे। हाथीदाँत और शंख के भी चूड़ियाँ आदि उत्तम पदार्थ बनते थे, उनपर तरह-तरह की कारीगरी का काम होता था। इन कामों के औज़ार बहुत सूक्ष्म होते थे। स्टेवरिनस (Stravorinus) ने लिखा है कि भारतीय शिल्पी इतने छोटे और सूक्ष्म औज़ारों से काम करते हैं कि यूरोपियन उनकी सफ़ाई और चतुरता पर आश्चर्यान्वित हो जाते हैं*।

काच आदि का व्यवसाय

उद्योग-धन्धे के काम बड़े-बड़े पूँजीपतियों द्वारा नहीं होते थे। उस समय गणसंस्था (Guilds) का प्रचार था। एक पेशेवाले अपना सुव्यवस्थित समुदाय बनाते थे। गण के प्रत्येक सभ्य को

* यात्रा-विवरण, पृ० ४१२।

उसके सब नियम मानने पड़ते थे। गण पदार्थ की उत्पत्ति और विक्रय का प्रबंध करता था। गाँवों या ज़िलों की सभाओं में इनके भी प्रतिनिधि रहते थे, जो देश के व्यवसाय का ध्यान रखते थे। राज्य भी इनके संघ की सत्ता मानता था। केवल व्यवसायी ही गण या श्रेणी नहीं बनाते थे, किंतु कृषकों और व्यापारियों के भी गण बने हुए थे। गौतम, मनु और बृहस्पति (६५० ई०) की स्मृतियों में कृषकों के संघों का उल्लेख है। गड़रियों के संघों का परिचय शिलालेखों से मिलता है। राजेन्द्र चोल (११ वीं शताब्दी) के समय दक्षिण भारत के एक गाँव के गड़रियों के गण को ९० भेड़ें उस प्रयोजन से दी गई थीं कि वह एक मंदिर के दीपक के लिये रोज़ घी दिया करे। एक शिलालेख से पाया जाता है कि विक्रम चोल के समय ५०० व्यापारियों का एक गण था। यह गण-पद्धति बहुत पहले से प्रचलित थी। बौद्ध-साहित्य में बहुत बड़े गणों का वर्णन है। गुप्त-काल में व्यवसायियों के बहुत से गण विद्यमान थे। ४६५ ई० में तेलियों के एक गण को मंदिर का दिया जलाने का काम सौंपा गया था। इसी तरह कौलिक गांधिक, धान्यक आदि लोगों के गण विद्यमान थे। ये गण बैंक का भी काम करते थे। प्रायः भारतवर्ष का सम्पूर्ण व्यापार और व्यवसाय इन्हीं गणों के द्वारा होता था*।

गण-संस्था

---

* विनयकुमार सरकार; दि पोलिटिकल इन्स्टिट्यूशन्स एंड थ्योरीज़ ऑफ़ दि हिन्दूज़, पृ० ४०-५०।

यहाँ कुछ शब्द सिक्कों के विषय में भी कह देना अनुचित न होगा। पहले भारत में द्रव्य-विनिमय (Barter) द्वारा ही व्यापार होता था। दुकानदार भी द्रव्य-विनिमय करके ख़रीद-फ़रोख्त करते थे। राज्य की ओर से बहुतसे कर्मचारियों को वेतन भी अनाज-रूप में मिलता था। सरकार भी अनाज के रूप में भूमि-कर लेती थी। इस व्यवस्था के कारण भारत में सिक्के थोड़ी मात्रा में बनते थे। सिक्कों की अधिक आवश्यकता भी न थी। प्रत्येक राजा अपने-अपने नाम के सिक्के बनवाता था। सिक्के बहुधा सोने, चाँदी और ताँबे के बनते थे।

सिक्के

भारत में बहुत प्राचीन काल से सिक्के बनते थे, परंतु उनपर कोई लेख या राजा का नाम नहीं लिखा जाता था; उनका केवल तोल ही निश्चित रहता था। उनपर मनुष्य, पशु, पक्षी, सूर्य, चन्द्र, धनुष, बाण, स्तूप, बोधिद्रुम, स्वस्तिक, वज्र, नदी, पर्वत आदि के चित्र तथा अन्य प्रकार के अनेक चिह्न अंकित होते थे। यह निश्चित नहीं है कि ऐसे सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्के राज्य की ओर से बनते थे अथवा व्यापारी या गण बनाते थे।

सबसे प्राचीन लेखवाले सिक्के ईसवी सन् पूर्व की तीसरी शताब्दी के मिलते हैं, जो मालव जाति के हैं। इनके पीछे ग्रीक, शक, कुशन और क्षत्रपों के सिक्के मिलते हैं। ये सिक्के अधिक उत्तम और लेखवाले हैं। इनके सिक्के सोने, चाँदी और ताँबे के होते थे। फिर गुप्तकाल में राजाओं ने सिक्कों की तरफ़ विशेष ध्यान दिया। यही कारण है कि उनके बहुतसे सिक्के उपलब्ध

होते हैं। सोने के सिक्के गोल और लेखवाले मिलते हैं और उनमें से कई एक पर कविता-बद्ध लेख भी विद्यमान हैं। चाँदी के सिक्कों में गुप्तों ने भी असावधानी कर क्षत्रपों की नक़ल की। एक तरफ़ क्षत्रपों के जैसा सिर और दूसरी तरफ़ उनका लेख रहता था। गुप्तों के पीछे छठी शताब्दी में हूणों ने ईरान का खज़ाना लूटा और वे वहाँ के ससानियन राजाओं के चाँदी के सिक्के हिन्दुस्तान में ले आये। वे ही सिक्के राजपूताना, गुजरात, काठियावाड़, मालवा आदि प्रदेशों में चलने लग गये और पीछे से उन्हीं की भद्दी नक़लें यहाँ भी बनने लग गईं, जिनकी कारीगरी और आकार में न्यूनता आते-आते अंत में उनपर के राजा के चहरे की आकृति ऐसी बन गई कि लोग उसको गधे का खुर मानने लग गये, जिससे वे सिक्के गधिया नाम से प्रसिद्ध हुए। सातवीं शताब्दी के आसपास से हमारे राजाओं का ध्यान इधर आकृष्ट हुआ, जिससे राजा हर्ष, गुहिलवंशी, प्रतिहारवंशी, तँवरवंशी, गाहड़वालों, नागवंशी (नरवर के), राष्ट्रकूटों (दक्षिण के), सोलंकियों, यादवों, यौधेयों, चौहानों (अजमेर और साँभर के) तथा उदभांडपुर (ओहिंद) आदि के हिंदू राजाओं के नामवाले सोने, चाँदी या ताँबे के बहुत से सिक्के मिले हैं, परन्तु प्रत्येक राजा के नहीं। इससे सिक्कों के विषय में राजाओं की असावधानी और उपेक्षा प्रतीत होती है। इसी से सोने आदि में मिलावट करनेवालों को तो दंड देने का उल्लेख स्मृतियों में मिलता है, परन्तु राजा की आज्ञा के बिना सिक्का बनानेवालों को दंड देने का उल्लेख नहीं मिलता। कभी किसी

राजा की प्रिय रानी भी अपने नाम का सिक्का प्रचलित कर देती थी, जैसा अजमेर के चौहान राजा अजयदेव की रानी सोमलदेवी (सोमलेखा) के सिक्कों से पाया जाता है। प्रारंभ में मुसलमानों ने अजमेर का राज्य छीनकर वहाँ के प्रचलित हिन्दू सिक्कों की नक़ल की, परन्तु पीछे से उन्होंने अपने स्वतंत्र सिक्के बनाना शुरू किया।

भारतवर्ष कृषि, व्यापार, व्यवसाय, और अमूल्य खानों के कारण बहुत समृद्ध था। उस समय खाने-पीने की चिन्ता अधिक नहीं थी। नागरिक जीवन से भी मालूम होता है कि प्राचीन भारतीय संपन्न और समृद्ध थे। व्यापार में निर्यात के बहुत अधिक होने के कारण भारत की संपत्ति दिन-दिन बढ़ती जाती थी। भारतवर्ष में हीरे नीलम, मोती और पन्नों की भी कमी नहीं थी। प्रसिद्ध कोहनूर हीरा भी भारत में उस समय विद्यमान था। प्लिनी ने भारतवर्ष को हीरे, मोती आदि कीमती पत्थरों की जननी और मणियों का उत्पादक कहा है। वस्तुतः भारतवर्ष हीरे, लाल, मोती, मूँगे और भाँति-भाँति के अन्य रत्नों के लिये प्रसिद्ध था। सोना भी यहाँ बहुत मात्रा में था। लोहा, ताँबा और सीसा भी बहुतायत से निकलता था। अधिकांश चाँदी बाहर से आती थी, इसलिये महँगी रहती थी। आरम्भ में सोने का मूल्य चाँदी से अठगुना था, जो हमारे निर्दिष्ट काल के अंत में बढ़ता हुआ सोलह गुना तक पहुँच गया।

भारत की आर्थिक स्थिति

यह समृद्धि हमारे समय के अन्तिम काल तक विद्यमान थी।

चहचहाता चिड़ियाघर

स्वप्न के सुखमय संसार में, विश्व के विचित्र अद्भुतालय की वाणिज्य-विलास, शिल्प-शाला, धर्म-धाम, समाज-सदन, राजनीति-निकेतन, अकिञ्चन-कुटीर, मजदूर-मंजिल आदि संस्थाएँ देखते-देखते जब जी ऊब उठा, तो अपने राम सीधे साहित्योद्यान की ओर सिधारे, और सोचने लगे कि चलो, इस शुष्कवाद के जलहीन जलाशय से निकलकर सरसता के सुन्दर सरोवर में स्नान करें; झक्कड़ता के झाड़-खण्डों को झाड़कर सहृदयता के सुखद सुमनों का सुगन्ध सूँघें। अहा ! साहित्योद्यान का सुहावना द्वार देखने ही योग्य था। उसकी सुन्दर सुषमा का विशद वर्णन करने के लिए कवि-कुल-कैरव कलाधर कालिदास की वरद वाणी चाहिये। क्या पूछते हो ? साहित्योद्यान का दिव्य द्वार देखकर अपने राम चित्र-लिखे-से रह गये ! आँखें ठगी-सी ठिठक रहीं !! चित्त चुपके-से चिपक गया !!! पैरों ने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। इतने ही में उद्यान का अधिकारी आकर बोला—

"देखना है, तो आगे बढ़ो, नहीं तो दरवाज़ा बन्द होता है।"

मैंने कहा—"फ़ीस ?"

"फ़ीस-वीस कुछ नहीं, केवल सहृदयता का 'सार्टीफ़िकेट' साथ रखिये। अच्छा, यह तो बताइये, पहले आप इस विशाल बाग़ के किस भाग की सैर करेंगे?"

"मैंने यह बाग़ पहले कभी नहीं देखा, इसलिये समझ में नहीं आता कि आपके इस सवाल का क्या जवाब दूँ।"

"अच्छा, बढ़िये आगे, और जो इच्छा हो सो देखिये।"

यह कहकर उस आदरणीय अधिकारी ने मुझे प्रधान द्वार द्वारा अन्दर पहुँचा दिया। अजीब नज़ारा था, अद्भुत दृश्य दिखाई देता था; गुल्म-लता, तरु-वल्लियों की असीम शोभा का ठिकाना न था। सुहावने वृक्षों और सुन्दर सुमनों की अपूर्व छटा मन को मुग्ध कर रही थी। कोयलों की कूकू और कबूतरों की गुटरगूँ ने 'समाँ' बाँध रक्खा था। जगह-जगह जलाशय भरे हुए थे, झरने झर रहे थे, नाले बह रहे थे और सोते हिलोरें मार रहे थे। जिधर निगाह उठती थी, उधर ही 'आनन्द का आधिपत्य दिखाई देता था।

उद्यान के अन्दर घुसते ही सामने एक चहचहाता 'चिड़ियाघर' दिखाई दिया। मेरे हर्ष का ठिकाना न रहा! खुशी का खज़ाना मिल गया!! आनन्द की गंगा उमड़ पड़ी!!! अन्धे को आँखें प्राप्त हो गईं। चलो, पहले इस चहचहाते चिड़ियाघर की ही सैर करें, इसी की वर विचित्रता से अपने अतृप्त नयनों को तृप्त करें। 'पाटिया' (साइन-बोर्ड) पर नागरी लिपि में कितने सुन्दर अक्षर लिखे हुए हैं, कैसा कौशल दिखाया गया है। साथी ने कहा—"अच्छा, आगे बढ़िये। देखिये, इस कमरे में हिन्दी का इतिहास सुरक्षित

है; उसमें पुरानी लिपियों और शिलालेखों का संग्रह किया गया है"।
"ठीक, परन्तु इन सब बातों को सोचने-समझने के लिये न अपने राम के पास ओझाजी का हृदय है और न उनका मस्तिष्क! चलो, और आगे बढ़ो।"

"अच्छा! यह दूसरा कमरा है। इसमें चन्द बरदाई से लेकर भारतेन्दु तक के समस्त साहित्य-सेवियों की स्वर्गीय आत्माएँ अपनी-अपनी कृतियों पर अटल आसन जमाये विराजमान हैं"।
"और आगे बढ़ो भाई, ये तो फ़ुरसत में देखने की चीज़ें हैं। एक-एक का अवलोकन करने के लिए महीनों और वर्षों चाहियें।"

अच्छा, यह कमरा क्या है? ओहो!—इसमें सम्पादकों के पिंजड़े रक्खे हैं। वाह! ये बहार तो देखने ही लायक़ है। किसी की दुम से दावात बँधी हुई है और कोई कान पर क़लम रक्खे कूद रहा है। किसी के पैरों में पिनों की पैंजनियाँ पड़ी हैं, तो कोई पैंसिल को पंजों में दबाए डोलता है; किसी की क़ैंची क़यामत ढा रही है, तो कोई पोथियों का पुलन्दा चोंच में दबाए घूमता-फिरता है। कोई पंछी पिंजड़े में पड़ा ग़रूर से गुर्रा रहा है और कोई बेचारा हाथ जोड़कर 'हा-हा' खा रहा है। क्या ही विचित्र दृश्य है! कैसा अजीब तमाशा है!!—अच्छा, इन पिञ्जर-बद्ध पक्षियों के कमरे के आगे क्या है? संवाददाताओं का सन्दूक़, लेखकों का पिटारा, ग्रन्थकारों की गठरी, समालोचकों की टोकरी और व्याख्याताओं का बंडल। अच्छा, इस गद्य-गली को छोड़िये, पीछे वापसी में देखेंगे, पहले पद्य-प्रासाद की ओर चलें—उसकी रंगत देखें।

आहा ! यह है पद्य-प्रासाद ! इसमें तो भाँति-भाँति के कवि-कारण्डव और काव्य-कपोत किलोल कर रहे हैं। दूर-दूर के पद्य-प्रिय पक्षी प्रस्तुत हैं। यहाँ पखेरुओं के पंख-प्रदर्शन से खूब आनन्द आता होगा, बड़ी रौनक़ रहती होगी। अजी जनाब ! रौनक़ की क्या पूछते हो, 'बहिश्त'-सी दिखाई देती है। फिर आज तो इन कवियों का बहुत बड़ा सम्मेलन होनेवाला है, खूब 'चोंच-भिड़न्त' होगी ! ज़रा देखना तो सही, कैसा मज़ा आता है। हाँ, हज़रत ! हमारे लिए तो यह बिलकुल ही एक नई बात होगी। अभी साढ़े तीन बजने में पन्द्रह मिनिट बाक़ी हैं। अच्छी बात है, आइये—इस घास पर बैठ जायँ और तीन-चार घंटे इस काव्य-कौतुक का आनन्द लूटें।

ठीक साढ़े तीन बजे कवि-सम्मेलन शुरू हुआ। सभापति का आसन गद्यपद्याचार्य गुरुवर गरुड़देव ने ग्रहण किया। आपने अपने भावपूर्ण भाषण के अन्त में कहा—"महाशयो, सौभाग्य से इस पद्य-प्रासाद में विविध प्रकार की बोलियाँ बोलनेवाले कृतविद्य कविवर उपस्थित हैं। सबको समान रूप से चहकने-चटखने और चहचहाने का मौक़ा दिया जायगा। बढ़िया बोलने-वालों को, सोने-चाँदी की पैंजनियाँ पहनाई जायँगी और कण्ठ में कलाबत्तून के कण्ठे डाले जायँगे। देखना, गम्भीरता और सभ्यता हाथ से न जाने पावे।"

इतने ही में कतिपय 'साहित्य-ठूँठों' ने अपनी विद्वत्ता का बखान करते हुए सभापति के सारगर्भित भाषण पर बड़बड़ाहट

शुरू की ! कर्ण-कटु काँव-काँव मचाई !—अपनी प्रतिभा की प्रचण्डाग्नि से काव्य-कलिका को झुलसाना चाहा। गुरु गरुड़जी के गौरव-गुलाल पर गन्दगी के गट्ठर गिराने की चेष्टा की। गुबरीला पद्म पर प्रभुता पाने का प्रयास करने लगा, और स्यार सिंह पर दुलत्ती झाड़ने को समुत्सुक हुआ ! परन्तु सब निष्फल ! सब व्यर्थ !! उपस्थित कवि-वृन्द से सारे 'साहित्य-ठूँठों' का ठाठ बिगाड़ दिया; बोलती बन्द कर दी, जिससे फिर उन्हें अनर्गल आलाप करने का हौसला ही न हुआ।

हाँ, तो सबसे पहले सभापतिजी के आदेशानुसार प्रार्थनापन्थी कवि कंकजी ने अपनी कविता सुनानी शुरू की। आपके खड़े होते ही पंखों की फड़ाफड़ और तुण्डों की तड़ातड़ से गगन-मण्डल गूँज उठा। आपने आँखें मींच और गला भींचकर नीचे लिखे पद्यों का पाठ प्रारम्भ किया—

अखिलेश, सर्वेश, प्रजेश, पालकम्,
विश्वेश, कुल्लेश, कलेश-घालकम्।
मोटर, घड़ी, इञ्जन आदि चालकम्,
विपत्ति, संकट्ट, विकट्ट टालकम्॥

× × × ×

रघुराज व्रजराज गणेश गौरी।
श्री..............................

यहाँ सभापति श्रीगरुड़देवजी ने कवि को रोककर कहा—

"महाशय आप ! अपनी कविताएँ सुनाते हैं या 'विष्णु-सहस्रनाम' का पाठ करते हैं ? काव्य-कानन में किलोल करने आये हैं या साम्प्रदायिकता की सड़क पर सपाटे भरने चले हैं ?" इसपर कवि कंकजी असप्रन्न हो गये और क्रुद्ध होकर कहने लगे—"जब तक मेरी 'प्रार्थना-पञ्चशती' समाप्त न हो जायगी, तब तक आगे न बढ़ूँगा ।" अस्तु, सभापतिजी के आदेशानुसार आपको बैठ जाना पड़ा ।

कवि कंकजी के प्रस्थान करते ही रसराज-रसिक केकी कविजी की कुलबुलाहट प्रारम्भ हुई । आपकी अदा निराली थी । कभी नाक पर हाथ रखते थे, कभी कर से कमर टटोलते थे । कभी लचकते थे, कभी मचकते थे । कभी फुदकते थे, कभी कुदकते थे । कभी भृकुटी के भाले चलाते थे, कभी कटाक्ष का कारतूस छोड़ते थे । आपने अपने रंग में अद्भुत आलाप करते हुए कहा—

कामिनी कबूतरी के कलित कलेवर को,
देख-देख पंछियों के पंख झड़ जाते हैं ।
श्वेत बक-वृन्द की तो बात ही न पूछो कुछ,
काले-काले कौए भी पिछाड़ी पड़ जाते हैं ॥
उद्धत उलूक खोजते हैं रात-भर उसे,
गिद्ध 'धृष्टनायक' की भाँति अड़ जाते हैं ।
आँख-नाक-चोंच-पंख-पग-प्रतियोगिता में—
कवियों के सारे उपमान सड़ जाते हैं ॥

केकी कवि की इस शृङ्गारमयी कविता से सारे कवि-समाज में हलचल मच गई, चारों ओर से 'अश्लील'! 'अश्लील'!! की आवाजें आने लगीं। सैकड़ों कबूतरियाँ कवियों को कोसती हुई उड़न्छ हो गई! शोक! महाशोक!! "देवियों का ऐसा निरादर! इतना अपमान!! बन्द करो इस कुत्सित कवि-सम्मेलन को, रोको ऐसी गन्दी गढ़न्त को, मत बकने दो इस प्रकार की बेजोड़ बातें"— यही चर्चा सब ओर से सुनाई पड़ रही थी।

बड़ी कठिनाई से प्रेसिडेंट मिस्टर गरुड़देव ने शान्ति स्थापित की, और बड़े बलपूर्वक कहा—"आगे से ऐसी बेहूदी और अश्लील कविताएँ कोई न सुनावे। हाल ही में इस प्रकार, के असद्व्यवहार से श्रीमती कपोत-कान्ताओं को मर्मान्तक वेदना पहुँची है, जिससे हमें भी बड़ा दुःख है, और होना ही चाहिए। आशा है, आगे ऐसा स्वेच्छाचार न होगा।"

इसके पश्चात् धर्मध्वजी कवि बगुलाभक्तजी उठे। आपके शब्द-शब्द में साम्प्रदायिका की सनक और कट्टरता की कड़क दिखाई देती थी। सबसे प्रथम आपने डबडबाती हुई आँखों और गिड़-गिड़ाती हुई वाणी से धर्मप्राण श्रोताओं से अपील करते हुए नीचे लिखी कविता पढ़ी—

छूत-छात छोड़ना न भूल करके भी भाई,
पतितों, अछूतों को न उठने-उठाने दो।
विधवा-विवाह करना है घोर पाप इसे,
कर्मवीर! कभी कल्पना में भी न आने दो॥

बिछुड़े हुओं को अपनाना नीचता है निरी,
ऐसी अवनति का न हुल्लड़ मचाने दो।
धर्म को बिसारकर जाति को जिलाओ मत,
कल्ल मरतो हो उसे आज मर जाने दो॥

वृद्ध वशिष्ठ बगुलाभक्तजी की कविता से सारे सभा-मण्डप में हर्ष-विषाद का तुमुल-युद्ध छिड़ गया। सुधारक-दल का कोप-कोदण्ड तन गया, किन्तु कट्टर-पन्थियों ने खुशी के नगाड़ें पीटने शुरू किये। सुधार और बिगाड़ के बीच खूब 'कुड़ुमधूं' हुई। चोंचों की चेंचें और पंखों की फड़फड़ाहट ने विश्रान्त वायु-मण्डल विलोडित कर दिया। गरुड़देव फिर उठे और अपने भाषण के आकर्षण से, येन केन प्रकारेण, बड़ी कठिनतापूर्वक शान्ति स्थापित करने में समर्थ हुए।

थोड़ी देर बाद सुधारक-दल के कवियों ने फिर राम-रौला मचाया और सभापतिजी से बड़े आग्रहपूर्वक कहा—"अब की बार सुधारों के आधार और उन्नति के अवतार प्रसिद्ध समाज-संशोधक कविवर काकिकिशोरजी को कविता पढ़ने का अवसर दिया जाय।" 'अवश्य दिया जाय', 'जरूर दिया जाय', 'फ़ौरन दिया जाय', 'जी खोलकर दिया जाय', 'क्यों न दिया जाय?' की आवेशपूर्ण ऊँची आवाज़ों ने गरुड़गोविन्दजी को मजबूर कर दिया, और उनकी आज्ञा से कविवर काकिकिशोरजी ने कविता सुनानी शुरू की—

छूत-छात का भूत भगाकर, सबके सँग खा लेंगे हम।
उन्नति की घुड़दौड़ मची है, पीछे नहीं रहेंगे हम॥
विधवाओं के व्याह करेंगे, बिछुड़ों को अपनावेंगे।
जात-पाँत का तन्तु तोड़कर, एक भाव दरसावेंगे॥

"बैठ जाइये ! बैठ जाइये !! विश्व-विनाशक विषैले वायु से इस विशुद्ध वातावरण को विषाक्त न बनाइये, बैठ जाइये ! इन तरक़्क़ी के तरानों को सुनकर कानों के परदे फटे जाते हैं; हिम्मतदारों के हौसले घटे जाते हैं; धर्मप्राणों के पर कटे जाते हैं; बैठ जाइये !!" निदान कट्टर कवियों की 'काँव-काँव' ने काक कवि का कचूमर निकाल दिया ! कविता की कमर तोड़ दी !! फ़साहत की हँड़िया फोड़ दी !!! विरोध का बेडौल बवंडर देखकर बेचारे काक कवि अपना-सा मुँह लेकर अवाक् बैठ गये।

सभापति श्रीगरुड़देवजी बोले—महाशयो, मैं पहले ही कह चुका हूँ कि आप लोग कमनीय काव्य-कानन को छोड़कर सम्प्रदायवाद के बीहड़ वन में न भटकिये, साहित्य-संलाप त्यागकर मत-पन्थों में न अटकिये। इससे सभा में अत्यन्त असन्तोष और असीम असद्भाव उत्पन्न होता है। समाज-सुधार का स्थान यह नहीं है; उसके लिए आपको संशोधक संस्थाओं से सहायता प्राप्त करनी होगी। आशा है, आगे जो कविजन अपनी कविताएँ सुनावेंगे, उनमें ऐसी वाहियात बातें न आने पावेंगी।

तदनन्तर सभापतिजी के आदेशानुसार साँग-सनेही कविवर

कुलंगजी खड़े हुए। आपने कड़ाके की आवाज में झड़ाके से अपना अद्भुत आलाप आरम्भ किया—

बड़ों की बात बड़ी है, घड़े में पड़ी घड़ी है।
है ऊदल कहा बिचारो, भयो जो आगे ठारो॥
न देखो रूप हमारो—
और मार देहु, मर जाहि ताहि; डर जाहि न हिम्मत हारो—
धिनाधिन् ताक् थेई था।

कुलंग कवि की करारी कविता सुनते ही सभा में सन्नाटा छा गया! उपहार में पैंजनियों के पुलन्दे पड़ने लगे, 'वाह-वाह' की धूम मच गई! 'वन्स मोर' का शोर होने लगा। एक-एक पंक्ति अनेक बार सुनी जाने लगी। सभापतिजी सोचने लगे, कहीं इस घोर वीर-रस की कविता से उत्तेजित होकर कोमल-काय कवि-कुमार आपस ही में सिर-फुटौअल न कर डालें। अतएव आपने कुलंग कवि को अधवर में ही बैठा दिया, जिससे सहृदय काव्य-मर्मज्ञ उनकी क्रान्तिकारिणी कलित कविता सुनने के लिए मुँह बाये रह गये।

इसके बाद 'पर-उपदेश-कुशल' कवि कारण्डवजी अपनी कविता-कौमुदी की अपूर्व छटा छिटकाने के लिए खड़े हुए। आप बहुत देर से व्याकुल बैल की तरह रस्से तुड़ा रहे थे। आज्ञा किसी अन्य कवि को दी जाती थी, उठ आप खड़े होते थे। खैर, अबकी बार राम-राम करके आपका अवसर आ ही गया। कारण्डवजी

ने करताल कर में लेकर मूँछें मरोड़ते, आँखें सिकोड़ते और तान तोड़ते हुए, साफ़े को सम्हालकर, ऊँची आवाज़ से, नीचे लिखी कविता कथकर सुनाई—

धरम के कारणों जी, भाइयो ! तन-मन-धन सब दे दो ।
रच्छा करो धरम की धुन ते, धरम बड़ो है भाई ।
धरम के कारन धरमदत्त ने देखो जान गँवाई ॥
धरम के कारणों जी.............................
धरम-धरम की धूम मचाओ, धरम-धुजा फहराओ ।
धरम ओढ़ लो, धरम बिछा लो, धरमी सब बन जाओ ॥
धरम के कारणों जी, धरम के कारणों जी—
धरम के कारणों जी; भाइयो ! तन-मन-धन सब दे दो ।

कवि कारण्डव अभी अपनी भूरि-भाव-भरित कविता की दो-तीन कड़ियाँ ही पढ़ने पाये थे कि लोग सर से साफ़ा बाँध, मोटा सोटा ले, गले में गुलूबन्द लपेटकर, धर्म पर बलिदान होने को आ खड़े हुए। 'जीवन-दान', 'जीवन-दान' की आवाज़ें आने लगीं, धन्य-धन्य की धूम मच गई। सभापतिजी ने भी कारण्डवजी की चोंच चूमकर स्पष्ट शब्दों में कहा—"भाई, बस, इस आधुनिक युग में आप ही एक कामयाब कवि हैं। विराजिये, इस समय शीघ्रता है। आपकी 'पद्य-पढ़न्त' के लिए तो पूरे पाँच घंटे दिये जायँ, तब कहीं श्रोतृ-समुदाय की संतृप्ति हो। ओहो ! आपकी कविता क्या है, 'फ़ायरब्रिगेड' का इञ्जन या तूफ़ान ट्रेन का भोंपू है।

धर्म, जिसपर जगत् स्थिर है, उसके आप जैसे परम प्रवीण प्रचारक धन्य हैं।"

इतने कवियों की कविताएँ सुनी जाने के बाद 'टकापंथ-प्रवर्तक' कविवर कुक्कुटराज काव्य-कानन में कूदे। आपके 'कुकड़ूँकूँ' करते ही जनता ने हर्ष-ध्वनि की, और उत्सुकता के साथ वह उनकी ओर देखने लगी। कुक्कुट कविजी 'बहर-ए-तवील' में बलन्द बाँग देते हुए बोले—

वोट दे दो रे! भाई, भिखारीमल को।
लोगों की बातों में हरगिज़ न आओ,
खद्दर न पहनो, न जेलों में जाओ;
है चुंगी-चुनाव चलो कल को,
वोट दे दो रे! भाई, भिखारीमल को।
बढ़-बढ़के लाला ने दावत खिलाई,
कोठी, हवेली, दुकानें बनाईं।
सीधे हैं, जानें न छल-बल को,
वोट दे दो रे! भाई, भिखारीमल को।

अहा! कुक्कुट कवि की इस परोपकार-वृत्ति पर सब कवियों ने साधुवाद की सिल सरकानी शुरू की, 'महरबा' की मटकिया फोड़ दी और 'वाह-वाह' की बाँह तोड़ दी। धन्य हैं, ऐसे अशरण-शरण कविराज! देखिये न, सेठजी के लिये आपके दराज़ दिल दालान में कैसे-कैसे प्रेम के पीपे भरे पड़े हैं। वाह! वाह!! खूब!!!

इसके अनन्तर सभापतिजी ने कविरत्न क्रौञ्चजी से कविता सुनाने को कहा। परन्तु वह बोले—"जब तक मेरे लिये आनन्द-पूर्वक आसीन होने को विशुद्ध व्यास-गद्दी न दी जायगी, तब तक मैं अपनी कथा कदापि नहीं सुना सकता। हाँ, हारमोनियम और तबले की भी व्यवस्था करनी होगी।" सभापतिजी ने बात की बात में सब समुचित प्रबन्ध कर दिया। तब कविजी ने ऊँची आवाज़ से नीचे लिखी कविता गाकर सुनाई—

तब बोले साधु सुबुध, सुनो सभी धर ध्यान।
कथा आज की का विषय, है अध्यातम ज्ञान ॥
संसार दुखों का सागर है, आओ, मिल-जुल सब स्वर्ग चलें।
सानन्द रहें, नन्दन-वन में, लखि-लखि हमको सब हाथ मलें ॥
हम धर्म-ध्वजा की धज्जी हैं, उपकार-'कार' के 'टायर' हैं।
कविता-कुर्सी के पाए हैं, सारंगी के सब 'वायर' हैं ॥
सब उठो, बाँध लो बस बिस्तर, उस अमरपुरी के जाने को।
तुलसी, केशव और सूर जहाँ, आवेंगे हाथ मिलाने को ॥

क्रौञ्च कवि की कविता सुनकर लोग मारे क्रोध के काँपने लगे। "आया कहीं का कठमुल्ला! हमें स्वर्ग ले जाना चाहता है। अरे, पहले इस दुनिया का आया-गया तो देख लें, यहाँ तो विजय का बैण्ड बजा दें, तब कहीं स्वर्ग-नरक का नम्बर आवेगा। धिक्कार! धिक्कार!! ऐसी क़ातिल कविताओं की ज़रूरत नहीं है। सभा-पतिजी, बन्द कीजिये। इस वैराग्य के विषैले विषधर को बिल में

ही बिलबिलाने दीजिये। उपरामता के उजबक उल्लू को प्रतिभा के प्रकाश में न आने दीजिये।"

बूढ़े सभापतिजी को क्रौंच कवि की कथा में बड़ा आनन्द आया। आपने बार-बार चोंच चलाई और गरदन हिलाई। परन्तु जनता के वैराग्य-विरोधी होने के कारण क्रौंचजी की मुख-मढ़ी पर मजबूरन १४४ लीवर का ताला ठोंक देना पड़ा।

इस समय सभापतिजी ने कहा—"महाशयो, वक्त अधिक हो गया है, इसलिए कविवर कोकिलकुमार और कुल्लूक कविराज इन दो व्यक्तियों को अपनी-अपनी कविताएँ सुनाने का और अवसर दिया जायगा। बस, फिर पदक-पुरस्कार की सूचना देकर सम्मेलन समाप्त हो जायगा। अब 'प्रतिविम्ब-पंथी' काव्य-कानन-केसरी कवि कोकिलकुमारजी अपनी कविता सुनावें और अपने काव्य-कल्पतरु की छबीली छाया से सारे सभ्य-समाज को सुख पहुँचावें।" कोकिलकुमारजी ने अपनी निगूढ़तम रुचिर रचना को सुनाते-सुनाते, सब लोगों को अज्ञेयवाद-वारिधि में डुबकी लगाने का आनन्द प्राप्त कराया। कोकिलकुमारजी ने अप-टु-डेट फ़ैशन की फबीली फ़साहत के फन्दे में फँसकर नीचे लिखी अलौकिक कविता पढ़ी—

विरद वाद्य मृदु मन्द अचलता के दृगता अञ्चल में—
सुस्मित मत विस्मृत बाला के स्पतुनय अन्तस्तल में—

अभिधा की अनन्त आभा में सविधा के साधन में—
विभावरी, आभरी, अनिलभा के उद्दोत आनन में—

× × ×

सुरति सदय सन्दर्भ सुसंयत नय नवधा नागर में—
विश्व विमोहन विपुल व्यथा के प्रभुता पांशु पगर में—
वरद् विभा के वक्षस्थल में मृग मरीचिका पट पर—
तरुणी के घटना घूँघट पर तरंगिणी के तट पर—

× × ×

सौख्य सुधामय मनस्विता के मानहीन मानस में—
भौतिक तारतम्य सत्ता के पुण्य प्रेम पारस में—
प्रवर्तिता प्राञ्जलि नलिनी के नव नीरव गायन में—
सभ्य, सुरम्य, गम्य कानन में प्रतिभापूर्ण पवन में—

कवि कोकिलकुमार की दार्शनिकता देखकर सारे सभासद् दंग रह गये, सब लोग अपनी अड़ियल अक्ल को धिक्कारते हुए उनकी पुण्य-पंक्तियों की प्रशंसा करने लगे। 'धन्यवाद' के धुँगार और 'वाह-वाह' के बघार से सारा समाज सौरभित हो उठा!

सभापति श्रीगरुड़देवजी तो इस कविता के परम दार्शनिक तत्त्व को समझने के लिए समाधि लगा गये, परन्तु तो भी यह नितान्त निगूढ़ 'रहस्य' उनके महा मस्तिष्क में न आया। यहाँ तक की उनकी प्रदीप्त प्रतिभा पर उसके आध्यात्मिक अर्थ की 'छाया' भी न पड़ी। अन्त में आप निराशावाद के वायु में बहकर

आगे बढ़े और 'खैर' कहकर श्री कुल्लूक कवि से पद्य-पाठ के लिए प्रार्थना की।

कुल्लूक कविजी अपनी क़लम-कटारी और स्वच्छन्दता की आरी लेकर कविता-कामिनी के कलित कलेवर की ओर झपटे। वह बिचारी बलात्कार से बचने के लिये त्राहि! त्राहि!! करने और बिना आई मरने लगी। करुणा का सागर उमड़ उठा और दयालुओं का दिल घुमड़ उठा। अस्तु, सबसे प्रथम कविवर कुल्लूकजी ने जनता को नीचे लिखा स्वच्छन्द छन्द सुनाकर दोनों हाथों से 'वाह-वाह' बटोरनी शुरू की; आप अपनी अद्भुत शान में बोले—

खट्वा!

ओहो! चतुष्पदी, निष्पदी तथा—
निर्भ्रान्त, अलक्षिता;—एवम् सापेक्ष सत्ता, सुरम्या—
महत्त्वमय—'मत्कुण'-सेविता—
'तक्षा' एवम्—
रथकार..................शयनाधिकार संयुक्ता
सम्पृक्ता—सुकीर्तिता!
सुधीन्द्र, 'रज्जु'—'रसरी'!
रता—नता; एवम् 'अवनता'!!!

कुल्लूक कवि की बदन-बाँबी से क्रान्तिकारिणी कविता-काकोदरी के निकलते ही सारे कवि-समाज में आनन्द की

आँधी आगई ! प्रसन्नता का पुल टूट पड़ा ! साधुवादों का पज़ावा लग गया ! "वाह ! कुल्लूकजी, क्या कहने हैं ! आपने तो छंद-छैला की छाती में छुरी भोंक दी, पिंगल के पिटारे पर पत्थर पटक दिये, अलंकार अलबेले की अँतड़ियाँ निकाल लीं, रस में राख मिला दी और भावों को भट्टी में भून दिया ।"

बड़ा ऊधम मचा, पार्टीबन्दी के पटाख़े और गुट्टबाज़ी के गोले छूटने लगे। वाग्बाणों की वर्षा तथा विरोध के बवंडर ने नाक में दम कर दिया !

सभापति श्रीगरुड़देवजी इस काव्य-विप्लव को देखकर दङ्ग रह गये। "कुल्लूक कवि की कविता हुई या विद्रोह की बारूद जल उठी ! इसे कवि-सम्मेलन कहें या 'अनारकी' का अड्डा ? सहृदयता है या संगदिली ? शान्त ! शान्त !! मित्रो, शान्त ! सज्जनो, शान्त !—देखो, कवि-सम्मेलन में कविता-कामिनी पर अत्याचार न करो, इस अनघा अबला को अपने आवेश-पूर्ण कोप-कुल्हाड़े का दुर्लक्ष्य न बनाओ। ठहरो, सुनो। मैं अपना अन्तिम भाषण स्थगित कर पदक-पुरस्कार की घोषणा करता हूँ—

"कविराज कङ्कदेव, कविरत्न क्रौञ्च तथा कविवर कारण्डवजी, इन तीन सज्जनों की कविता सर्वोत्तम रही; इन्हें रत्नजटित हारों की लड़ियाँ तथा स्वर्णमय पैंजनियाँ प्रदान की जावेंगी। अब सब को धन्यवाद देकर सभा विसर्जित होती है।"

सभापतिजी की उपहार-घोषणा सुनते ही चारों ओर से "और हम ?", "और हम ?" का तूफ़ान उठ खड़ा हुआ। इतने कवियों में से केवल तीन! ऐसा अत्याचार! इतना अन्धेर!! यह जुल्म !!! पकड़ लो पक्षपाती प्रेसिडेंट को, मारो मनहूस को, फोड़ दो खोपड़ी, तोड़ दो तोमड़ी! आया कहीं का साहित्य-सिरकटा! देखो, भागा, भागा, दुम दबाकर भागा, मुँह छिपाकर निकला,—पकड़ो—दौड़ो, निकल न जाय, उड़ न जाय, कचूमर निकाल दो, क्या हमने कविताएँ नहीं सुनाईं ? हमने दिमाग़ का सेरों ख़ून नहीं ख़र्च किया ? क्या हम 'कवि' नहीं हैं ? हमको पुरस्कार क्यों नहीं ? मारो, मारो, देखना कहीं भाग न जाय। भागा पकड़ो, पकड़ो !"

निदान इस समय कवि-सम्मेलन में ऐसा धूम-धड़ाका हुआ, ऐसा शोर-सनाका मचा, इतना तूफ़ान-ए-बेतमीज़ी उठा कि अपने राम की निद्रा टूट गई, सारा स्वप्नमय साहित्य-संसार नष्ट हो गया। अदृश्य जीवन के छायावाद के बदले दृश्यमान जगत् का जड़वाद दिखाई देने लगा। कवि-कारण्डवों की कल्पना-कुरंगी की कुलाँचों के स्थान पर दुरंगी दुनिया सामने आ गई। उठा, शौच-बाधा से निवृत्त हुआ; कलेवा किया और अपने काम में लग गया।

—हरिशंकर शर्मा

अजन्ता का कलामंडप

यदि कोई फ्रान्स-निवासी 'लुव्र' के चित्रालय की बात नहीं जानता या कोई अँगरेज लंदन की 'नेशनल गैलरी' से अपरिचित होता है, तो वह अपने समाज में संस्कार-हीन गिना जाता है; परन्तु इसे भारत का दुर्भाग्य ही कहना चाहिये कि भारतवासी कला और कलाधामों की चर्चा करना केवल निठल्ले, बेकार और आराम-तलब मनुष्यों का ही काम समझ बैठे हैं।

सम्पूर्ण संसार के तिहाई भाग से भी अधिक स्थान में बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ था। उसने मानव-जीवन में जिन क्रान्तियों, जिन प्रभावों और जिन संस्कारों का प्रचार किया था, उनका प्रमाण देनेवाले जो चित्र, मूर्ति या कलामंदिर आज एशियामें पाये जाते हैं, उन्हें संसार के विद्वान् एक अमूल्य निधि मानते हैं। मानव इतिहास में जब-जब मनुष्य के हृदय और मन ने पूर्णता प्राप्त की है, तब-तब कला पर उसका अमिट प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका। इतिहास या जीवन की कोई भी घटना जब उच्च कोटि की कला के रूप में प्रकट होती है, तभी उसके महत्त्व का वास्तविक मूल्य निर्धारित होती है।

इस समय हमारी यह असाधारण धारणा हो गई है कि चित्र कला या संगीत के विना मनुष्य का काम चल सकता है। इनकी कमी इस समय किसी को नहीं खटकती, किन्तु आज से केवल दो ही सौ वर्ष पहले लोगों में हजारों वर्ष की परम्परा से कुछ ऐसे भाव चले आ रहे थे, जिनसे वे सुन्दर गृह-निर्माण, सुन्दर वस्त्र तथा अन्यान्य सामग्रियों या उत्सवों की शोभा के लिये बहुत ही यत्न और व्यय करते थे। उन्होंने भारत की आत्मा को प्रत्येक आकार, प्रत्येक रूप और प्रत्येक व्यवहार में प्रकट किया था।

धर्म और खान-पान में विभिन्नता होने पर भी एशिया के सभी देशों में यह कला-प्रेम समान रूप से व्याप्त हो रहा है। भिन्न-भिन्न देशों की भिन्न-भिन्न कला-कृतियों की छान-बीन करनेवाले विद्वानों की दृढ़ धारणा है कि उन सबों के मूल में कला की एक ही धारा बहती है, और उस धारा का उद्गम और परिपोषण अधिकांश में भारत में ही हुआ था।

संसार के महान् विद्वान् और प्राच्य अन्वेषक सर ऑरेल-स्टीन ने हाल में तिब्बत और चीनी तुर्किस्तान की मरुभूमि में दबे हुए बौद्धधर्म के जो चित्र और प्रतिमाएँ खोद निकाली हैं, उनसे प्रमाणित होता है कि उनके प्रचारक और शिक्षागुरु भारत से ही शिक्षा ग्रहण करके निकले थे। जापान, चीन, जावा, सुमात्रा, चम्पा, श्याम और ब्रह्मदेश की कला में भी भारत की केन्द्र-रेखा स्पष्ट दिखाई देती है।

अब यह सभी स्वीकार करने लगे हैं कि समस्त एशिया के

इस कलाचक्र की धुरी अजन्ता की गुफ़ाएँ हैं। अजन्ता के इन कलामंडपों की कला इतनी अपूर्व, सम्पूर्ण और परिपक्क है कि यदि हम उसे भारतीय कलाओं की गुरुपीठ कहें, तो ज़रा भी अत्युक्ति न होगी।

अजन्ता के कलामंडपों में कला के अवतरित होने के पहले किसने उसका आरम्भ किया था, कितने दिनों से वे व्यवहृत हो रहे थे और किस प्रकार उनका उत्तरोत्तर विकास हुआ था—इन सब बातों के जानने के साधन प्रायः दुर्लभ हो गये हैं। कहते हैं ब्रह्मा जब सृष्टि-रचना करने बैठते थे, तब उनके लिये कोई भी चीज़ असाध्य न रह जाती थी; ऐसा मालूम होता है कि मानो वैसी ही शक्ति लेकर अजन्ता के कलावीरों ने शिल्प और चित्रों का निर्माण किया है।

अजन्ता की कलाए इसा का प्रथम तीन शताब्दियों से लेकर लगभग छठी या आठवीं शताब्दी तक विकसित होती रही हैं। मालवे की 'बाघ', मद्रास-प्रांत की 'सीतानिवास' और लंका की 'श्रीगिरि' की गुफ़ाओं में आज भी कुछ ऐसे चित्र मौजूद हैं, जो अजन्ता के प्रत्यक्ष अनुकरण मालूम होते हैं, उनपर अजन्ता का प्रताप प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। परन्तु इससे भी आगे बढ़कर जब हम पहली या दूसरी शताब्दी के तुर्किस्तान, तिब्बत, चीन, जापान आदि के चित्र देखते हैं, और हमें उनपर अजन्ता की वैसी ही प्रभावपूर्ण छाप पड़ी हुई दिखाई देती है, तब हमारे आश्चर्य का पारावार नहीं रहता और हम सोचने लगते हैं कि

अजन्ता की कला ने कहाँ-कहाँ तक अपना प्रभाव डाला था! अजन्ता का नाम भारतवासियों तक पहुँचने के पहले उसने न जाने कितने यूरोपियनों को चकित कर दिया था, और आज उन्हीं के परिश्रम से न केवल भारत को ही, बल्कि सम्पूर्ण एशिया को अपने इस अपूर्व उत्तराधिकार के लिये गर्व करने का अवसर प्राप्त हुआ है।

अजन्ता कहाँ है?

बम्बई से रेल में संवार हो एक रात सफ़र कीजिये और दूसरे दिन सुबह जलगाँव के पहले पाचोरा स्टेशन पर उतर पड़िये। वहाँ से छोटी लाइन की गाड़ी में बैठिये। वह दस बजे पहूर नामक ग्राम को पहुँचा देगी। वहाँ से सात मील की दूरी पर निज़ाम की सीमा में फ़रदापुर नामक गाँव है। उसी के निकट ऊसर पहाड़ियों में अजन्ता के कलामंडप छिपे पड़े हैं।

उस वृक्षहीन पथरीले स्थान को देखकर किसी यात्री को इस बात का गुमान भी नहीं होता कि यहाँ संसार की अप्रतिम कला-मूर्तियाँ छिपी हुई हैं। फ़रदापुर गाँव के अधिकांश निवासी मुसलमान हैं। वहाँ का टूटा-फूटा क़िला और बेगमसराय नामक बड़ा-सा मुसाफ़िरख़ाना सबसे पहले नज़र आता है। उन्हें सम्राट् औरंगज़ेब ने बनवाया था। इस समय तो इस गाँव में शायद ही तीन-चार सौ मनुष्यों की बस्ती होगी। वे कपास आदि की खेती करते हैं और गाड़ियाँ चलाते हैं। सड़क की ओर बम्बई के

मूलजी जेठा की जिनिंग फ़ैक्टरी और दूसरी ओर डाक-बंगला तथा मुसाफ़िरखाना है। अजन्ता-गुफ़ाओं के रक्षक अधिकारी
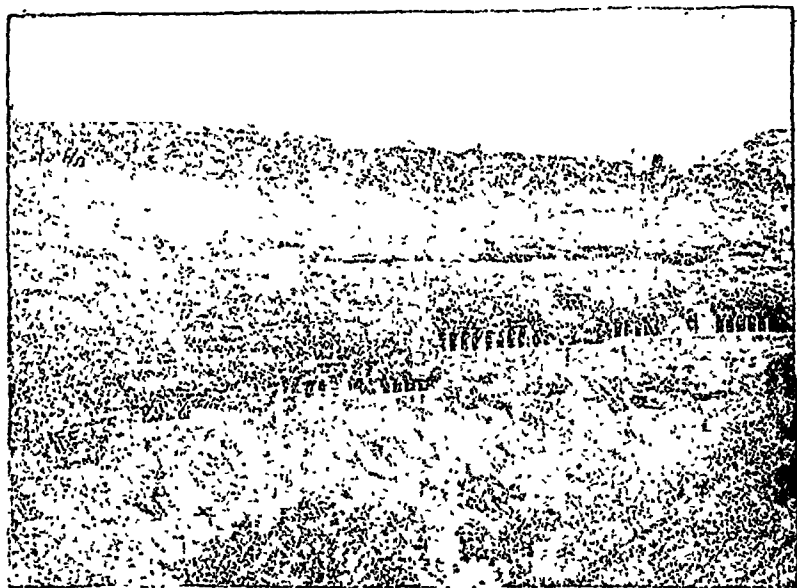
पहाड़ के गर्भ में चन्द्राकार कटी हुई अजन्ता की गुफ़ाओं का दूर से दृश्य

(क्यूरेटर) भी वहीं रहते हैं। उन्हीं के निरीक्षण में निज़ाम-स्टेट का बड़ा 'गेस्ट-हाउस' है, जिसमें रहने के लिये राज्य के अधिकारियों से अनुमति प्राप्त करनी होती है।

फ़रदापुर से चार मील की दूरी पर पहाड़ियों में बाघोरा नदी बहती है। अजन्ता जाते समय एक बार यह नदी पार करनी पड़ती है। इसके किनारे-किनारे ही घूमता हुआ रास्ता है। नदी में सर्पाकार इतने घुमाव हैं कि जब तक आप एकदम पास न पहुँच जायँ, तब तक आपको गुफ़ाओं का ख़याल भी न आयगा।

सुना है कि अब एकदम गुफाओं तक मोटर जाती है, वरना वैसे भी पैदल जाने में बड़ा आनन्द आता है। यदि भूलकर कहीं फ़रदापुर के इक्के में बैठ गये, तो समझ लीजिये कि हड्डियों की पूरी मरम्मत हो जायगी।

हम लोगों ने अजन्ता के चाहे जितने छपे हुए चित्र देखे हों, उसके सम्बन्ध में चाहे जितनी पुस्तकें पढ़ी हों; फिर भी पहले पहल वहाँ का जो दृश्य दिखाई देता है, वह हमारी कल्पना से एकदम नया, गम्भीर और विशेष भव्य प्रतीत हुए बिना नहीं रहता। अन्तिम घुमाव समाप्त होते ही प्रायः तीन सौ फट ऊँचा, वर्तुलाकार दीवार-सा, एक सीधा टीला पहाड़ से निकला हुआ दिखाई देता है। उसे देखकर नदी में खड़े हुए मनुष्य को ऐसा ही मालूम होता है मानो वह कोई गगनचुम्बी महान् प्रासाद खड़ा है। इस टीले के बीचोंबीच बारहदरियों की-सी एक कतार बनी दिखाई देती है। उसे देखकर पहले मन में स्वभावतः ही यह प्रश्न उठता है कि नदी से उतनी ऊँचाई पर किस तरह पहुँचा जाय। इतने ही में राज्य की ओर से प्रस्तुत आधुनिक ढंग की सीढ़ियों का सिलसिला नजर आता है और पथिक की चिन्ता दूर हो जाती है।

अजन्ता का प्राचीन-प्रवेश मार्ग दूसरा था। इस समय जिसे १७ नंबर की गुफ़ा कहते हैं, उसके पास अभी भी पुराने मार्ग की सीढ़ियों के भग्नावशेष दिखाई देते हैं। यह मार्ग गुफ़ा के पास जिस स्थान में पहुँचता है, उसके दोनों ओर दो बड़े-बड़े हाथी बने

हुए हैं। उनमें से एक तो प्रायः टूट-फूट गया है। यहाँ से आगे बढ़कर बाईं ओर मुड़ने के पहले सामने एक छोटी-सी ड्योढ़ी दिखाई देती है, जिसमें द्वारपाल के सदृश नागराज की एक बृहत् और सुन्दर मूर्ति कटी हुई है। अजन्ता के चित्रों की भाँति अजन्ता की शिल्प-कृतियाँ भी अनुपम हैं, और उनमें से यह मूर्ति भी एक है, जो भुलाई नहीं जा सकती। यहाँ तक की चढ़ाई बहुत ही सीधी होने के कारण चढ़नेवाले को कुछ थकावट मालूम होती है, परन्तु इसके बाद ही जो अनुपम दृश्य दिखाई देते हैं, उनसे उसकी सारी थकावट दूर हो जाती है। वह इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता कि वह कितनी उच्च कोटि की कला देखने जा रहा है।

यहाँ से ज़रा आगे बढ़ते ही १६ नंबर की गुफ़ा का, जो सबसे बड़ी गिनी जाती है, प्रांगण मिलता है। यहाँ से नीचे की ओर देखने पर पहाड़ से बल खाकर निकलती हुई नदी स्पष्ट दिखाई देती है। यह गुफ़ा समूचे मंडप-समूह के मध्य में है, अतः वहाँ से दोनों ओर का घुमाव दूर तक दिखाई देता है, और दोनों ओर की क़रीब-क़रीब सभी गुफ़ाएँ नज़र आती हैं। ऊँचा-नीचा होने पर भी यह मार्ग एक ही सीध में होने के कारण सभी गुफ़ाओं तक पहुँचना सुगम मालूम पड़ता है।

द्राकार टीलों के पेट में कटी हुई ये गुफ़ाएँ प्रवेश-द्वार से लेकर एकदम अंत तक मनुष्य की उपासना, धैर्य, प्रेम, भक्ति और हस्त-कौशल का संसार-भर में आश्चर्यजनक उदाहरण हैं।

गुफ़ाएँ खोदने की कला अजन्ता में पूर्ण रूप से प्रकट हुई है। समस्त रचना देखने पर मालूम होता है कि यहाँ के शिल्प, चित्र, स्थापत्य आदि में एक ही भावना सुसंबद्ध शृङ्खला के रूप में प्रकट हुई है। इसमें इतनी संपूर्ण सफलता प्राप्त हुई है कि संसार के किसी दूसरे स्थान से इसकी तुलना नहीं की जा सकती। यद्यपि सभी वौद्ध गुफ़ाओं के निर्माताओं ने प्राकृतिक सौन्दर्य, एकान्त और वड़े जन-पथ पर ध्यान रखा है, फिर भी सौन्दर्य और एकान्त के लिये तो केवल अजन्ता को ही श्रेष्ठ पद दिया जा सकता है। नीचे नदी वहती है, उसमें वड़ी-वड़ी पत्थर की शिलाएँ हैं। पानी उनसे टकराता हुआ गुफ़ा के ठीक नीचे ही एक गढ़े में इकट्ठा होता है, जो सप्तकुंड के नाम से पुकारा जाता है। वौद्ध भिक्षुक जिस समय नीचे की झाड़ी से वहाँ तक आते-जाते होंगे, उस समय का दृश्य और अनुभव निस्सन्देह अवर्णनीय होगा। इस समय भी उस घाटी में चारों ओर पारिजात पुष्पों के वन दिखाई देते हैं। साथ ही यहाँ और भी अनेक प्रकार के पुष्प और फल उत्पन्न होते हैं, इस लिए यहाँ पत्तियों का एक विचित्र मेला-सा लग जाता है, और ऐसे-ऐसे चित्र-विचित्र पत्ती दिखाई देते हैं, जो और कहीं नहीं दिखाई देते। सौन्दर्य का आनन्द लेने के लिये अक्टूवर से दिसम्वर तक का समय यहाँ के लिये उपयुक्त माना जाता है।

१६ और १७ नंवर की गुफ़ाओं से नीचे की समूची घाटी स्पष्ट दिखाई देती है। इन दोनों गुफ़ाओं का निर्माण-समय ईसा की दूसरी शताव्दी माना जाता है। नं० १६ की गुफ़ा का प्रवेश-मार्ग

६५ फ़ुट लंबा और १२ फ़ुट चौड़ा है। मुख के समीप आधार के लिये छै विशाल स्तंभ खुदे हुए हैं, जिनसे वह किसी टाउन-हॉल के भव्य प्रवेश-द्वार के समान मालूम देता है। उसका भीतरी खंड चौकोर, ६५ फ़ुट लंबा और १५ फ़ुट ऊँचा है। उसकी छत को बीस स्तंभ चारों ओर से उठाये हुए हैं। प्रत्येक स्तंभ पर बेल-बूटे और ज्यामिति के आकारों के खाने बने हुए हैं, जिनमें सुरम्य रंग भरा हुआ है। खंभों के सिरे पर बड़े पेटवाले कीचक इस तरह खुदे हैं, मानो वे अपने हाथों पर छत का भार सम्हाले हुए हैं। खंभे छोड़कर दीवार तक चारों ओर ८ फ़ुट चौड़ी प्रदक्षिणा की जगह है। दीवार में दोनों ओर छै-छै कोठरियाँ खुदी हुई हैं। प्रवेश-द्वार के सामने की दीवार में भगवान् बुद्ध की एक ध्यानस्थ विशाल मूर्ति तथा दो पार्षदों की मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। मूर्ति के आस-पास प्रदक्षिणा के लिये खाली स्थान छोड़ दिया गया है।

यह सब काम एक ही टीले के गर्भ में किया गया है; परन्तु स्तंभ, छत या प्रतिमा की खुदाई करते समय क्या मजाल कि पत्थर का एक भी टुकड़ा कहीं जरूरत से ज्यादा कट गया हो! सर्वत्र ही सुन्दर खुदाई की एक-सी सुरेखा, सरलता तथा सुघड़ता सुसंस्कृत आकृतियाँ वर्तमान समय के कारीगरों को आश्चर्य-चकित कर देने के लिये पर्याप्त हैं।

जहाँ चित्र बने हुए हैं, वहाँ चित्रों की ज़मीन को चिरस्थाई बनाने के लिये दीवारों पर छेनी से तुलाई कर पहले वे खुरदरी बनाई गई हैं; फिर उनपर एक प्रकार के गारे का और गारे के

ऊपर पतले चूने का पलस्तर चढ़ाया गया है; इस पलस्तर पर लाल रेखाओं से चित्र अंकित किये गये हैं और उनमें विभिन्न रंग देकर सादृश्य उत्पन्न किया गया है।

सोलहवीं गुफ़ा के बाहरी चौक की छत चित्रों से भरी पड़ी है। गगनगामी इन्द्र और उनके परिवार का चित्र इस चौक का प्रधान चित्र है। 'प्रणयोत्सव' नामक बहुत प्रशंसित चित्र भी इसी
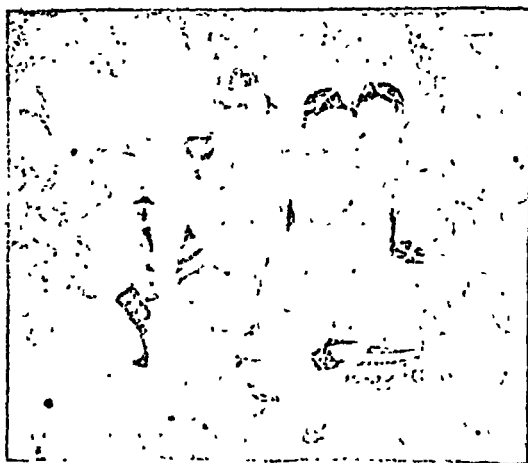
१६ नं० की गुफ़ा के दालान की भीत पर अंकित इन्द्र और उनका परिवार]

चौक में है। भीतरी हिस्से की दीवारें ज़मीन से लेकर छत तक बुद्ध भगवान् के जन्मांतरों की कथाओं से भरी हुई हैं। उनका अधिकांश भाग भड़कर गिरकर नष्ट हो गया है अथवा किसी ने खोद डाला है। जो भाग बच गया है; उससे समूची कथा समझ में न आने पर भी हज़ारों वर्ष पूर्व के मानव-जीवन के सुख, दुःख,

करुणा आदि के चित्र हृदयस्पर्शी तथा प्रभावोत्पादक ढंग से अंकित दिखाई देते हैं। दर्शक ज्यों-ज्यों इन चित्रों पर दृष्टि डालता है, त्यों-त्यों वह अपने आस-पास की सृष्टि को भूलकर प्राचीन काल की राजसभाओं, सुन्दरियों, साधुओं और नागरिकों की स्वप्न-सृष्टि में विचरने लगता है! कहीं राजकुमार दान दे रहा है और भिक्षुक आगे-आगे दौड़ रहे हैं, तो कहीं अट्टालिकाओं से मुग्धनयना सुन्दरियाँ झुकी पड़ती हैं और उनके हाथ से पुष्पवृष्टि हो रही है। बुद्ध, यशोधरा और राहुल का बड़ा चित्र भी इस १६ नं० की गुफा में ही है।

अजन्ता के इन मंडपों में न जाने कितने चित्रकारों ने अपनी तूलिका का कौशल दिखाया होगा, पर उन सबों के हृदय एक ही अनिर्वचनीय भाव में रँगे हुए मालूम होते हैं। सभी परम दया-मय बुद्ध भगवान् के आदर्शों को दृश्य बनाने के लिये, विश्वकर्मा की तरह तूलिका द्वारा भाव और रूप की सृष्टि करते हुए दीवारों पर रात-दिन मस्त होकर जुटे रहते होंगे। तब कहीं वर्षों में यह विशाल मंडप इतनी सुसम्पन्न कलासिद्धि का आदर्श बन सका होगा। दीवारों पर अंकित प्रत्येक चेहरा मनन करने का विषय बना हुआ है। एक-एक हाथ की अंगुलियों का बनाव, उसपर सुशो-भित सुन्दर कड़े, चमर लेकर खड़ी हुई टेढ़ी कमरवाली परिचारि-काएँ, लज्जा से अवनत नेत्रोंवाली राज-महिलाएँ, विविध शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित अश्वारूढ़ सैनिक—ये सभी उस कलामंडप के चित्र-कारों की सजीव सृष्टि हैं! उन्होंने प्रत्येक बात को स्पष्ट रूप से

दिखाने के लिये एक भी रेखा, एक भी अलंकार या एक भी भाव अप्रकट नहीं रखा। चित्र देखते-देखते हम चित्रकार के जीवन पर विचार करने लगते हैं, और उसके हृदय में प्रवेश करने पर हमें मालूम होता है कि उस समय से ही मानव-हृदय प्रेम, भक्ति, वियोग और अन्त का समान रूप से ही अनुभव करता आ रहा है।

गुफ़ाओं के भेद

अजंता की गुफ़ाएँ दो प्रकार की हैं—एक चैत्य, दूसरे विहार। २६ नंबर की गुफ़ा विहार-मंडप है। विहार साधुओं के रहने और
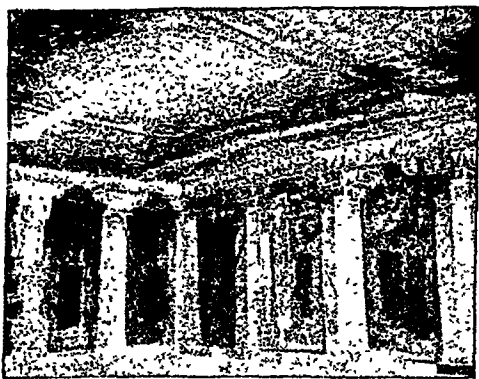
१६ नं० की गुफ़ा के दालान का दृश्य

अध्ययन करने के लिये बनाये जाते थे। चैत्य में केवल प्रार्थना या उपासना की जाती थी, इसलिये वह अधिक लंबा होता है और सामने के सिरे पर उसमें एक स्तूप रहता है। बुद्ध भगवान् के अवशेष पर जो गोलाकर समाधि बनाई जाती थी, उसे स्तूप कहते थे। स्तूप के चारों ओर प्रदक्षिणा करने भर का स्थान होता

था। वहाँ से द्वार तक दोनों ओर स्तंम्भों की पंक्ति रहती है। चैत्य अधिक ऊँचा होता है और उसका प्रवेश-द्वार सुचारु कारीगरी से खूब सुसज्जित रहता है। अजंता की गुफाओं में १९ नंबर की गुफ़ा अजंता का सबसे बड़ा चैत्य है। उसके द्वार-देश का दृश्य बहुत ही रमणीय और अलौकिक मालूम होता है। उसके चौक

२६ नं० की गुफ़ा (चैत्य) के खम्भों की पंक्ति और भीतरी रूप

में दाहिनी ओर की दीवार पर नागराज का समस्त परिवार खुदा हुआ है। यह दृश्य इस प्रकार के शिल्प में बहुत ही उच्च कोटि का माना जाता है। चैत्य के द्वार-देश की महराबों का आकार पीपल के पत्ते जैसा रहता है, इसलिये चैत्यों को पहचानने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती।

अजन्ता में चैत्य और विहार दोनों मिलाकर छोटी-बड़ी कुल २९ गुफ़ाएँ हैं। इनमें से १, २, १६ और १७ नम्बर की गुफ़ाओं

सर्वनाश

१७ नं० की गुफ़ा में अंकित एक चित्र में दुःखित नेत्रोंवाला यह वृद्ध राजदूत राजा के पास किसी जहाज़ के डूबने या युद्ध में पराजय होने का दुःखद संवाद लाया है। इसके चेहरे और हाथ की मूक रेखाएँ उसके भाव को उद्घोषित कर रही हैं। संसार में रेखांकन का यह एक बहुत उत्कृष्ट नमूना है।

के चित्र कुछ अंश में बचे हुए हैं। शेष सभी गुफाओं में कहीं किसी दीवार पर किसी का सुन्दर मुख, कहीं किसी के खंडित हाथ-पैर तो कहीं घोड़े या हाथी पर चढ़े हुए खंडित शरीर आदि दिखाई देते हैं। उन सबों को सुरक्षित रखने के लिये निज़ाम-सरकार की ओर से प्रचुर व्यय कर समुचित व्यवस्था की गई है। इस काम के लिये यूरोप से एक विशेषज्ञ बुलाया गया है। उसने प्रत्येक स्थान में कीट-नाशक औषधि डालकर पपड़ों को सीमेंट से जोड़ दिया है, ताकि वे ज्यों-के-त्यों लटके रहें और गिरकर नष्ट न हो जायँ। अनुमान किया जाता है कि इस व्यवस्था से बीस-पचीस वर्ष तक अब कोई हानि न होगी। ४, ६ और २४ नंबर की गुफाएँ खुदाई करते-करते अधूरी रह गई हैं, जिससे उन दिनों की गुफा खोदने की विधि स्पष्ट मालूम होती है। खुदाई के लिये पतले धारदार औज़ार काम में लाये जाते थे। इन औज़ारों से पहले सीधी-सीधी नालियाँ-सी खोद ली जाती थीं, बाद को दो नालियों के बीच का हिस्सा गिरा दिया जाता था। खुदाई करनेवालों के पीछे कारीगरों का दूसरा दल रहता था, और वह दीवारों को चिकनी बनाकर उनपर पालिश करता जाता था।

कारीगरी तो सभी गुफाओं की ज़ोरदार और सुन्दर है, परन्तु १ नंबर की गुफा खोदनेवालों का कार्य बहुत ही आश्चर्यजनक मालूम होता है। अनेक विघ्न-बाधा और कठिनाईयों के रहते हुए भी उन्होंने १२० फ़ुट की सीधी गहराई किस तरह काटकर पार

की होगी, यह एक पहेली-सी मालूम होती है। उस गुफ़ा का मुख ६५ फ़ुट चौड़ा है। सामने का मंडप १४ फ़ुट चौड़ा, १९ फ़ुट ऊँचा और बारीक कारीगरी के बेलबूटों तथा स्तंभ आदि से भरा हुआ है। भीतरी हिस्सा ६४ फ़ुट लम्बा और इतना ही चौड़ा है। उसके चारों ओर बीस स्तम्भ हैं और स्तम्भों के आस-पास दालान हैं। इस मंडप के अन्दर सामने की ओर १९ फ़ुट लम्बा एक दूसरा दालान है। वहाँ की कारीगरी बहुत ही सुन्दर है। इसी दालान के बीचोबीच गर्भ-मंदिर में द्वारपालों के साथ भगवान् बुद्ध की सुन्दर मूर्ति है। बाहर से इस मूर्ति तक की दूरी १२० फ़ुट है।

इस गर्भ-मंदिरवाले दालान में ही एक समूची दीवार पर भगवान् बुद्ध की तपश्चर्या और मार के आक्रमणवाला चित्र अंकित है। अनेक प्रकार के प्रलोभन और भय के साधनों के साथ मार बुद्ध भगवान् को विचलित करने आया है। इसमें चित्रकार की तूलिका की अजीब करामात दिखाई देती है। प्रत्येक आकृति स्पष्ट रेखाओं में विविध अभिनय, भाव और अलंकारों के साथ इस तरह अंकित

स्तम्भ के पहलुओं की कारीगरी

की गई है कि आधुनिक चित्रकार उनसे बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। इस चित्र-मंडल में बुद्ध भगवान् की मूर्ति पर अलौकिक शान्ति परिलक्षित होती है। समूचा चित्र क़रीब १२ फ़ुट ऊँचा और ८ फ़ुट चौड़ा है। समझ में नहीं आता कि जिस स्थान में केवल शाम को ही प्रकाश पहुँचता है और वह भी कुछ ही क्षणों के लिये, उस स्थान की इस दीवार पर इतनी कारुकार्य-युक्त और कलापूर्ण आकृतियाँ किस प्रकार अंकित की गई होंगी। आज भी जब शाम के वक्त सूर्य की अंतिम किरणें इस गुफ़ा में प्रवेश करती हैं, तब थोड़ी देर के लिये सब चित्र जगमगा उठते हैं, और दर्शक अवाक् होकर—'अद्भुत! अद्भुत!' कहने लगता है और उसका हृदय श्रद्धा से प्रणाम करने लगता है।

गुफ़ा नं० १ और २ में सबसे अधिक चित्र सुरक्षित बचे हैं। उनमें ऐसे प्रमाण भी उपलब्ध हैं, जिनसे उनका समय जाना जाता है। १ नंबरवाली गुफ़ा के मंडप के दालान में एक ऐसा चित्र है, जिसमें हिन्दू राजा पुलकेशी द्वितीय की राजसभा में ईरान के राजा खुसरू परवेज़ के राजदूत भेंट अर्पण करते हुए दिखाये गये हैं। इस चित्र से ईरान और भारत का प्राचीन संबंध प्रकट होता है। अधिकतर यह घटना ई० सन् ६२६ से ६२८ तक की है। इस १ नंबर की गुफ़ा की चित्रकारी अजंता की कला-समृद्धि की पराकाष्ठा दिखाती है। संसार के अनेक देशों की प्राचीन कला का साधन रेखाएँ है, किंतु अजन्ता के चित्रकार की रेखाओं में जो अनेक तत्त्व प्रकट हुए हैं, वे संसार की अन्य कलाओं में दिखाई

नहीं देते। यहाँ तूलिका पर चित्रकार का इतना अधिकार दिखाई देता है कि उससे जो रेखा निकलती है, वह भाव के अनुसार ही रूप धारण करती जाती है। अजन्ता की आकृतियों को देखने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि गोल या घन आकृतियों को रेखा द्वारा व्यक्त करने की क्रिया उनके लिये सुसाध्य हो गई थी। कहीं उभरती हुई आकृतियाँ, कहीं झूलते हुए मुक्ताहार और मुलायम वस्त्र, कहीं सुघड़ नासिका और मृदु उदर, तो कहीं धातु के जगमगाते हुए रत्नजड़ित मुकुट इत्यादि विविध चीज़ें देखने पर ही अजन्ता के चित्रकार के आलेखन-सामर्थ्य का अंदाज़ा लगता है। केवल रेखाओं में ही मानव-शरीर को इतनी विविधता से अंकित करनेवाले चित्रकार संसार में शायद ही और कहीं पाये जायँगे। बिना कम्पन के, निःशंक भाव से और छटापूर्ण अर्थभाव लक्षण आदि से संपूर्ण चित्र अंकित करनेवाला अजंता का यह चित्रकार, उस युग को देखते हुए, संसार का कोई दैवी पुरुष ही मालूम होता है।

इसी गुफ़ा के गर्भ-मंदिर के पास दाहिनी ओर मंडप की दीवार पर 'बोधिसत्त्व' का बड़ा-सा चित्र है। यह उस समय का रूपक चित्र है, जिस समय कुमार सिद्धार्थ बुद्ध-पद के लिये गृह-त्याग करते हैं। इस चित्र में मनुष्य के वास्तविक आकार से कुछ बड़े आकार की, किंचित् त्रिभंगीयुत, दाहिने हाथ में नील-कमल (इन्दीवर) धारण किये, जीवन-मन्थन करते हुए सुकोमल मुख को झुकाकर खड़ी हुई राजेश्वर की मूर्ति समस्त संसार की कला-

बोधिसत्त्व—यह चित्र संसार में कला का एक अनुपम उदाहरण माना जाता है.
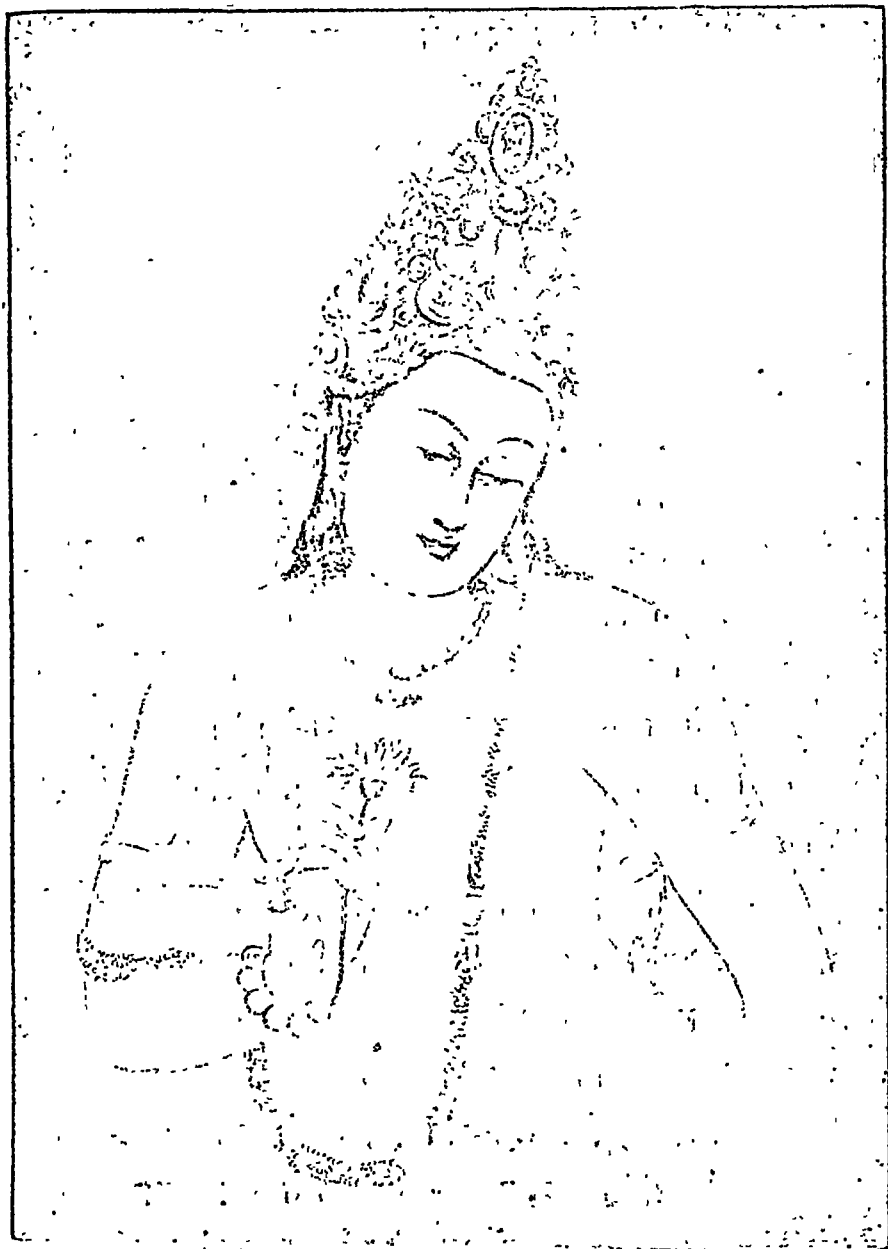
में अनुपम मानी जाती है। दीवार पर स्वाभाविकता से बहुत थोड़े में केवल सरल रेखाओं द्वारा विशाल स्कंध और सुंदर दीर्घ बाहुओं के बीच में किंचित् छाया दिखाकर इस चित्र में बड़ी खूबी के साथ मृदुता और सुघड़ता लाई गई है। मांसल मनोहर मुखारविन्द, जो खाकी रंगों के मिश्रण से अंकित किया गया है, चिन्तन, करुणा और मनोमंथन के भावों को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है। तूलिका की एक ही रेखा खींचकर अंकित की हुई भौंहें किसी कला-पारंगत उस्तादी हाथ का परिचय कराती हैं। नासिका और होठों पर भाव दिखाने भर के लिये जो छाया दिखाई गई है, वह हमें बतलाती है कि चित्रकार अपने साधनों को बढ़िया-से-बढ़िया उपयोग करना जानते थे। इस बोधिसत्त्व का मुकुट भी कारीगरी का एक उत्तम नमूना माना जाता है।

इस भाग के समस्त चित्रों में यह स्वरूप बहुत विशाल होने पर भी परम मनोरम है। इसके आस-पास की देवसृष्टि, मानव-सृष्टि और विचार-निमग्न यशोधरा के चित्र पर दृष्टि डालिये, तब मालूम होता है कि चित्रकार आवेश और स्वस्थता, धीरता, त्वरा आदि सभी भाव दरसाने में एकसा ही कुशल है। इसके अतिरिक्त समस्त चित्रों का संविधान भी कम आश्चर्यजनक नहीं है। इस चित्र के अलावा पास ही के एक दरवाजे पर प्रेममग्न यक्ष-दम्पती का एक निर्दोष चित्र अंकित है। इसी मंडप की बाईं ओर की दीवार पर बुद्ध के पूर्वजन्म की चम्पेय जातक नामक कथा का काशिराज और नागराज के मिलने का भव्य चित्र है। इन सब

चित्रों को देखने पर मालूम होता है कि अजन्ता-वासियों को संसार का ज्ञान और अनुभव भली भाँति उपलब्ध था।

दूसरे नम्बर की गुफ़ा के चित्र अन्तिम काल के माने जाते हैं, परन्तु इसमें भी दो-चार ऐसे चित्र हैं, जो अजन्ता के उत्तम चित्रों की कोटि में रखे जा सकते हैं। एक दीवार पर एक बहुत ही करुणापूर्ण चित्र है। इस चित्र का ऊपरी भाग खंडित होगया है, फिर भी चित्र की घटना समझने में कोई बाधा नहीं पड़ती। चित्रों में एक राजमंडप अङ्कित है। मंडप में एक सिंहासन पर चारों ओर से युवतियों द्वारा घिरा हुआ एक राजपुरुष बैठा है। उसके
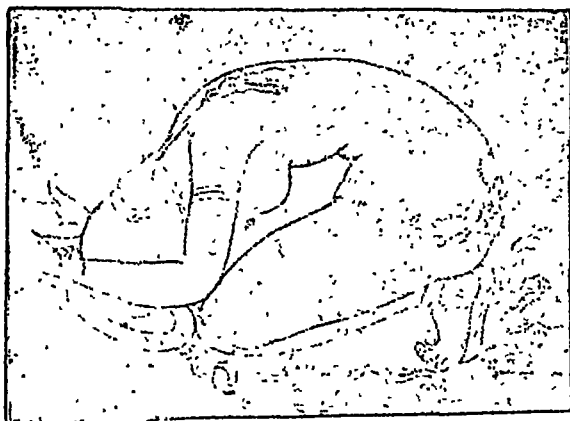
दया की भिक्षा माँगती हुई एक अभागिनी रमणी के चित्र का लालित्यपूर्ण रेखांकन.

हाथ में नङ्गी तलवार है और वह चरणों में पड़ी हुई एक अभागिनी रमणी पर तन रही है। आस-पास की सभी आकृतियाँ उसके दुर्भाग्य को देखकर क़म्पित और भयभीत हो रही हैं। एक-आध

दया-भिक्षा माँग रही हैं। यह चित्र इतना भावपूर्ण है कि इसे देखकर भूत काल की उस रमणी के लिये हमारे हृदय में भी दया-याचना करने की प्रेरणा उत्पन्न होती है। दर्शक उसे देखकर विषाद के साथ मौनावलंबन कर लेता है।

इस मंडप में बाद को जो चित्र अंकित हुए हैं, वे अजन्ता की सर्वोत्कृष्ट काल का मुक़ाबला नहीं कर सकते। उन दिनों खोतान और तुर्किस्तान में जैसी चित्र-कला प्रचलित थी वे उसी कोटि के मालूम होते हैं। उनमें असली तत्त्व का लोप हो गया है।

अजंता की कला की कुछ विशेषताएँ

अजन्ता का पूर्ण अवलोकन करनेवाले के मानसपटल पर वहाँ की कला-विषयक कुछ अमिट स्मृतियाँ अंकित हुए बिना नहीं रह सकतीं। अजंता के चित्रकारों ने, मालूम होता है, कमल-पुष्प से बहुत-सी प्रेरणाएँ और चित्र-कौशल प्राप्त किया है। मंडप की छतों पर बड़े-बड़े वृत्ताकार चक्रों के बीच में बड़े-बड़े कमल-दल अंकित कर, आस-पास के चक्रों और ज़मीन पर उसकी अनेक प्रकार की आकृतियाँ अंकित की गई हैं। उन्हें देखने पर मालूम होता है कि कला के स्वरूप में कमल इतनी विविधतापूर्वक शायद ही संसार में और कहीं दिखाये गये होंगे। कमल-पुष्प, कमल-कलिकाएँ, कमल-पत्र, कमल-दंड या कमल-गुच्छ को सुशोभित और सुसंस्कृत रेखाएँ, वल्लरियाँ और बंदनवारें अजन्ता में पद-पद पर दिखाई देती हैं। फिर भी उनकी नवीनता कम नहीं होती! चित्रकारों

को कमल का फूल इतना आकर्षक प्रतीत हुआ है कि बोधिसत्त्व की मूर्ति के हाथ में या स्तंभ पर की पुतलियों के हाथ में या प्रेमी दम्पतियों के बीच में शोभा के लिये उन्होंने उसे अवश्य स्थान दिया है।

कमल के बारीक निरीक्षण और अभ्यास से चित्रकारों ने मानव-शरीर के चित्रों में भी उसका लालित्य लाने की चेष्टा की है। भारतीय शिल्प और स्थापत्य की कृतियों में यद्यपि कमल ने बहुत प्राचीन काल से ही स्थान पाया था, परंतु चित्रों में तो अजंता ने ही उसका माहात्म्य स्वीकार कर उसमें अभिवृद्धि की है।

कमल की भाँति हाथी भी भारतीय शिल्प का एक प्रिय अंग है, और भारत के सिवा किसी भी दूसरे देश में उसने वास्तविक राज-सम्मान प्राप्त नहीं किया। सिद्धार्थ की माता को गर्भावस्था में एक सफ़ेद हाथी आकाश से उतरकर कुक्षि में प्रवेश करता हुआ स्वप्न में दिखाई दिया था। इस घटना के बाद से हाथी कला और साहित्य में देवकोटि का सम्मान प्राप्त करता आ रहा है। बुद्ध भगवान् के पूर्वजन्मों की जातक कथाओं में अनेक बार हाथी की कथाएँ आती हैं। छद्दन्त जातक की कथा उसका एक अद्भुत दृष्टान्त है। बोधिसत्त्व किसी जन्म में हाथी थे और उनके दो प्रिय हस्तिनियाँ थीं। उनमें से एक किसी कारणवश अपनी सौत से असंतुष्ट हो गई। उसने सिर पटककर आत्महत्या कर ली। बाद को एक राजा के यहाँ उसने जन्म ग्रहण किया। इस जन्म में भी वह अपना रोष न भूल सकी, इसलिये वयस्क होने पर

उसने अपने पिता के दूतों को उस श्वेत हाथी का सिर ले आने के लिये जंगल भेजा। श्वेत हाथी को यह बात मालूम होने पर वह अपने आप दूतों के सम्मुख आ उपस्थित हुआ, और अपने घात में कोई बाधा न दी। राजदूतों ने उसके दोनों दाँत निकालकर राजकन्या के सम्मुख उपस्थित किये, परन्तु उसकी वैराग्नि इसके कुछ पहले ही शान्त हो गई थी, इसलिये वह दुःख से मूर्छित होकर गिर पड़ी।

यह समूची करुण-कथा १७ नम्बर की गुफ़ा की दीवारों पर अंकित है। कहीं-कहीं वह खंडित हो गई है, फिर भी चित्रों की वर्णन-शक्ति इतनी जोरदार है कि घटनावली समझने में देर नहीं लगती, और ऐसा मालूम होता है मानो यह सब हम अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देख रहे हैं। इस कथा के चित्रों को देखते हुए आप आगे बढ़ते जाइये। जब आप उस स्थान में पहुँचेंगे, जहाँ गर्भ-मंदिर के दालान के पास कथा का अन्त आता है, तो वहाँ परम शान्त बुद्ध भगवान् के दर्शन प्राप्त होंगे। इससे हमें इस बात का ज्ञान होता है कि इस प्रकार जन्मान्तर व्यतीत करके आत्म-त्याग और वैराग्य द्वारा शांतिपद प्राप्त करनेवाले उस महान् आत्मा का सर्वसाधारण को परिचय देने के लिये कैसी कलामय योजनाएँ इन मंडपों में की गई हैं। छदन्त जातक की कथा में हाथियों के जंगल-के-जंगल अंकित किये गये हैं, और उनमें अनेक हाथी, हस्तिनियाँ तथा उनके बच्चों के विविध रूप इतने सजीव और भावपूर्ण हैं कि चित्रकार की मनःस्मृति के लिये हमारे मन में

असीम श्रद्धा उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती। हाथी को लेकर इस प्रकार की चित्रकारी करनेवाले चित्रकार इस समय मिल सकते हैं या नहीं, इसमें सन्देह ही है।

अजंता की स्त्रियाँ

अजन्ता की मानव-सृष्टि में स्त्रियों का स्थान बहुत ही ऊँचा दिखाई देता है। उस समय वस्त्रों का व्यवहार परिमित होने पर भी स्त्रियों में ऐसी कला और ऐसा विनय दिखाई देता है, जो हमें आनन्द और आश्चर्य में विलीन कर देता है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसा भी मालूम होता है, मानो कला का वह समूचा संसार स्त्रियों की मधुरता से व्याप्त हो रहा था। चित्रकारों ने स्त्रियों के चित्र अंकित करते समय बहुत ही संयमपूर्वक उनके शरीर के अनुपात और उनके अंग प्रत्यंगों की शोभा की रक्षा की है। चाहे रानी हो या राजकुमारी, चाहे परिचारिका हो या नर्तकी, कहीं भी वह अधमता धारण नहीं करती। सर्वत्र वह मर्यादायुक्त सुन्दरी ही दिखाई देती है।

इसके अतिरिक्त समस्त अजन्ता में स्त्री का एक भी ऐसा चित्र नहीं है, जिसे देखकर मन में पाशविक वृत्ति या विकार उत्पन्न हो। प्रेमियों के जोड़ों में भी आत्मा का माधुर्य और ऐक्य ही दिखाई देता है। ये चित्र सांसारिक होने पर भी इनमें इतना विशुद्ध वायुमंडल सुरक्षित है कि अश्लीलता की कल्पना नहीं की जा सकती। चित्रकारों ने बहुत ही बारीकी के साथ स्त्रियों की शरीर-

अजन्ता की चित्र-सृष्टि में केश-कलाप की शोभा और मनोहर अंगभंगी.

स्थिति, हाथ-पैर के अभिनय, अंगुली की लीलाएँ और केश-कलापों की विविध छटाएँ अंकित की हैं। अजन्ता के केशकलापों का कोई संग्रह करे, तो एक अपूर्व कला-ग्रंथ बन सकता है। केशों पर कितने प्रकार की लीला हो सकती है, यह जिसे पूर्ण रूप से जानना हो, उसे अजन्ता की दीवारों का प्रत्येक भाग ख़ूब ध्यान से देखना चाहिये। इसी तरह वहाँ मुकुटों के भी अनेक प्रकार दिखाई देते हैं। उनके चित्र इतनी निपुणता से अंकित किये गये हैं कि यदि कोई जौहरी उनके मणि-मुक्ताओं का ठीक से निरीक्षण करे, तो वह इच्छा करने पर वैसे ही नये मुकुट बना सकता है !

अजन्ता के चित्रों से यह
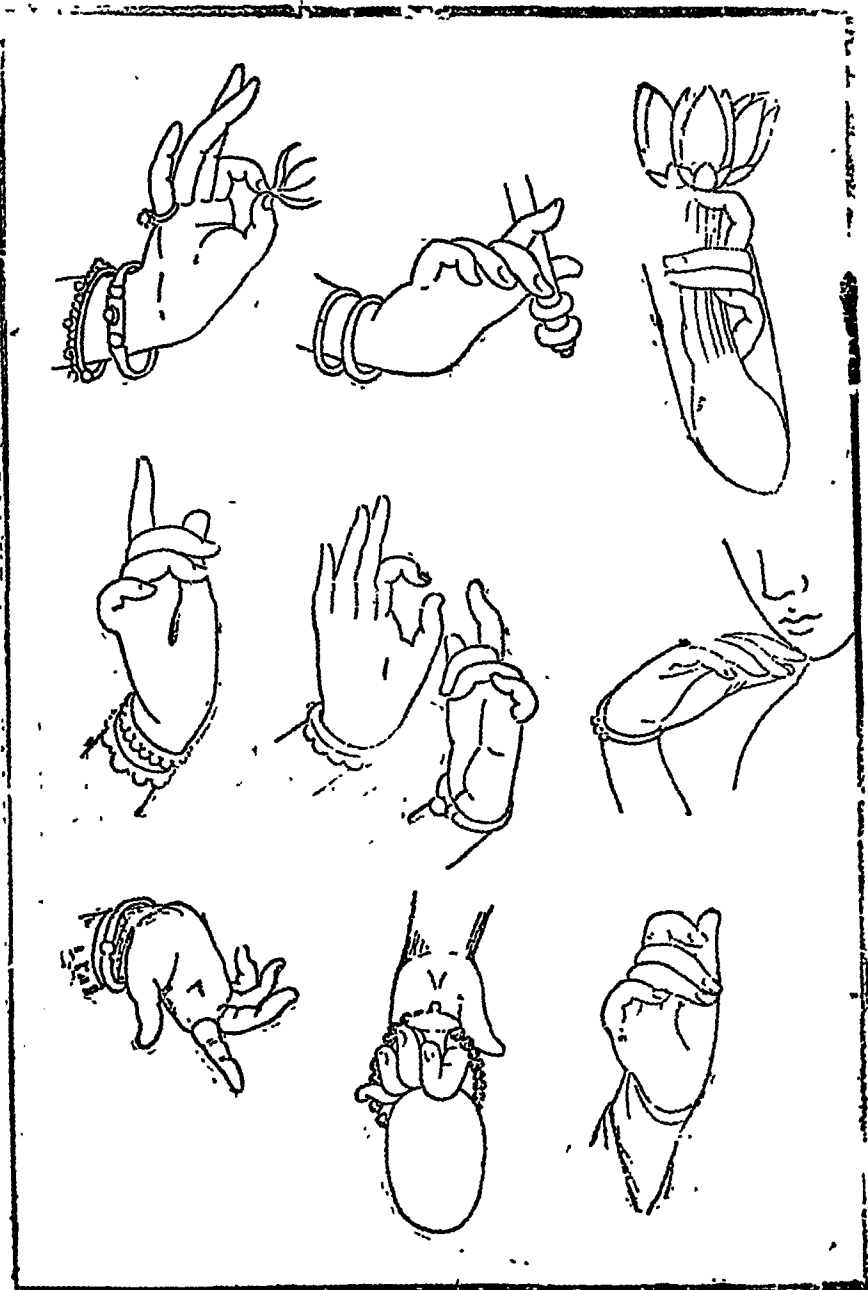
अजन्ता की भीत पर उँगलियों और हाथ को विविध मुद्राएँ.

भी स्पष्ट मालूम होता है कि उन दिनों की स्त्रियाँ पर्याप्त स्वतंत्रता और सम्मान का उपभोग करती थीं, नगर, वाटिका और वन में वे स्वेच्छापूर्वक विचरण कर सकती थीं, समाज या राजसभा में सर्वत्र उनकी उपस्थिति रहती थी। राजसभा के प्रतिहारी का काम भी चित्रों में स्त्रियाँ ही करती हुई दिखाई देती हैं। भगवान् बुद्ध का पदानुसरण करनेवाले अजंता के निर्वाण-कामी विरक्त साधु भी संसार में स्त्रियों का तिरस्कार करते हुए नहीं दिखाई देते। नारी-जाति को सृष्टि के उत्तमांग की भाँति ही सर्वत्र स्थान मिला है। चित्रकार अपने पात्रों को वाक्‌शक्ति देने में असमर्थ है, पर उसने स्त्री-पात्रों के चेहरों के भाव और हाथ की विविध मुद्राओं द्वारा इस कमी की अच्छी तरह से पूर्ति कर दी है। प्रणाम करते हुए हाथ, पात्र धारण किये हुई हथेली, या पंखा या चमर झालती हुई अंगुलियों की अगणित छटाओं का अजंता में बहुत बड़ा भंडार है। यदि आप ढोल पर ताल देती हुई अंगुलियाँ या करताल बजाती हुई हथेलियाँ और उनके सामने नृत्यमय स्थिति में खड़े हुए मनुष्यों को देखें तो आपको यही विचार आयगा कि अजंता के चित्रकार ने एक अद्भुत युग को देखा, जाना और उपभोग किया है। अजंता को देखने के बाद अनेक मनुष्य उस तरह के हाव-भाव तथा छटा को समझते और उसमें आनंद प्राप्त करते हुए देखे गये हैं। अजंता देखने के बाद उस युग के मनुष्यों के सामने हम लोग मानो रूखे, कठोर और जड़-से प्रतीत होते हैं।

इतिहास

यह कहना कुछ बेजा नहीं है कि इन कलामंडपों का पूर्व इतिहास प्रायः अज्ञात है। फिर चित्रों में जिन घटनाओं और कथाओं का वर्णन है, वे तो और भी पहले की हैं, इसलिये वे भी अजंता का समय-निरूपण करने में विशेष सहायता नहीं करतीं।

चीन से पाँचवी शताब्दी में फ़ाहियान और सातवीं शताब्दी में ह्युएनचांग भारत की यात्रा करने आये थे। उन्होंने इस तरह की अनेक गुफ़ाओं के वर्णन लिखे हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ से चित्रकला की शिक्षा प्राप्त कर वे अपने साथ अनेक चित्र भी चीन ले गये थे। उन्होंने लिखा है कि उन्हें यह शिक्षा भारत के आचार्यों से प्राप्त हुई थी। ह्युएनचांग ने एक स्थान में लिखा है कि वह खुद अजंता तो न जा सका था, पर उसने उसकी बड़ी प्रशंसा सुनी थी। उसने लिखा है कि 'महाराष्ट्र का राजा पुलकेशी द्वितीय है। उसके राज्य में पूर्व ओर के पहाड़ों में, नदी के मूल-देश के समीप, विहार खुदे हुए हैं, और उन विहारों की दीवारों पर तथागत के जन्मान्तरों की कथा के चित्र अंकित हैं।' निःसंदेह यह वर्णन अजन्ता का ही मालूम होता है।

इस बात से सभी विद्वान् सहमत हैं कि अजंता की ९ और १० नम्बर की गुफ़ाएँ सबसे अधिक पुरानी हैं, क्योंकि उनकी कारी-गरी भरहुत, अमरावती और साँची के शिल्प से--जो पहली

शताब्दी के हैं—बहुत मिलती-जुलती है। समय का इतना पता चलने पर यह स्पष्ट मालूम होता है कि अजंता की कला ने दो-तीन युगों का उलट-फेर देखा है। उपर्युक्त ९ और १० नम्बर की गुफ़ाओं के चित्र देखकर भी यही राय स्थिर करनी पड़ती है कि उन दिनों में भी चित्रकला की बहुत उन्नति हो चुकी थी। ये चित्र प्राथमिक दशा के प्राचीन गुफ़ावासी मनुष्यों के चित्रों की तरह न तो खिलवाड़ ही हैं, न वे नये प्रयोगों की तरह कोरी लकीरें ही; बल्कि वे जिन लोगों में बहुत दिनों से इसका व्यवहार होता चला आया है, उनके निपुण हाथों से अंकित उच्च कोटि की कलाकृतियाँ हैं। उन दिनों के साहित्य का कथन है कि बुद्ध के समय के पहले भी भारत में अनेक प्रकार की चित्रकला प्रचलित थी। उपर्युक्त बात से इस कथन की पुष्टि होती है।
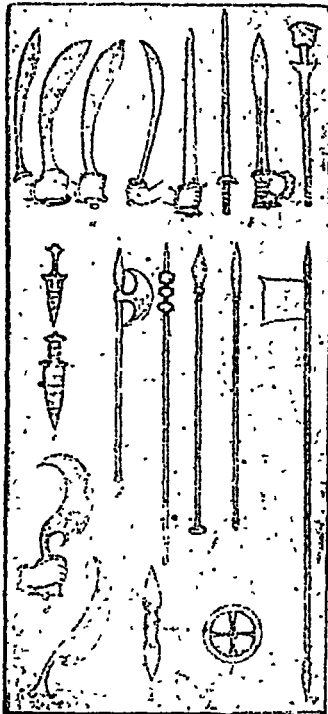
अजन्ता में चित्रित उस युग के अस्त्र-शस्त्र.

अजन्ता के चित्रों में काष्ठ और पाषाण-निर्मित भवनों का आलेखन भी दिखाई देता है, जिससे उन कलामंडपों की रचना

का समय निर्धारित करने में कुछ-कुछ सहायता मिलती है। निस्सन्देह किसी समय अजन्ता की चित्र-पद्धति समस्त भारतवर्ष में प्रचलित होगी, परन्तु विदेशियों के आक्रमण, आपस की फूट आदि कारणों से वह इस प्रकार नष्ट होगई है कि आज उसके नाम का भी पता नहीं चलता! अजन्ता पहाड़ के गर्भ में है तथा उसके चित्र पक्की दीवारों पर अंकित हैं, इसी कारण वे इतने परिमाण
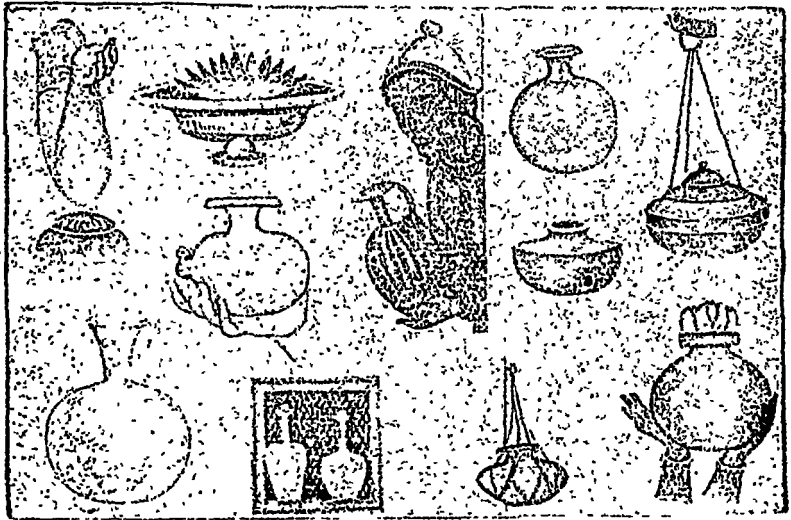
अजन्ता के बरतन

में सुरक्षित रह सके हैं। इस समय इन गुफाओं का समय इस प्रकार माना जाता है—गुफा नम्बर ९ और १० प्रायः पहली शताब्दी की; नम्बर १० के स्तम्भ क़रीब ३५० वर्ष बाद के; १६ और १७ नम्बर की गुफाएँ इसके बाद ५०० वर्ष तक की और गुफा नम्बर १ और २ सन् ६२६ से ६२८ ईसवी की।

अजन्ता में इन सात-आठ सौ वर्षों में अनेक प्रकार की

चित्रकारी हुई थी। यदि उन सबों पर काल और अत्याचारियों की कुटिल दृष्टि न पड़ी होती, तो आज वहाँ चित्रों का महासागर दिखाई देता। इस समय जो चित्र बचे हुए हैं, उनपर भी बहुत वार हो चुके हैं और वे धुएँ से विकृत हो गये हैं; परन्तु अब निज़ाम-सरकार के निरीक्षण में उनकी समुचित मरहमपट्टी और उपचार हुआ करता है, जिसके लिए समस्त संसार उसका चिर-कृतज्ञ रहेगा।

अजन्ता का अस्तित्व वर्त्तमान जगत् में सर्वप्रथम सन् १८२४ में जनरल सर जेम्स को मालूम हुआ था। वे स्वयं व्यक्तिगत रूप से वहाँ गये थे और उसका संक्षिप्त परिचय लिखकर 'रॉयल एशियाटिक सोसायटी' को दिया था। इसके बाद सन् १८४३ में मिस्टर फ़र्ग्यूसन ने उसका विस्तृत और हूबहू वर्णन लिखा और तब से विद्वानों का ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ। सन् १८४४ में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने उसके चित्रों की नक़ल करा लेना स्थिर किया और मद्रास की सेना के मेजर आर० जिल को यह काम सौंपा गया, और यह काम १८५७ के ग़दर तक चलता रहा। क़रीब तीस प्रतिलिपियाँ तैयार हुईं और इंगलैंड के क्रिस्टल-प्रासाद में उनकी प्रदर्शनी की गई। सन् १८६६ में आग लगने पर वे समस्त प्रतिलिपियाँ जल गईं। उन चित्रों के अब ट्रेसिंग या फ़ोटोग्राफ़ भी उपलब्ध नहीं है! यदि वे भी मिलें, तो हमें बहुतसी बातें देखने को मिल सकती हैं, क्योंकि उसके बाद भी बहुतसे चित्र झर पड़े हैं या नष्ट हो गये हैं।

इसके बाद मि० फ़र्ग्यूसन ने पुनः सरकार से अनुरोध किया और मूल चित्रों की नक़ल कराने का काम बंबई के आर्ट-स्कूल के प्रिंसिपल मि० ग्रिफ़िथ को सौंपा गया। वे पहले खुद अजंता जाकर सब कुछ देख आये, बाद को सन् १८७२ से लेकर सन् १८८१ तक स्कूल के विद्यार्थियों की सहायता से गुफ़ाओं की नाप आदि ली और छत तथा स्तंभों के कतिपय चित्रों की नक़लें तैयार कीं। इसमें पचास हज़ार से भी अधिक ख़र्च पड़ा। सन् १८८५ में यह काम बंद कर दिया गया। सन् १८९६ में इस विषय के दो बड़े ग्रंथ तैयार हुए। इन दोनों में अनमोल सामग्री भरी हुई थी। इन ग्रन्थों की मूल प्रतियाँ इंग्लैंड में भारत-मंत्री के संरक्षण में रखी गई थीं। मिस्टर ग्रिफ़िथ तो उन्हें बम्बई के आर्ट-स्कूल में ही रखना चाहते थे, किन्तु इसके लिये सरकार से अनुमति न मिल सकी। उन्होंने इनकी नक़ल करा लेनी चाही, परंतु भारतमंत्री ने यह प्रार्थना भी स्वीकार न की! अंत में यह चित्र भी भारत-मंत्री के दफ़्तर में आग लगने पर स्वाहा हो गये, शेष रह गये केवल उनके फ़ोटोग्राफ़!

इसके बाद सन् १९१५ ई० में लेडी हैरिंगहम कई भारतीय चित्रकारों के साथ अजंता गईं और उन्होंने केवल घटना-मूलक चित्रों की ही नक़लें कराईं। उस समय तक अजन्ता में निरीक्षण का कोई प्रबन्ध न था, इसलिये उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा और संभवतः इसी कारण उनके कार्य में बहुतसी त्रुटियाँ रह गई हैं। फिर भी उनके कार्य की संसार ने

प्रशंसा की, और उसी पर निज़ाम-सरकार ने उनपर पक्का कब्ज़ा कर प्रचुर व्यय से वहाँ सफ़ाई और थोड़ी-बहुत मरम्मत कराई। निज़ाम-सरकार की ओर से गुफ़ाओं की रक्षा के लिए एक क्यूरेटर की नियुक्ति की गई। यह पद मि० सैयद अहमद को दिया गया, जो पहले लेडी हैरिंगहम के दल में सम्मिलित थे और चित्रों की नक़लें करने में सहायता करते थे। मि० सैयद अहमद ने क्यूरेटर के पद पर आने के बाद जिन चित्रों की नक़लें तैयार की हैं, उनमें बहुत ही सावधानी रखी गई है; फलतः उनमें प्रामाणिक सादृश्य दिखाई देता है।

सन् १९२६ में औंध-नरेश श्रीमान् बाला साहब पन्त प्रतिनिधि ने भिन्न-भिन्न प्रान्तों के चित्रकारों के एक दल को अजन्ता में एक मास तक रहने की सुविधा प्रदान कर वर्तमान समय के समस्त साधनों की सहायता से गुफ़ा के कुछ चित्रों की नक़लें तैयार कराईं, जो बहुत ही आधारभूत बन सकी हैं। इन पंक्तियों के लेखक को भी उस दल में रहकर अजंता की छाया में दीक्षा ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, और उस यात्रा के फलस्वरूप ही यह लेख लिखा गया है। कलारसिक पाठकों का चित्त इस लेख को पढ़कर अजन्ता की ओर आकर्षित हो, वे अजन्ता की यात्रा करें और उनकी कला-भक्ति नई शक्ति प्राप्त करे, यही हमारी आन्तरिक अभिलाषा है।

—रविशंकर रावल

श्रीमती सरोजिनी नायडू

(१)

श्रीमती सरोजिनी का जन्म, दक्षिण-भारत की प्रसिद्ध मुसलमानी रियासत हैदराबाद की राजधानी में, १३ फ़रवरी, सन् १८७९ ई० में हुआ। आपके पिता का नाम श्रीअघोरनाथ चट्टोपाध्याय था। इन्होंने ब्रह्मनगरम् के एक प्राचीन तथा कुलीन ब्राह्मण-वंश में जन्म लिया था। इनके पूर्वज समस्त पूर्व-बंगाल में, अपनी संस्कृतज्ञता तथा योगाभ्यास के लिये, प्रसिद्ध रह चुके थे। सरोजिनी के पिता ने स्वयं बड़ी उच्च शिक्षा पाई थी। उन्होंने सन् १८७७ ईसवी में, स्कॉटलैंड के प्रसिद्ध एडीनबरा-विश्वविद्यालय से, विज्ञानाचार्य (डॉक्टर ऑफ़् साइंस) की उपाधि प्राप्त की थी; तदनंतर जर्मनी के प्रसिद्ध विद्या-केन्द्र 'बॉन' में भी बड़ी योग्यता से शिक्षा पाई। इस प्रकार योरप से शिक्षा प्राप्त करके लौटने पर आपने ही हैदराबाद में निज़ाम-कॉलेज की स्थापना की; और जब तक जीवित रहे, शिक्षा के क्षेत्र में ही स्वार्थत्याग के साथ अपना समय व्यतीत करते रहे। श्रीअघोरनाथ चट्टोपाध्याय बड़े प्रतिभाशाली पुरुष थे। परोपकार और विज्ञान, ये ही दो आपके व्यसन

थे; इन्हीं में आप अपना धन खर्च किया करते थे। आपकी लोकप्रियता प्रसिद्ध थी। आपका द्वार सदा, सभी के लिये, खुला रहता था। आपके यहां सभी धर्मों के विद्वान् जमा हुआ करते थे। राजा से रंक तक, महात्मा से लेकर गुंडों तक, सभी आपके यहां समान रूप से स्वागत पाते थे। आपकी आत्मा महान् थी; आप सत्य के अनुसन्धान में सदा तत्पर रहते थे। उनका जीवन बड़ा पवित्र था। बड़े भारी वैज्ञानिक होकर भी आपने कवि-हृदय पाया था। अस्तु; सरोजिनी ने कवित्व का अंश केवल अपने पिता से ही नहीं प्राप्त किया। इनकी माता श्रीमती वरदासुंदरी देवी भी कवि थीं। अपनी युवावस्था में इन्होंने भी बँगलाभाषा में कुछ अत्यन्त सुन्दर कविताओं की रचना की।

ऐसे प्रतिभाशाली मा-बाप की संतान सरोजिनी स्वयं कैसे प्रतिभाशालिनी न होती। सरोजिनी तथा उनके भाई-बहनों ने अपने माता-पिता के निरीक्षण में जैसी शिक्षा पाई, वैसी आजकल के ज़माने में बहुत कम लोगों को नसीब होती है। सरोजिनी अपने माता-पिता की पहली सन्तान हैं। इनके सभी भाई-बहनों को शुरू से ही अँगरेजी भाषा की शिक्षा दी गई। यह शिक्षा बहुत विधिपूर्वक दी जाती थी। स्वयं डॉक्टर अघोरनाथ उस ओर ध्यान देते तथा अपनी सन्तान पर तीव्र निरीक्षण रखते थे। ९ वर्ष की अवस्था में सरोजिनी को केवल अँगरेज़ी में संभाषण न कर सकने के अपराध में दण्ड मिला था। इसका उल्लेख सरोजिनी ने स्वयं किया है।

श्रीमती सरोजिनी ने अपने कतिपय पत्रों में अपने पिता तथा अपनी बाल्यकाल की शिक्षा का वर्णन किया है। इनके पिता इन्हें गणित-शास्त्र तथा विज्ञान की विदुषी बनाने के उद्योग में लगे थे, परन्तु इन विषयों में सरोजिनी की विशेष अभिरुचि न थी। यद्यपि बाल्यावस्था में कविता लिखने की ओर इनका विशेष ध्यान न था, तथापि यह बड़ी कल्पनाशील थीं। आप अपने एक पत्र में लिखती हैं—"एक दिन, जब कि मेरी अवस्था ११ वर्ष की थी, मैं बीजगणित के एक प्रश्न पर बैठी खीझ रही थी; सवाल ठीक निकलता ही न था। उसके बदले एक पूरी कविता मेरे मन में आ गई और मैंने उसे लिख डाला।"

बारह वर्ष की अवस्था में सरोजिनी ने मद्रास-युनिवर्सिटी की मैट्रिक्युलेशन (प्रवेशिका) परीक्षा पास कर ली। उस समय भारत में स्त्री-शिक्षा, आजकल के देखते, बहुत पिछड़ी दशा में थी। ऐसी छोटी अवस्था में मैट्रिक्युलेशन परीक्षा ही पास कर लेने से संपूर्ण भारत में आपका नाम हो गया, पर स्वयं सरोजिनी को अपनी इस सफलता पर विशेष प्रसन्नता नहीं हुई। इँगलिस्तान के प्रसिद्ध साहित्यिक मिस्टर आर्थर साइमन्स से, यह प्रसंग आने पर, आपने स्वयं कहा था—"मैं सच कहती हूँ, इससे मुझे प्रसन्नता नहीं हुई। ऐसी बातों से मुझे प्रसन्नता नहीं हो सकती।" बात यह है कि सरोजिनी को कविता की धुन लग चुकी थी; और यद्यपि उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहा करता था, तथापि वह कविता के अध्ययन में ही विशेष लगी रहती थीं।

आपने तेरह वर्ष की अवस्था में, स्कॉट की अँगरेज़ी-कविता 'लेडी ऑफ़ दि लेक' के ढंग पर, १३०० पंक्तियों की एक कविता छः ही दिनों में रच डाली। उसी अवस्था में इन्होंने २००० पंक्तियों का एक नाटक भी बनाया। उधर डॉक्टर लोग इनका स्वास्थ्य देखकर यह कहते थे कि इन्हें पुस्तक छूने न देनी चाहिए। परंतु सरोजिनी कुछ न मानतीं। यहाँ तक कि उक्त रचना इन्होंने केवल डॉक्टर की आज्ञा की अवहेलना-मात्र करने के लिये की थी। यह रचना बड़ी भावमयी हुई। नियमित पाठ-क्रम बंद हो जाने के कारण सरोजिनी ने बाहरी किताबें ख़ूब पढ़ीं। आप लिखती हैं— "अपनी समझ में मैंने १४ और १८ वर्ष की अवस्था के बीच ही विशेष अध्ययन किया। इसी बीच में मैंने एक उपन्यास भी लिखा, और रोज़नामचों के तो बड़े-बड़े पोथे ही लिख डाले।"

श्रीमती सरोजिनी का जीवन-संग्राम इसी छोटी अवस्था से ही शुरू हो जाता है। सरोजिनी का प्रेम श्रीगोन्दिराजलु नायडू से हो गया। डॉक्टर गोविन्दराजलु नायडू (सरोजिनी के पति) यद्यपि एक प्राचीन तथा कुलीन वंश के हैं, तथापि अब्राह्मण हैं। उनसे सरोजिनी का प्रेम हो जाना सरोजिनी के घरवालों को अच्छा नहीं लगा। उधर नायडू के पक्षवाले भी यह सम्बन्ध पसंद न करते थे। यद्यपि सरोजिनी के मस्तिष्क में स्वतंत्र विचारों के बीज पड़ चुके थे, तथापि दोनों पक्षवालों के प्रतिरोध के कारण उनका विवाह गोविन्दराजलु से उस समय न हो सका। अस्तु;

सरोजिनी ने इस प्रणय को स्थगित तो कर दिया, परन्तु विवाह का विचार नहीं छोड़ा।

सरोजिनी को हैदराबाद के निज़ाम की ओर से विलायत जाने के लिए एक वज़ीफ़ा मिल गया। सन् १८९५ ईसवी में, अपनी इच्छा के प्रतिकूल, सरोजिनी उच्च शिक्षा-प्राप्ति के लिये इँगलिस्तान भेजी गईं। वहाँ पहले तो इन्होंने लंदन के प्रसिद्ध किंग्स कालेज में, और फिर गर्टन में रहकर विद्याध्ययन किया। इँगलिस्तान में वह लगभग तीन वर्षों तक रहीं। इसके बाद वहाँ भी इनका स्वास्थ्य बिगड़ने लगा, जिसके कारण वह सन् १८९८ ई० में हैदराबाद लौट आईं।

इँगलिस्तान में रहकर श्रीमती ने अपने समय का बहुत अच्छा उपयोग किया। विद्या-लाभ के अतिरिक्त आपने वहाँ के कई बड़े-बड़े साहित्य-सेवियों से परिचय प्राप्त किया। उस छोटी अवस्था में भी अपने उच्च विचारों के कारण तथा व्यक्तिगत प्रभाव द्वारा आपने वहाँ के बहुतसे बड़े लोगों के हृदयों में स्थान प्राप्त कर लिया। इँगलिस्तान में रहते समय आपने इटली की भी सैर की, इटली के ऊपर आप जी-जान से मोहित हो गईं। उसके विषय में अपने विचारों को प्रकट करते हुए जो पत्र आपने मिस्टर आर्थर साइमन्स के पास भेजे थे, उनसे इस बात का पता चलता है कि आपपर इटली का कितना बड़ा प्रभाव पड़ा था। श्रीमती सरोजिनी के ये पत्र अत्यन्त उत्कृष्ट तथा सुन्दर अँगरेज़ी के नमूने हैं। इनमें प्राच्य की झलक भी स्पष्ट है।

भारत में लौटने के तीसरे ही महीने सरोजिनी ने १९ वर्ष की अवस्था में, अपने प्रणय-पात्र श्रीगोविन्दराजलु नायडू से विवाह कर लिया। यद्यपि इस विषय में भारत भर में नाना प्रकार की टिप्पणियाँ हुईं, तथापि सरोजिनी ने अपने स्वतंत्र विचारों को कार्य-रूप में परिणत करके दिखला दिया। सरोजिनी का वैवाहिक जीवन बड़ा सुखमय रहा है। आपके चार सन्तानें भी हैं। श्रीमतीजी को कविता के अनुशीलन तथा सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने का पूर्ण अवकाश मिलता रहा है।

(२)

हम यह बतला चुके हैं कि सरोजिनी ने ग्यारह वर्ष ही की अवस्था से काव्य-रचना आरम्भ कर दी थी। इँगलिस्तान जाने के समय आपकी अवस्था केवल सोलह वर्ष की थी। उस समय तक वह बहुतसी कविताएँ लिख चुकी थीं। सरोजिनी के कवि-जीवन की एक घटना बड़ा ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। वह हमारे लिये केवल मनोरंजन की ही वस्तु नहीं, शिक्षाप्रद भी है। इस घटना के लिये हम एक वयोवृद्ध तथा प्रतिष्ठित अँगरेजी-साहित्यिक-मिस्टर एडमंड गॉस—के चिरकृतज्ञ रहेंगे। सौभाग्यवश आप अभी जीवित हैं *। आपकी अवस्था ७६ वर्ष की है। आप अँगरेजी-साहित्य के महारथियों में हैं। आप ही ने एक दूसरी भारतीय स्त्री-कवि—कुमारी तरुदत्त—की रचनाओं का पाश्चात्य भूखंड में प्रचार किया था।

* ई० स० १९२८ में आपका स्वर्गवास हो गया। —सम्पादक.

सौभाग्यवश, इँगलिस्तान में पहुँचने के थोड़े ही समय बाद सरोजिनी का उनसे परिचय हो गया। सरोजिनी इनके यहाँ आने जाने लगीं। भला मिस्टर गॉस से यह बात कब छिपी रह सकती थी कि सरोजिनी बड़े उत्साह से कविता लिखा करती हैं, और वह भी अँगरेज़ी भाषा में! गॉस साहब ने इनकी कविताएँ देखने की इच्छा प्रकट की। सरोजिनी ने अपनी कविताओं का बंडल उन्हें दे दिया। गॉस ने एकान्त में इनकी रचनाओं का अध्ययन और मनन किया। सरोजिनी के लिये ऐसे उत्कट समालोचक को सन्तुष्ट करना सहज न था। मिस्टर गॉस को ये कविताएँ कृत्रिम और प्रेरणा-विहीन प्रतीत हुईं। उन्हें बड़ी निराशा हुई। ऐसी अवस्था में उन्होंने जो किया, उसके लिये सरोजिनी के पाठक उनके चिर-कृतज्ञ रहेंगे। इस घटना का वर्णन उन्होंने स्वयं सरोजिनी की एक पुस्तक की भूमिका में किया है। आप लिखते हैं—"श्रीमती सरो-जिनी ने जो पद्य मुझे दिए, वे पिंगल, व्याकरण तथा भावों की दृष्टि से दोष-रहित थे; परन्तु उनमें एक बड़ी भारी कमी यह थी कि वे नितान्त व्यक्तित्व-शून्य थे। भावों तथा कल्पना की दृष्टि से वे पाश्चात्य के रंग में रँगे हुए थे। उनमें टेनिसन और शेली के रंगों का आभास होता था। यदि मैं भूल नहीं करता, तो उनमें ईसाई-मत का-सा त्याग भी झलकता था। मैंने विवादपूर्वक उन्हें उठाकर अलग रख दिया। यह तो अनुकरण करनेवाले पक्षी की वाणी थी।"

परन्तु फिर मिस्टर गॉस ने लेखिका की अल्पावस्था की ओर

ध्यान दिया—उसके उत्साह को तोड़ना उचित न समझा। उन्होंने सरोजिनी को अपनी सच्ची अनुमति देने का निश्चय किया, जिसका तात्पर्य यह था—"झूठे अँगरेजी भावों में डूबी हुई अपनी सब रचनाओं को रद्दी काग़ज की टोकरी में डाल दो। एक विचारशील भारतीय युवती से, जिसने हमारी भाषा का ही नहीं, हमारे पिंगल का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया है, हम पाश्चात्य भावों तथा कल्पनाओं की प्रतिध्वनि की आशा नहीं करते। हम प्राच्य भावों और कल्पनाओं का परिचय उससे प्राप्त करना चाहते हैं; धर्म के उन प्राचीन मन्तव्यों का दिग्दर्शन चाहते हैं, जिनका प्राच्य देशों में उसी समय अनुभव हो चुका था, जब पाश्चात्यों को अपनी आत्मा की स्थिति का ही ज्ञान न था।" उन्होंने यह आशय भी प्रकट किया—"तुम अँगरेज़ों की तरह पक्षियों—रोबिन और लवे—का वर्णन अपनी कविता में करना छोड़ दो। इसी प्रकार हमारे फलों, फूलों, वृक्षों तथा दृश्यों और भूदेशों के वर्णन का भी सदा के लिये परित्याग कर दो; हमारे गिरजाघरों के घंटों को भूल जाओ। अपने देश और प्रान्त की नदियों, पर्वतों, मंदिरों, उद्यानों, वनस्पतियों तथा निवासियों का वर्णन करो—इनके सहज प्राकृतिक भावों को व्यक्त करो। सारांश यह कि भारतीयता धारण करो, पाश्चात्य कवियों की नक़ल करने की चेष्टा में अपने व्यक्तित्व का नाश न कर डालो।"

सरोजिनी को यह बात लग गई। उन्होंने धन्यवादपूर्वक उस वृद्ध साहित्यिक की सम्मति स्वीकृत कर ली। इसके बाद स्वयं

मिस्टर गॉस का यह कहना है—सन् १८९५ के बाद श्रीमती सरोजिनी ने कोई भी ऐसी रचना नहीं की, जिसमें उनकी भारतीयता स्पष्ट न झलकती हो।" यह घटना, वास्तव में, पाश्चात्य देशों का सभी बातों में अनुकरण करनेवालों के लिये शिक्षाप्रद है। स्वयं सरोजिनी ने अपनी कृतज्ञता इस प्रकार प्रकाशित की थी—अपनी पहली कविता-पुस्तक 'स्वर्ण-देहली' (The Golden Threshold) मिस्टर गॉस को समर्पित करते हुए लिखा था–"यह पुस्तक मिस्टर एडमंड गॉस को समर्पित है, जिन्होंने सर्वप्रथम मुझे 'स्वर्ण-देहली' का मार्ग दिखाया।"

सरोजिनी की चार कविता-पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं*। इनमें पहली पुस्तक तो यही 'स्वर्ण-देहली' है। यह पहले-पहल सन् १९०५ में प्रकाशित हुई थी। इसके कई संस्करण हुए हैं। इस पुस्तक में जो कविताएँ संगृहीत हैं, उनमें से अधिकांश सन् १८९६ और १९०५ के बीच लिखी गई थीं। कुछ पद्य और गीत तो उसी समय के लिखे हुए हैं, जब आप लंदन में थीं। शेष वहाँ से लौटने पर हैदराबाद ही में लिखे गए थे। इस संग्रह में बाल्यावस्था तथा तरुणावस्था के आरम्भ में लिखी हुई कविताएँ हैं। इसमें संदेह नहीं कि कविताएँ सभी प्रथम श्रेणी की और चुनी हु । इसकी भूमिका इँगलिस्तान के प्रसिद्ध साहित्यिक पूर्वोक्त मिस्टर आर्थर साइमन्स ने लिखी है। इसी

* ये सभी पुस्तकें लन्दन के प्रसिद्ध प्रकाशक 'विलियम हैनामन' ने प्रकाशित की हैं।

पुस्तक द्वारा सरोजिनी की ख्याति की नींव पड़ी। एक भारतीय स्त्री का अँगरेज़ी भाषा में उत्कृष्ट कविता लिखना ही एक बड़े महत्त्व की बात थी। इनकी कविता का बड़ा आदर हुआ। इँगलिस्तान के प्रायः सभी बड़े पत्रों में प्रशंसात्मक आलोचनाएँ निकलीं। भारतवर्ष में सरोजिनी यों भी अप्रसिद्ध न थीं। विदेशों में इनकी रचना की प्रशंसा सुनकर भारत-वासियों का हृदय खिल उठा। इनकी कीर्ति भारत भर में और भी फैल गई।

सरोजिनी की दूसरी पुस्तक का शीर्षक था—'जीवन और मृत्यु-विषयक कविताएँ' (Poems of Life and Death)। शीर्षक सार्थक है। आपकी तीसरी पुस्तक—'काल-पक्षी' (The Bird of Time)—तो बहुत ही प्रसिद्ध हुई। यही आपकी सर्वोत्तम पुस्तक है। यह सन् १९१२ में प्रकाशित हुई थी। अतएव इनकी पहली पुस्तक और इस पुस्तक के प्रकाशन में सात वर्षों का अन्तर है। इस बीच में आपने सामाजिक तथा सार्वजनिक कार्यों में भाग लेना आरंभ कर दिया था। मानसिक और शारीरिक श्रम के कारण आपका स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं रहता था। इन कार्यों में लगे रहने पर भी आपने कविता का व्यसन छोड़ा नहीं था। बीच-बीच में भारतीय तथा विदेशी पत्र-पत्रिकाओं में आपकी रचनाएँ प्रकाशित होती ही रहीं। इस पुस्तक में उन्हीं कविताओं का संग्रह है। 'काल-पक्षी' में श्रीमती सरोजिनी की कविता ने और भी प्रौढ़ता प्राप्त कर ली। इनके यश की वृद्धि हुई; पाठकों की संख्या बढ़ी। इनकी ख्याति अँगरेज़ी-भाषा-भाषी देशों

तक ही नहीं फैली, बल्कि इनकी रचनाओं के अनुवाद फ्रेंच और जर्मन भाषाओं में भी हुए। इस पुस्तक की भूमिका के लेखक वही महाशय एडमंड गॉस हैं, जिन्होंने सरोजिनी को भारतीय रंग में डूबी हुई कविताएँ करने का परामर्श दिया था। फिर पाँच वर्षों के बाद, सन् १९१७ में, आपकी चौथी पुस्तक—'टूटा हुआ डैना' (The Broken Wing) प्रकाशित हुई। अब तक प्रकाशित कविता-पुस्तकों में यही आपकी अन्तिम पुस्तक है।

सामाजिक तथा सार्वजनिक कार्यों की ओर सरोजिनी की जो प्रवृत्ति आरंभ ही से थी, उसका वर्णन आ चुका है। आपकी यह प्रवृत्ति बढ़ती गई। इसके कारण कविता के व्यसन को भी किंचित् स्थगित करना पड़ा। इस अन्तिम पुस्तक में एकत्र की गई अधिकांश कविताएँ सार्वजनिक कार्यों से समय निकालकर, सन् १९१५-१६ में, लिखी गई थीं। ज्यों-ज्यों सरोजिनी सार्वजनिक कार्यों में अधिकाधिक लीन होती गई, त्यों-त्यों उनके कवित्व में कुछ क्षीणता आती गई। समालोचकों ने उन्हें पहले से ही जता दिया था कि राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण करना आपकी कविता को क्षति पहुँचावेगा। परंतु देश-सेवा के प्रश्न उन्हें महत्तर जान पड़े; और इसमें संदेह नहीं, कविता की ओर उन्होंने समुचित ध्यान नहीं दिया। फल यह हुआ कि आपकी अन्तिम पुस्तक कविता की दृष्टि से उतनी उत्कृष्ट नहीं हुई, जितनी कि प्रथम तीन पुस्तकें। यद्यपि इस पुस्तक के कुछ अंश हमें पूर्व-सरोजिनी की

स्मृति दिलाते हैं, तथापि सब मिलकर यह पुस्तक पहली पुस्तकों से गिरी हुई है।

समालोचकगण श्रीमती सरोजिनी की राजनीतिक प्रवृत्ति को उनकी कवित्व-शक्ति के ह्रास का कारण बतलाते हैं, पर हमारा उनसे मतभेद है। हम स्वीकार करते हैं कि इन दोनों बातों में पारस्परिक सम्बन्ध है; परन्तु वह सम्बन्ध कैसा है ? हमारे विचार में उनकी राजनीतिक प्रवृत्ति उनके कवित्व के ह्रास का कारण नहीं, परिणाम है। हमारा यह अनुमान करना अनुचित है कि सरोजिनी अपने वास्तविक उद्देश्य से विमुख हैं। वास्तव में वह कवि हैं; स्वयं अनेकों बार इस बात पर ज़ोर दे चुकी हैं कि मैं कवि हूँ, राजनीतिज्ञ नहीं। परन्तु कविता के लिये प्रेरणा हुआ करती है। उस प्रेरणा को कवि ही समझ सकता है। सरोजिनी की यह प्रेरणा क्षीण हो रही थी। उन्होंने उसे रोकने का प्रयास अपनी अन्तिम पुस्तक में किया है, पर वह असफल रहा। वे रचनाएँ अनैसर्गिक प्रतीत हुईं। बिना प्रेरणा के कविता रचना ठीक नहीं कहा जा सकता। प्रेरणा जीवन से संसर्ग प्राप्त होने पर जागृत होती है। हमारी राय में, राजनीति के क्षेत्र में उनका आना अपनी लुप्त प्रेरणा को पुनः प्राप्त कर लेने का साधन होगा। उनके समालोचक भी यह स्वीकार करते हैं कि हम सरोजिनी से भविष्य में आशा रख सकते हैं। वह भविष्य जहाँ तक शीघ्र आवे अच्छा है। यह निश्चय है कि वह अब जो कविताएँ लिखेंगी, उनमें नया रंग रहेगा। सरोजिनी के जीवन में हमें नित्य-प्रति

परित्याग तथा तपश्चर्या की मात्रा अधिकाधिक दिखलाई पड़ती है। हमें आशा है, श्रीमती सरोजिनी की आगामी कविताओं में हम वह रंग पावेंगे, जो उनकी 'स्वर्ण-देहली' पुस्तक की अन्तिम कविता—'पद्मासीन बुद्ध'—में है।

(३)

श्रीमती सरोजिनी की कविता की विशेषताओं की कुछ आलोचना भी आवश्यक है। सरोजिनी का प्रधान गुण उनकी भारतीयता है। यद्यपि श्रीमती की रचनाएँ अँगरेज़ी में होती हैं, और यद्यपि उक्त भाषा की शैली, प्रवृत्ति तथा उसके विचार-केन्द्र हमसे सर्वथा पृथक् हैं, तथापि इन रचनाओं में हमें अपने देश के भावों का ही प्रतिबिम्ब मिलता है। उनमें कहीं भी विदेशीयता की बू नहीं आने पाई। किस प्रकार मिस्टर एडमंड गॉस के उपदेश से सरोजिनी की प्रेरणा स्वदेशी भावों के प्रति जागृत हुई थी, यह हम पहले लिख चुके हैं। कुछ भी हो, इसके अतिरिक्त कि सरोजिनी की रचनाएँ विदेशी भाषा में होती हैं, उनकी कविता में और कोई विदेशीपन नहीं आने पाया। उनकी कविता में सर्वत्र अपने देश के दृश्यों का, फल-फूल-लता-पल्लवों का, पशु-पक्षियों का वर्णन तथा अपने ही देश की जनता के रस्म-रवाज, उत्सवों और त्योहारों का वृत्तान्त, अपने देश की ऋतुओं का हाल एवं अपने ही देश की सरिता और पर्वतों से प्रेम पाया जाता है। सारांश यह कि अपने ही देश और समाज के चित्र अंकित हुए हैं। यही नहीं कि

विषयों के चुनाव में ही भारतीयता देख पड़ती हो, प्रत्युत उपमाओं और अलंकारों में भी भारतीयता झलकती है। सरोजिनी की रचनाएँ प्रधानतः अँगरेज़ी-पाठकों के निमित्त लिखी गई हैं; और जिस प्रकार हमारे देश के रहन-सहन, आचार-विचार और सभ्यता का दिग्दर्शन कराया गया है, उससे बहुत बड़ा देशहित का साधन होता है। इससे पूर्व और पश्चिम का सम्पर्क घनिष्ठ होता है। इनकी कविता की प्रशंसा करते हुए विलायत के एक प्रसिद्ध पत्र ने लिखा था—"इन कविताओं ने एक ऐसा नया द्वार खोल दिया है, जिसके द्वारा यदि पाश्चात्य लोग चाहें, तो पूर्व का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।" वास्तव में बात भी यही है। श्रीमती सरोजिनी देशप्रेम में डूबी हुई हैं, परन्तु उनका स्वदेश-प्रेम संकुचित नहीं है। यह देश-प्रेम उनकी दृष्टि में उस महान् विश्व-प्रेम का अंग-मात्र है, जिसके लिये समस्त संसार को महान् आत्माएँ प्रयत्न-शील हैं। यही कारण है कि उनकी कविता ने केवल भारत-वासियों से ही नहीं, विदेशियों से भी प्रशंसा पाई है। उनका प्रेम वर्ग, जाति अथवा संप्रदाय-विशेष तक ही संकुचित नहीं है। उनकी सहानुभूति सर्वव्यापी है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैन, पारसी आदि के भेदभावों से वह बहुत ऊपर और बहुत पृथक् हैं।

जिस प्रकार उनकी कविता में जाति-पाँति का भेद नहीं, उसी प्रकार ऊँच-नीच का भी नहीं है। स्वयं श्रीमती ने उच्च कुल में जन्म लिया है, धन की गोद में पली हैं, परंतु वह प्राणी-मात्र से सम भाव रखती हैं। हमारे सरल ग्रामीणों के हृदयों में उनकी अच्छी

तरह से पैठ है। उन्हें उनके सुख-दुःख, राग-रंग और रहन-सहन की केवल जानकारी ही नहीं, सच्ची सहानुभूति भी है। यही कारण है कि हमारे ग्रामीणों के विषय में वह बड़ी सुन्दर कविता कर सकती हैं। उनकी कविताओं में हमें अपने ग्राम्य जीवन का सजीव परिचय प्राप्त होता है।

उनकी कविता का एक दूसरा प्रधान गुण उसकी संगीत-संगति है। जिस समय सरोजिनी से मिस्टर आर्थर साइमन्स ने अपने स्फुट पद्यों को एकत्र करके छपाने का अनुरोध किया था, उस समय आपने अपनी अनिच्छा प्रकट करते हुए लिखा था—"मेरा संगीत पक्षियों के संगीत की भाँति है, उसी प्रकार क्षणिक है × × ×. क्या यह सम्भव है कि मैंने सुंदर गीत लिखे हैं, और वे प्रकाशन करने के योग्य हैं?" इसपर उक्त समालोचक ने यह यथार्थ टिप्पणी की है—"इन पद्यों की विशेषता यही है कि इनमें पक्षियों का-सा संगीत है।" यही सरोजिनी की कविता का वास्तविक तथा प्रधान गुण है। इनकी सभी कविताएँ छोटी हैं, परन्तु उनमें भावों की एकाग्रता और शब्दों का मितव्यय है। अँगरेज़ी में ऐसी कविताओं को 'लिरिक्स' कहते हैं। इसी प्रकार की कविताएँ उनके लिये सहज और उनकी प्रकृति के अनुकूल हैं। मैं यह अनुमान करने का साहस करता हूँ कि बड़ी कविताएँ लिखने में कदाचित् वह इतनी सफल न हों। कारण, एकाग्रता और विस्तार; इन दोनों ही में प्रतिद्वन्द्विता है; और इसमें आश्चर्य ही क्या, जो हाथीदाँत के टुकड़ों पर काम करनेवाला नक़्क़ाश

नाट्य-मंच के बड़े-बड़े परदे बनाने के योग्य न ठहराया जाय। यह बात नहीं कि उनकी कविताओं में चित्रों की विभिन्नता न हो—प्रत्येक पंक्ति एक नया चित्र आँखों के सामने उपस्थित करती है। परंतु हमें केवल एक झलक मिलती है—हमारे नेत्र अतृप्त रह जाते हैं और सौन्दर्य-पिपासा निरन्तर बनी ही रहती है। ऐसा प्रभाव केवल अत्यन्त उत्कृष्ट श्रेणी की कविता ही हमारे ऊपर डाल सकती है।

अँगरेज़ी पर आपको जो अधिकार प्राप्त है, वह अत्यन्त सराहने योग्य है। उस भाषा में आपकी कहाँ तक पहुँच है, इसकी सच्ची विवेचना अँगरेज़ ही कर सकते हैं। महाशय एडमंड गॉस जैसे सहज में प्रसन्न न होनेवाले विद्वान् और समालोचक की निम्न-लिखित सम्मति इस सम्बन्ध में भी बहुत मूल्यवान् है—

"वास्तव में मैं यह विश्वास करने के लिये प्रस्तुत नहीं हूँ कि आज तक जितने हिन्दोस्तानियों ने अँगरेज़ी में रचनाएँ की हैं, उनमें इन (सरोजिनी) की रचनाएँ सब से चमत्कारिक, सबसे मौलिक तथा सबसे शुद्ध होती हैं।"

समालोचक का तात्पर्य पद्य-रचना से जान पड़ता है। एक दूसरे बड़े अँगरेज़ समालोचक ने इनकी भाषा की प्रशंसा करते हुए लिखा था—"ये कविताएँ रचना की दृष्टि से तो निर्दोष हैं ही; पर कवि की पूर्वीयता ने इनमें एक विशेष रंग ला दिया है। इनकी कविताएँ पढ़ने के बाद हमें अपनी मातृ-भाषा और भी मधुर प्रतीत होती है।"

आपकी भाषा की इससे अधिक और क्या प्रशंसा हो सकती है? आप अँगरेज़ी की विदुषी अवश्य हैं; परन्तु आपने अपने पूर्वीय रंग को छोड़ा नहीं, और इस प्रकार आपकी रचनाओं में पूर्व और पश्चिम के सम्मिलन का अच्छा दिग्दर्शन होता है। आपकी भाषा अलंकृत, प्रवाहमयी और सुंदर होती है। आपका गद्य भी अत्यन्त सरस होता है। सरलता के भी अनेकों उदाहरण मिलते हैं। परंतु आपकी कविता सरल हो चाहे अलंकृत, सदा उच्च साहित्यिक कोटि की होती है। अँगरेज़ी में आपके प्रवेश और अधिकार का एक यह भी प्रमाण है कि गूढ़-से-गूढ़ भावों को आप बहुत थोड़े शब्दों में सरसतापूर्वक प्रकट कर देती हैं।

सरोजिनी को केवल अँगरेज़ी पर ही नहीं, बल्कि उसके पिंगल पर भी असाधारण अधिकार है। आपने अनेकों अँगरेज़ी-छंदों में कविता की है और सभी प्रकार के छंदों में सफलता भी पाई है। आपने छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी पंक्तियों के छंदों का प्रयोग किया है। आपने भारतीय जोगीड़ों पर 'इंडियन डान्सर्स' (Indin Dancers) शीर्षक देकर एक कविता की है। इसमें छंद-रचना-कौशल की पराकाष्ठा दिखला दी है। भाषा, भाव, छंद और शब्द-विन्यास, सभी का अपूर्व सम्मिलन है। पढ़कर जी फड़क उठता है, और उन्हीं जोगीड़ों के साथ नाचने लगता है। खेद है, उनका अनुवाद असम्भव है। त्वरित गतिवाले छंद आपको विशेष प्रिय हैं। उक्त कविता का मादकता 'प्रेम-नृत्य'

(The Dance of Love)-शीर्षक कविता में भी मिलती है, परंतु वहाँ नर्तकों में उतनी द्रुत गति नहीं है। कारण, इस कविता में रात्रि अधिक बीत चुकी है। इनकी कुछ कविताएँ सुनकर मेरे एक साहित्य-प्रेमी मित्र ने मुझसे कहा था—"सरोजिनी संगीत कहीं शेली (Shelley) का-सा है, तो कहीं स्विनबर्न (Swinburne) का-सा"। अँगरेज़ी-साहित्य में, संगीत की दृष्टि से, इन्हीं दो कवियों का स्थान सबसे ऊँचा है। सच बात यह है कि सरोजिनी का अपना रंग निराला ही है। अपने छन्दों में सरोजिनी ने कुछ भारतीय छन्दों का भी समावेश किया है; कई कविताएँ उर्दू-लय में लिखी हैं। 'सुनलिनी के लिये लोरी' (Slumber-song for Sunalini)-शीर्षक कविता बंगाली-लय में अत्यंत सुन्दर हुई है। इस प्रकार सरोजिनी ने अपने छंदों में भी पूर्वीयता का परित्याग नहीं किया।

इसमें संदेह नहीं, श्रीमती की कविता का एक बड़ा अंश प्रेम और शृंगार-रस में डूबा हुआ है, तथापि और रसों का अभाव नहीं है। 'पद्मासीन बुद्ध' पढ़कर हम शांत-रस में डूब जाते हैं। यथा—

"हे प्रार्थनामय नेत्रोंवाले, अभय-मुद्रा में स्थित पद्मासीन भगवान् बुद्ध, यह कैसा अक्षुण्ण, अनंत तथा रहस्यमय परमानंद तुम्हें प्राप्त है! तुम्हारी कैसी परम शान्ति है, जिसका हमारी दृष्टि को आभास नहीं हो सकता, और जो मनुष्य-संसार के लिये दुर्लभ है!

उचित है। उनका प्रकृति-वर्णन बहुत सच्चा और सुन्दर होता है।

यद्यपि सरोजिनी की सहानुभूति सर्वव्यापी है, यद्यपि उनकी कविता में हिन्दू-मुसलमान-पारसी-ईसाई आदि का भेद-भाव नहीं मिलता, तथापि यह कहना यथार्थ ही है कि उसपर हिन्दूपन की छाप है; जीवन के प्रश्नों पर अवेक्षण का ढंग सर्वथा हिन्दू का ही है।

सरोजिनी कवित्व के महान् आदर्शों को भली भाँति समझती हैं। उनका कविता का आदर्श स्वयं बहुत ऊँचा है। अपनी कविता में, और अन्यत्र भी, आपने इस आदर्श के उद्‌गार भी प्रकट किए हैं। 'इन दि फ़ॉरेस्ट' (वन में)-शीर्षक पद्य में आप लिखती हैं—

"हे मेरे हृदय, हमें शीघ्र ही उठना होगा, और संसार-युद्ध तथा जन-समूह के कोलाहल में सम्मिलित होना होगा। ××× हे मेरे हृदय, आ, हम उठें और अपने बचे हुए स्वप्नों को एकत्र करें। हम जीवन की वेदना पर संगीत की वेदना से विजय प्राप्त करेंगे।"

सरोजिनी की सदा से यह इच्छा रही है कि वह कवि का वास्तविक उद्‌गार प्राप्त करें। अपनी कविता के विषय में वह एक पत्र में लिखती हैं—

"यह संभव है कि मैंने सौन्दर्य-पूर्ण पद्य लिखे हैं ××× आप जानते हैं, मेरा कला का आदर्श कितना उच्च है, और मेरी दृष्टि में मेरे तुच्छ और स्फुट पद्य मुझे पूर्ण रूप से सुन्दर नहीं

प्रतीत होवे। मेरा तात्पर्य उस सनातन सौन्दर्य से है, जिसकी मुझे महती अभिलाषा रहती है।"

यद्यपि अपनी कविता के सम्बन्ध में सरोजिनी की आशंका निर्मूल है, तथापि इस अवतरण से हमें उनके महान् आदर्श की झलक जरूर मिलती है। वास्तविक कवित्व का उद्गार प्राप्त करना श्रीमती के जीवन की प्रधान आराधना है। इसी आराधना में वह अनन्त सुख तथा दुःख का अनुभव करती हैं।

—रामचन्द्र टंडन

विज्ञानाचार्य एडीसन

विज्ञान से संसार को अकथनीय लाभ हुआ तथा उसने अपने चमत्कार से सारे जगत् को जगमगा दिया है। यहाँ तक कि वह हमारे जीवन के लिए अत्यन्त लाभदायक बन गया है। वे लोग धन्य हैं, जिन्होंने अपने विशाल मस्तिष्क द्वारा अनेक अभूत-पूर्व आविष्कार कर अपने देश या राष्ट्र का सिर ऊँचा किया है। विज्ञानाचार्य एडीसन भी ऐसे ही प्रतिभाशाली महान् पुरुषों में समझे जाते हैं। आपने एक अति साधारण परिवार में जन्म ग्रहण कर वह काम किये, जिनके कारण आज बड़े-बड़े विद्वान् और बुद्धिमान् आश्चर्य-सागर में डूबे हुए हैं। एडीसन साहब का देहान्त हुए बहुत दिन नहीं हुए; अभी केवल चार-पाँच वर्ष पूर्व वह अपने आविष्कारों के जादू से संसार को मुग्ध करते हुए पर-लोकवासी हुए हैं। यहाँ हम इन विज्ञानाचार्य के सम्बन्ध में कुछ पंक्तियाँ लिखना चाहते हैं। आशा है, पाठक इस परिचय से उनके जीवन का कुछ अनुमान कर सकेंगे।

जन्म और वंश-परिचय

एडीसन का जन्म ११ फ़रवरी सन् १८४७ ई० को मीलान (अमेरिका) में हुआ था, परन्तु इनके पुरखाओं की जन्म-भूमि

हॉलैण्ड बताई जाती है। वहीं से वे लगभग दो सौ वर्ष पूर्व अमेरिका आये थे। एडीसन के प्रपितामह एक बैंक में किसी उच्च पद पर प्रतिष्ठित थे। ये १०४ वर्ष की आयु तक जीवित रहे। एडीसन के पितामह जॉन एडीसन भी अच्छी आयु पाकर परलोकवासी हुए। मरते समय उनकी उम्र १०२ वर्ष की थी। एडीसन का पूरा नाम टोमस अलवा एडीसन था। इनके पिता सेमुअल एडीसन को पैतृक सम्पत्ति प्राप्त नहीं हो सकी। उन्होंने मिस लैन्सी इलियट नाम की एक अध्यापिका से विवाह कर लिया था। सेमुअल साहब खूब हृष्ट-पुष्ट और देखने में बड़े सुन्दर थे; इन्हें युद्ध-सम्बन्धी बातों से प्रेम था। इनके मुख-मण्डल पर वीरोचित तेज सदैव झलकता रहता था। ये अपनी वीरता और तेजस्विता के कारण एक सेना के कप्तान बनने में सफल हुए थे। कप्तान की हैसियत से आपने जो काम किया, उसने आपको बहुत जल्द प्रसिद्ध कर दिया। यह नौकरी करने के कुछ दिन बाद आपकी व्यापार की ओर रुचि हुई, और मीलान में आपने एक दूकान खोलदी, जो बड़ी सफलता से चली। एडीसन की माता लैन्सी इलियट भी विदुषी देवी थीं; वह अपने पति के कार्यों में पूरी तरह सहायक रहकर गृहस्थ के काम-काज को बड़ी खबी के साथ चलाती थीं। माता-पिता के सद्‌गृहस्थोचित सुन्दर व्यवहार का बालक एडीसन पर भी बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा। उसके माता-पिता अपनी सन्तान को सभ्य सुशील और सुशिक्षित बनाने में बड़ा समय लगाते और उनका विपरीत व्यवहार एक मिनट को भी सहन न करते थे। बालक

भी अपने माता-पिता के अनन्य भक्त और आदर्श आज्ञापालक थे। एडीसन तीन भाई-बहिन थे। बड़े भाई विलियम पिट और बहिन टेनी एडीसन वेली। पिट एक रेलवे लाइन में नौकर थे और बहिन टेनी का अधिक समय पढ़ने-लिखने में व्यतीत होता था।

शिक्षण और परीक्षण

एडीसन बचपन से ही बड़े कुशाग्र-बुद्धि थे; वह जो नई चीज देखते इसी के सम्बन्ध में अपने पिता से प्रश्नों की झड़ी लगा देते थे। पिता उत्तर देते-देते थक जाते, पर एडीसन किसी बात को यों ही न मान लेते थे। जब तक उन्हें पूरा सन्तोष न हो जाता, तब तक उसके विषय में बराबर पूछ-ताछ जारी रखते थे। बालकपन में एडीसन का स्वास्थ्य अच्छा न था। उनका सिर इतना बड़ा था कि डाक्टरों की राय में अधिक पढ़ने-लिखने से उन्हें मस्तिष्क-सम्बन्धी रोग हो जाने की आशङ्का थी। इसीलिए प्रारम्भ में वह स्कूल नहीं भेजे गये। उनकी माता ने ही घर पर ऐसी अच्छी शिक्षा दी, जो कदाचित् स्कूल के कमरों में बैठकर प्राप्त न हो सकती थी। एडीसन को जो पढ़ाया जाता, उसे वह तुरन्त याद कर लेते और फिर कभी न भूलते थे। बालक एडीसन की ऐसी तीव्र बुद्धि देखकर सबको बड़ा आश्चर्य होता था। साहित्य-सम्बन्धी पुस्तकों के साथ कला-कौशल-विषयक बातों के अध्ययन की ओर भी इनकी अच्छी रुचि थी। शिल्पकला-सम्बन्धी जिस

बात को वे कहीं देखते वा पढ़ते, उसका अपने हाथ से भी अनुभव करते थे। दिन-रात उनकी तबियत ऐसी ही बातों में लगी रहती थी। एडीसन की ऐसी बातें देखकर घरवालों को अनुमान होता था कि इस लड़के की कला-कौशल की ओर खूब प्रवृत्ति है, निश्चय ही किसी दिन यह बड़ा कला-कुशल होगा।

एडीसन को साहित्य, इतिहास, कला-कौशल आदि से तो बड़ा प्रेम था, परन्तु गणित में इनकी बिल्कुल रुचि न थी। ये हिसाब का नाम सुनकर घबरा जाते थे। विक्टर ह्यूगो की कहानियाँ तो इनके नैत्यिक स्वाध्याय में सम्मिलित थीं। उनके बिना पढ़े तो इन्हें कल ही न पड़ती थी। इन कहानियों की धुन में तो वह खाना-पीना तक भूल जाते थे और उनका जादू इन्हें मन्त्र-मुग्ध-सा कर देता था। दस वर्ष की आयु में एडीसन ने रसायन-विद्या का भी कुछ अभ्यास किया और इस ओर अच्छी प्रगति दिखाई। आपने अपने घर पर एक छोटी-सी रसायनशाला बनाकर रासायनिक द्रव्यों से भरी कितनी ही बोतलें उसमें जमा कर दीं। एडीसन अपने साथी बालकों में न खेलते थे, बल्कि उनका खेल अपनी प्रयोगशाला में इन बोतलों के साथ होता था। वह एकान्त में बैठे बोतलों के द्रव्यों को उँडेल और एक-दूसरे से मिलाकर न जाने क्या-क्या परीक्षण किया करते थे, परन्तु रसायन-सम्बन्धी थोड़ी-सी जानकारी के अतिरिक्त और कोई बात इस शाला से उनके हाथ न लगी।

यह प्रयोगशाला एडीसन ने अपने जेब-खर्च के पैसों से बनाई

थी। जब उनके इकट्ठे किए हुए सब पैसे इसमें खर्च हो गये, और दूसरी चीजें खरीदने के लिए कौड़ी भी पास न रही, तब एडीसन घड़े चकराये और इस प्रकार अपनी सारी स्कीम के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने की आशंका करने लगे। इस समय उन्हें एक तरकीब सूझी; वह अपने माता-पिता से आज्ञा लेकर समाचार-पत्र बेचने लगे। और उनकी आमदनी को अपनी रसायनशाला में लगाने लगे। समाचार-पत्र बेचना, पुस्तकालय में किताबें पढ़ना और शाला में डटकर काम करना, यही एडीसन की मुख्य दिनचर्या थी। एडीसन को अखबारों की बिक्री से बहुत थोड़ी आमदनी होती थी। उधर पिता के व्यवसाय में भोजन-छादन के व्यय से अधिक कुछ न बच पाता था। ऐसी दशा में बालक एडीसन ने ट्रेनों पर अखबार बेचना आरम्भ किया। सुबह सात बजे वह अपने काम पर जाते और रात्रि को नौ बजे घर वापिस आते थे। इस बीच में उन्हें ग्राण्ड ट्रंक रोड पर कितनी ही जगहों पर समाचार-पत्र बेचने पड़ते थे। कुछ दिनों बाद एडीसन ने अपना एक साझी खोजकर पोर्ट-हरोन पर अखबारों की दूकान खोल ली, पर उसमें विशेष सफलता प्राप्त न हुई और अन्त में वह उठा देनी पड़ी। इस दूकान को बन्द कर एडीसन एक्सप्रेस ट्रेन पर अखबार बेचने लगे और साथ ही उन्होंने शाक-भाजी की भी एक दूकान कर ली। इन दोनों कामों से अच्छी आय होने लगी। वह एक डॉलर रोज़ तो अपनी माता को दे देते थे और बाक़ी पूँजी रसायनशाला के अर्पण हो जाती थी।

एडीसन ने अपने इस व्यवसाय में एक बड़े मजे की बात की। अखबार और शाक तो वह ट्रेन में बेचते ही थे उसमें आपने एक छोटा-सा प्रेस भी रख लिया और वहाँ से समाचार-पत्र निकाल दिया, अर्थात् समाचार-संग्रह, सम्पादन, मुद्रण विक्रय आदि सब कार्य चलती ट्रेन में ही होते थे। इस अखबार को पढ़कर पाठकों को बड़ा आश्चर्य होता था, तथा सब इस नव-युवक के साहस की प्रशंसा करते थे। एक स्टेशन की खबर दूसरे तक छपकर पाठकों के पास पहुँच जाती थी। ट्रेन के समाचार भी उसमें खूब रहते थे। कौन-कौन प्रसिद्ध पुरुष ट्रेन में सफ़र कर रहे हैं, उनकी यात्रा के क्या-क्या उद्देश्य हैं, वे कहाँ उतरेंगे और कितने दिनों में वापस आवेंगे ? ऐसी अनेकों बातों से एडीसन का अखबार भरा रहता था। अमेरिका में गृह-युद्ध छिड़ जाने से तो ऐसे अखबारों की और भी अधिक पूछ हो गई थी। निदान इस प्रकार कार्य करने में एडीसन को बड़े आनन्द का अनुभव होता था और वह अपने को प्रगतिशील पाते थे।

विचित्र दुर्घटना

एडीसन को उनके समाचार-पत्र से पच्चीस-तीस डॉलर प्रति-मास मिलने लगे। उधर शाक-भाजी और अन्य अखबारों की बिक्री में भी अच्छी उन्नति हुई। अब उन्होंने रसायनशाला भी रेल के डिब्बे में ही बना ली और अपनी तिजारत के साथ-साथ रासायनिक द्रव्यों का भी प्रयोग करना शुरू कर दिया। कभी वह

इस बोतल की चीज़ उसमें मिलाते और कभी उसको दूसरी में उँडेलते। इस धुन में कितने ही दिन बीत गये। एक दिन बड़ी विचित्र दुर्घटना हुई। गाड़ी में अचानक धक्का लगा, जिसके कारण रसायनशाला के फ़ासफ़ोरस के एक टुकड़े ने रेल के तख़्ते पर गिरकर उसमें आग लगा दी। आग की सूचना पाकर गार्ड दौड़ा-दौड़ा उस डिब्बे में आया और पानी डालकर आग बुझवा दी। गार्ड की दृष्टि में एडीसन का यह काम बड़ा ख़तरनाक था, जिसके कारण उसने उसे अगले स्टेशन पर घूँसा मारकर उतार दिया तथा डिब्बे का सारा सामान बाहर फेंक दिया। एडीसन के कान पर गार्ड का घूँसा इस जोर से लगा कि वह कुछ कम सुनने लगे। बहुतेरा इलाज कराया, परन्तु कुछ भी लाभ न हुआ और जीवन भर उन्हें यह कष्ट भोगना पड़ा। एडीसन के कथनानुसार उन्हें बहरा हो जाने के कारण कई प्रकार के लाभ भी हुए। यानी वह तारघर में अपनी मशीन के खटके के सिवा दूसरी मशीन की आवाज़ न सुन पाते थे, इसलिए उस काम में ख़ूब तबियत लगती और चित्त में उद्विग्नता न आती थी। अस्तु।

पत्र-प्रकाशन और नौकरी

कान पर घूँसा खा तथा बहरा बनकर एडीसन को निराशा नहीं हुई। उन्होंने इस दुर्घटना से डरकर अपना काम नहीं छोड़ा, बल्कि अब वह घर पर पहले से अधिक उत्साह के साथ रसायन-शाला का काम करने लगे और 'वीकली हेरल्ड' (Weekly

Herald) नामक एक साप्ताहिक पत्र भी प्रकाशित किया। इस पत्र में ऐसे सुन्दर और उपयोगी लेख रहते थे, कि पाठक उन्हें बड़ी रुचि से पढ़ते और अनायास ही ग्राहक बन जाते थे। इस बीच में एडीसन ने इंजन-घर में उसके कल-पुर्ज़ों का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया और वह इञ्जन को अपने आप चलाने लगे। इञ्जन चलानेवाले कितने ही लोग इनके मित्र थे। वह उनसे बड़ा प्रेम करते थे और उनकी उन्नति के सदैव अभिलाषी रहते थे अतएव इञ्जन-कला में दक्ष होने में उन्हें अधिक समय न लगा। रेल के तारघरों में जा-जाकर तार के काम में भी एडीसन ने अच्छी गति कर ली। बिजली-सम्बन्धी बहुत सी बातें भी वह जान गये, और स्वयं अपने मित्र के घर से लेकर अपने घर तक एक तार भी लगा लिया, जिससे दोनों मित्र आपस में बड़ी आसानी से बातचीत करते-करते रात का एक बजा देते थे। जब एडीसन ने तार का काम अच्छी तरह से सीख लिया और कुछ हिचकिचाहट न रही, तो उन्हें एक फ़ौजी तारघर में जगह मिल गई और वहीं वे रात-दिन रहने लगे। पीछे, फ़ौज के तारघर से रेल के तार में चले गए। एडीसन ने रेल की सीटी से भाँति-भाँति की आवाज़ें निकालकर उनके संकेतों द्वारा बात-चीत करने की एक विचित्र विधि निकाली। इस प्रकार एडी-सन पाँच वर्षों तक इधर-उधर तारघरों में नौकरी करते रहे; उन्हें ४० से १२५ डॉलर तक प्रतिमास वेतन मिलता रहा। रात की ड्यटी से सब तारवाले घबराते थे, परन्तु एडीसन

सदैव इसी ड्यूटी को पसन्द करते थे; क्योंकि उन्हें रात्रि की शान्ति में नई-नई बातें सोचने-समझने का अच्छा अवसर मिल जाता था, और दिन की हाय-हाय से बच जाते थे। कई नौकरियाँ तो उन्हें इसीलिए छोड़नी पड़ीं कि अफ़सर लोगों ने उन्हें प्रार्थना करने पर भी रात की ड्यूटी पर काम न करने दिया।

सिनसिन्नेटो नामक स्थान में नौकरी करते हुए एडीसन की एडेम्स नामक एक सज्जन से मित्रता हो गई। एडेम्स एडीसन की तत्कालीन स्थिति के सम्बन्ध में एक स्थान पर लिखते हैं—"एडीसन १८ वर्ष के दुबले-पतले एकान्त-प्रेमी नवयुवक थे; वह इधर-उधर नौकरी की तलाश में घूमते रहते थे। अपने कार्य में वह अपना जोड़ न रखते थे। तार के काम में प्रथम श्रेणी के माने जाते थे; उनका अधिक समय बैटरियों पर काम करने में ही व्यतीत होता था। वे दुःखान्त नाटकों को अधिक पसन्द करते थे, इसीलिए 'ओथेलो' का नाटक उन्हें बहुत पसन्द था। उन्होंने कई चार अच्छी-अच्छी नौकरियाँ छोड़ दीं और फिर खाने के लिए भी उनके पास कुछ न रहा। ये कितने ही स्थानों में गये; जहाँ पहुँचे वहीं इन्होंने कुछ-न-कुछ नई बात कर दिखाने की कोशिश की। यह नई बात अफ़सरों को अच्छी न लगती और इसी पर बिगाड़ होकर एडीसन की नौकरी छूट जाती थी। एक बार लुईविले नामक स्थान में नौकरी करते हुए वे गंधक का तेज़ाब लेने उस कमरे में गये, जहाँ जाने की आज्ञा न थी। दैवयोग से बोतल उलट गई और तेज़ाब बहने लगा। सारा फ़र्श ख़राब हो गया।

जब अफ़सर को असली हाल मालूम हुआ तो ये बुलाये गये और इनसे कहा गया कि कम्पनी काम करनेवाले नौकर चाहती है, आविष्कारकों की उसे आवश्यकता नहीं है। बस, एडीसन का हिसाब कर दिया गया और वह बेकार हो गये।"

इस नौकरी से अलग होकर एडीसन ने अन्य क स्थानों पर नौकरियाँ की और सब जगह सफल-मनोरथ हुए। इनके पढ़ने-लिखने तथा आविष्कारों की धुन का सबको पता था वह जहाँ जाते वहीं इसके लिए इनका मज़ाक उड़ाया जाता था। एक बार एडीसन बोस्टन में नौकर हुए; यहाँ अयोग्य ठहराने के विचार से इन्हें तार का ऐसा काम दिया गया जिसे उस समय बहुत कम लोग कर सकते थे। परन्तु एडीसन फ़ेल होनेवाले व्यक्ति न थे; उन्होंने उस काम को ऐसी ख़ूबी से किया कि देखनेवाले दंग रह गये। उस दिन से वहाँ के सब काम करनेवालों पर एडीसन की धाक जम गई और सब लोग उनकी प्रतिष्ठा करने लगे। एडीसन, तारघर में काम करते हुए, समाचार-पत्रों की खबर लेने में बड़े घबराते थे। इसलिए नहीं कि वह इन ख़बरों के लेने में असमर्थ या अयोग्य थे, बल्कि इसलिए कि इन लम्बे समाचारों में बड़ा समय लग जाता था, और उन्हें पढ़ने-लिखने तथा सोचने-विचारने के लिए अवकाश न मिलता था।

एडीसन अपने काम-चलाऊ वैज्ञानिक यन्त्रों को ख़रीदने में कभी संकोच न करते थे। वे खाने-पीने और वस्त्रों में तो किफ़ायत कर लेते थे, परन्तु वैज्ञानिक सामग्री संचय करने में कंजूसी करना

उन्हें बहुत बुरा लगता था। एक बार मित्रों के अधिक आग्रह से आपने ३० डॉलर व्यय करके एक सूट तैयार कराया, परन्तु जिस दिन उसे पहनकर आप दफ़्तर गये उसी दिन उस पर तेज़ाब पड़ गया, जिससे वह सब जल गया ! यह देखकर एडीसन मुस्कराहट के साथ कहने लगे—"ओह ! बढ़िया सूट बनवाने का यह फल मिला है ।" कभी-कभी वह फ़ैरेडे की पुस्तक को शाम के चार बजे पढ़ना शुरू करते और प्रातःकाल तक पढ़ते रहते थे। फिर भी उन्हें शिकायत रहती थी कि समय कम है, इस ज़रा-से जीवन में कोई क्या-क्या करे ? काम बहुत और ज़िन्दगी थोड़ी है। वास्तव में एडीसन अपने समय का एक मिनट भी व्यर्थ बरबाद न करते थे। उनके सारे काम ठीक समय पर यथाविधि होते थे। वह वक़्त की क़द्र करना खूब जानते थे।

अभिनव आविष्कार

इतने समय में एडीसन ने कोरे परीक्षण ही नहीं किये, बल्कि कई आविष्कार भी कर दिखाये। बोस्टन में रहकर आपने एक 'वोट-लेखक' (Vote-recorder) बनाया और सोने का व्यापार करनेवाली कम्पनी के लिए 'स्टॉक-टिकर' (Stock ticker) का निर्माण किया। इन दोनों यन्त्रों का प्रचार बहुत जल्द हो गया तथा लोगों के लिए ये बड़े उपयोगी सिद्ध हुए। एक दिन प्रयोग करते समय, भूल से बिजली के दोनों मूठे एडीसन ने पकड़ लिए, जिससे उनके हाथ उनसे चिपक गए। बैटरी से मूठों का सम्बन्ध-

विच्छेद करने के लिये उन्होंने उन्हें खींचा, तो बैटरी उनके ऊपर गिर पड़ी और गंध के तेजाब से उनका मुँह जल गया तथा कपड़े फट गये। इससे एडीसन को बड़ी तकलीफ़ हुई और कई सप्ताह घर में ही पड़ा रहना पड़ा। आपने एक दोतरफ़ा तार भी बनाया, जिसके द्वारा एक ही तार से दो ख़बरें साथ-साथ भेजी जा सकें। एडीसन ने छोटे-मोटे ये आविष्कार तो किए, परन्तु इनसे उन्हें लाभ कुछ नहीं हुआ, आर्थिक-अवस्था दिनों-दिन बिगड़ती ही गई। हताश होकर एडीसन ने बोस्टन छोड़ दिया और आप न्यूयार्क आकर गोल्ड इण्डिकेटर कम्पनी में ठहरे। एक दिन कम्पनी के कल-पुरज़ों में कुछ ख़राबी हो गई; वहाँ के कारीगर लोग उसे दुरुस्त न कर सके। सब काम रुक गया और बड़ी हानि होने लगी। एडीसन ने कुछ दिन कम्पनी में रहने के कारण उसकी सारी बातों को अच्छी तरह सोच-समझ लिया था, अतः इस ख़राबी को उन्होंने तुरन्त दूर कर दिया और सब मशीनें ठीक-ठीक काम करने लगीं। एडीसन की इस चतुराई से कम्पनी का अधिकारी इतना प्रसन्न हुआ कि उसने इन्हें ३०० डॉलर मासिक पर सब दस्तकारों का मुखिया बनाकर अपने यहाँ नौकर रख लिया। अचानक इतनी अधिक वेतन-वृद्धि से एडीसन को बड़ा आश्चर्य और आनन्द हुआ। अन्य लोगों की दृष्टि में भी उनकी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई। कम्पनी के स्वामी ने एडीसन से 'स्टाक-टिकर' को अधिक अच्छा बनाने की प्रेरणा की तथा इनके लिये उन्हें पर्याप्त धन पुरस्कार-स्वरूप भेंट भी किया। इण्डिकेटर

कम्पनी के संचालक और स्वामी एडीसन की प्रतिभा और मौलिकता से भली भाँति परिचित हो गये थे। वे उन्हें बहुत उपयोगी आदमी समझ कर बड़ी प्रतिष्ठा से अपने पास रखते और किसी दशा में भी उनका अलग होना सहन न कर सकते थे। एडीसन ने इन दिनों कई आविष्कार किये और 'स्टाक-टिकर' को भी अधिक उन्नत रूप दे दिया। फिर यह 'टिकर' बहुत उपयोगी चीज़ हो गया तथा लंदन के स्टॉक एक्सचेञ्ज में भी काम में लाया जाने लगा।

थोड़े दिन बाद कम्पनी के स्वामी ने एडीसन को पचास हज़ार डॉलर देकर कहा—"यह धन आपको निश्चिन्त और स्वतन्त्र होकर जीवन बिताने के लिए भेंट किया जाता है। अब आप आराम से एक स्थान पर रहिए और आविष्कार करने की बात न सोचिए। यह धन इस आशा से दिया जाता है कि अब आप अधिक प्रयोग करने में अपना समय न लगावेंगे।" एडीसन इतनी धन-राशि पाकर परम प्रसन्न हुए और उन्होंने इसे अपनी योग्यता का अधिक-से-अधिक मूल्य समझा। फिर क्या था, एडीसन पचास हज़ार डॉलर पाकर एक सम्पन्न व्यक्ति हो गये और उनकी आर्थिक चिन्ता मिट गई। इस समय न्यूयॉर्क में एडीसन की तीन दूकानें चलती थीं और उनपर इतना काम था कि पल मारने को अवकाश न मिलता था। अब एडीसन की ख्याति बढ़ चली और उनकी गणना आविष्कारकों में होने लगी। इसके बाद तो एडीसन ने आविष्कारों का ताँता लगा दिया। इस कार्य में उनकी

बुद्धि का इतना विकास हुआ कि १८६९ से १९१० ई० तक उन्होंने छोटे-मोटे १३२८ आविष्कार पेटेंट कराये। एडीसन ने एक ऐसा यन्त्र निर्माण किया जिसके द्वारा न्यूयॉर्क और वॉशिंगटन के बीच एक मिनट में एक हज़ार शब्दों का सन्देश भेजना बहुत साधारण बात हो गई। तार के सामान्य यंत्रों की गति एक मिनट में ३०-४० से अधिक शब्द भेजने की नहीं है। दूसरा यन्त्र आपने ऐसा निकाला जिससे रोमन लिपि में तार द्वारा अपने आप एक मिनट में ३००० शब्द लिखे जाते थे। आपके द्वारा आविष्कृत स्वयं तार-लेखक (Automatic System) यन्त्र का प्रचार इंग्लैण्ड में बड़े ज़ोर से हुआ। इन आविष्कारों से एडीसन का सुयश दूर-दूर तक फैल गया और उन्हें इन यंत्रों की बिक्री से यथेष्ट लाभ होने लगा। कभी-कभी तो यन्त्रों की इतनी माँगें आ जाती थीं कि उनकी पूर्ति करना कठिन हो जाता था। ऐसे समय में एडीसन अपने कारखाने का ताला लगा देते और जब तक पूरा काम न हो जाता, तब तक मज़दूरों को न जाने देते थे।

टेलीफ़ोन और फ़ोनोग्राफ़

इन आविष्कारों के बाद एडीसन का ध्यान टेलीफ़ोन की ओर गया। इस यन्त्र का आविष्कार तो मि० बैल द्वारा पहले ही हो चुका था, परन्तु उससे आवाज़ इतनी धीमी निकलती थी कि वह बड़ी कठिनाई से सुनाई पड़ती थी। इस नुक़्स के कारण ऐसे उपयोगी यन्त्र का प्रचार रुका हुआ था। जो कंपनी इसे बनाकर बेचती

थी उसको अधिक लाभ न होता था। जब एडीसन का ध्यान इस नुक़्स की ओर आकृष्ट किया गया तो उन्होंने बड़े प्रयत्नपूर्वक उसे दूर कर दिया। अब टेलीफ़ोन की आवाज़ अच्छी तरह सुनाई देने लगी और लोगों ने उसे ख़रीदना शुरू कर दिया। फिर तो उसका ऐसा प्रचार बढ़ा कि घर-घर में वह लगाया जाने लगा और उसकी उपयोगिता पर सब मुग्ध हो गये। एक कम्पनी के मालिक ने एक लाख डॉलर देकर इस यन्त्र का अधिकार एडीसन से ले लिया। इतने ही डॉलरों में इसी कम्पनी को उन्होंने अपना एक आविष्कार और बेच दिया, परन्तु ये दो लाख डॉलर व्यर्थ ख़र्च हो जाने के भय से, एडीसन ने एकसाथ न लेकर, प्रतिवर्ष १२००० डॉलर के सिहाब से वसूल किये। इन आविष्कारों के लगभग दो वर्ष बाद एडीसन ने "खड़िया-ग्राहक" (Chalk receiver) बनाये। इनसे बहुत ज़ोर की आवाज़ आती थी। उनका यह आविष्कार तीस हज़ार रुपये में लंदन की एक कम्पनी ने ख़रीद लिया, परन्तु इस यन्त्र का अधिक प्रचार न हो सका। एडीसन ने एक बड़ा अद्भुत यन्त्र बनाया; इसका नाम है 'माइक्रोफ़ोन' (Microphone)। इस यन्त्र द्वारा आवाज़ बढ़ाई जाती है इसे कान में लगा लेने से एक धीमा शब्द भी बड़े ज़ोर से सुनाई पड़ता है। जिस प्रकार छोटी चाज़ को बड़े आकार से दिखानेवाली ख़ुर्दबीन है, उसी तरह 'माइक्रोफ़ोन' द्वारा धीमी आवाज़ बहुत स्पष्ट और ज़ोर से सुनाई पड़ती है।

एक दिन एडीसन के दिमाग़ में यह बात आई कि मनुष्यों

की आवाज़ किस प्रकार सुरक्षित हो को जा सकती है। उन्होंने सोचा कि जिस प्रकार मनुष्य के रूप का चित्र खींचा जा सकता है, उसी प्रकार उसकी आवाज़ भी यन्त्र द्वारा सुरक्षित की जा सकती है, और आवश्यकता के समय उसका उपयोग भी किया जा सकता है। वह अपनी इस धुन में लग गये और अन्त में सफल होकर रहे। १८७७ ई० में आपने फ़ोनोग्राफ़ नामक एक यन्त्र बनाया। इस फ़ोनोग्राफ़ का कितना अधिक प्रचार हुआ और इससे संसार को कितना लाभ पहुँचा, यह किसी से छिपा नहीं है। छोटे-छोटे गाँवों में भी फ़ोनोग्राफ़ की मशीनों से लोग तरह-तरह के गाने सुनते और प्रसन्न होते हैं। उनके रैकर्डों में किसी के व्याख्यान या कथोपकथन भी भरे जा सकते हैं, और वह भी सैकड़ों वर्ष सुरक्षित रहते हैं। फ़ोनोग्राफ़ के आविष्कार का सारा श्रेय एडीसन को ही है। पीछे इसमें और लोगों ने भी तरह-तरह के संशोधन किये और इसे भाँति-भाँति के रूप दिये हैं। जब पहले-पहल इस बोलनेवाले यन्त्र का आविष्कार हुआ, तो एडीसन के मकान पर दूर-दूर के दर्शकों के झुण्ड जमा होते रहते थे। लोगों को विश्वास न होता था कि कोई इस प्रकार की भी मशीन तैयार हो सकती है। वे समझते थे कि यह यन्त्र नहीं, कोई चालाकी है, जिसने देखनेवालों की बुद्धि चक्कर में डाल रक्खी है। परन्तु जब एडीसन ने कितने ही दर्शकों की आवाज़ को ही फ़ोनोग्राफ़ में भरकर फिर उन्हीं के सामने उसे दुहराया, तो उनके आश्चर्य की सीमा न रही। एक दिन एक पादरी ने एडीसन के

पास पहुँचकर कहा—'अगर मेरे बोले हुए नामों को आपकी मशीन दुहरा दे, तो मैं समझूँ कि वास्तव में आपका यन्त्र सच्चा है।' एडीसन ने तुरन्त मशीन में उसकी आवाज़ भरी और फिर उसे उसके सामने ही दुहरा दिया।

यह पादरी शीघ्रतापूर्वक बोलने में बड़ा प्रसिद्ध था; एक साँस में बाइबिल के सैकड़ों नाम बोल गया। उसे आशा न थी कि मशीन उन्हें ज्यों-का-त्यों दुहरा देगी। परन्तु अन्त में एडीसन की प्रतिभा के आगे उसे नतमस्तक हो उसकी मुक्तकंठ से प्रशंसा करनी पड़ी। अमेरिका ही में नहीं, सारे संसार में इस मशीन की धूम मच गई थी और न जाने कहाँ-कहाँ से स्पेशल ट्रेनों में भरकर लोग एडीसन का जादू देखने आते रहते थे। जो देखता वही मन्त्र-मुग्ध-सा हो जाता और आश्चर्य से हाथ मलने लगता था। वास्तव में यह आविष्कार था ही इतना आश्चर्यजनक, इसमें जादू ही ऐसा भरा था। उससे पूर्व संसार ऐसे चमत्कार की कल्पना भी नहीं कर सकता था। उस समय सर्वत्र इसी मशीन की चर्चा होती रहती थी और जिन्होंने इसे नहीं देखा था वह देखने के लिए बड़े लालायित रहते थे। अमेरिका के राष्ट्रपति ने भी एडीसन को अपने पास बुलाया। वह भी उनके फ़ोनोग्राफ़ को देखकर दंग रह गया और कहने लगा—'वास्तव में एडीसन एक बड़ा शक्तिशाली पुरुष है। उसके मस्तिष्क में परमात्मा ने सचमुच ऐसी दिव्य शक्ति प्रदान की है, जो बहुत कम लोगों को नसीब होती है।'

फ़ोनोग्राफ़ के बाद एडीसन ने 'मेगोफ़ोन' बनाया, जो आवाज़ को बहुत बड़ा कर देता है। उन्होंने 'एक्रोफ़ोन' का आविष्कार भी किया, जिसमें भाप द्वारा मनुष्य की बोली को नक़ल की जाती और आवाज़ डेढ़ मील तक पहुँचाई जाती है। इन सबके अलावा एडीसन ने एक वॉइस-इंजन या फ़ोनो-मोटर बनाया, जिसके द्वारा संगीत या शब्दकम्पन से खिलौने आदिका संचालन किया जा सकता है। यह यन्त्र भी बड़ा विचित्र है। केवल आवाज़ के ज़ोर से ही खिलौने चलने-फिरने लगते हैं इसे देखकर दर्शकों को बड़ा कौतूहल होता है।

बिजली की रोशनी और बिजली-यन्त्र

एडीसन ने बिजली की रोशनी निकालने में भी कमाल का काम किया। लोग बिजली के प्रकाश की सम्भावना तो करने लगे थे और कुछ लोगों ने ऐसे लैम्प भी बनाये थे, परन्तु ये लैम्प १० मिनट से अधिक न जल सकते थे। इसके अतिरिक्त एक खराबी यह भी थी कि अगर एक लैम्प बेकार हो जाता, तो उससे सम्बन्ध रखनेवाले सब लैम्प बिगड़ जाते थे। सब जगह मिट्टी के तेल और गैस से ही रोशनी की जाती थी। बिजली की रोशनी का प्रचार ही नहीं था। प्रचार कैसे होता, उसे किसी ने अधिक उपयोगी ही न बनाया था। उस समय वैज्ञानिकों का विचार था कि बिजली बाँटी नहीं जा सकती। इन लोगों ने पचीस वर्षों तक अपने दिमाग़ लड़ाए,

परन्तु वे बिजली को बाँटने में सफल न हुए। एडीसन का मत यह था कि यदि बिजली दो समानान्तर तारों में विपरीत दिशाओं में चले और लैम्प अलग-अलग दोनों तारों के बीच में लटकाये जावें तो बिजली बँट भी जायगी और लैम्प भी एक दूसरे से स्वतन्त्र रह सकेंगे। साथ ही ऐसा करने से बिजली की शक्ति भी न घटेगी। एडीसन के इस विचार का पहले तो विद्वानों ने उपहास किया और उसे माननीय न समझा, परन्तु जब कठिन परिश्रम के पश्चात् उन्होंने यह प्रत्यक्ष करके दिखा दिया, तो लोग मान गये और उनकी बुद्धि की प्रशंसा करने लगे। एडीसन ने अपने प्रयोगों द्वारा क्रमशः बिजली के लैम्पों की रोशनी देर तक क़ायम रखने की कोशिश की। जो लैम्प पहले दस मिनट से अधिक न जलते थे, वे अब घंटों जलकर वैज्ञानिकों के आश्चर्य की सीमा बढ़ाने लगे।

फिर तो इन विद्युत्-लैम्पों का प्रचार इतना बढ़ा कि सर्वत्र इनकी धूम मच गई, और सारा यूरोप बिजली से जगमगा उठा। घर, कारख़ाने, सड़क, सर्वत्र बिजली-ही-बिजली दिखाई देने लगी। आजकल तो भारत में भी बिजली का खूब प्रचार बढ़ रहा है, और प्रायः सभी शहरों में विद्युत्-प्रकाश की व्यवस्था की जा चुकी है। जब तक एडीसन ने इस काम में सन्तोषजनक सफलता प्राप्त नहीं कर ली, तब तक उन्हें चैन नहीं पड़ी। वह खाना-पीना और सोना छोड़कर केवल इसी काम में रात-दिन लगे रहते थे। अन्ततः परमात्मा के अनुग्रह से वे कामयाब हुए और संसार को विद्युत्-ज्योति से जगमगा देने के सारे श्रेय के भागी बने। वास्तव में वह

देश धन्य है जिसमें ऐसे प्रतिभाशाली नर-रत्न पैदा होकर अपनी ज्ञान-शक्ति द्वारा संसार का महान् उपकार करते हैं। इतना ही नहीं, अपने बिजली की धारा पैदा करनेवाला एक 'डायनमो' नामक यन्त्र भी आविष्कृत किया, जो पहले बने हुए यंत्रों से अधिक उपयोगी और विशेष शक्ति उत्पन्न कर सकता है।

रेल का इञ्जन भाप से चला करता है, तरन्तु एडीसन ने उसे बिजली द्वारा चला दिया। पहले आपने अपने मनोरंजनार्थ बिजली का एक छोटा-सा इञ्जन बनाया, जिसे देखकर लोग बड़े प्रसन्न हुए। यह इञ्जन एडीसन की रहने की जगह 'मेगटो पार्क' में चला करता था। पीछे इसमें कुछ गाड़ियाँ भी जोड़ दी गईं, जिनमें बैठकर मुसाफिर सफ़र करने लगे। इस बिजली के इञ्जन का अधिकार उन्होंने एक कम्पनी को दे दिया, जिससे जगह-जगह बिजली की रेल चलने लगी तथा उससे लाभ भी बहुत हुआ। इस आविष्कार से एडीसन का प्रभाव संसार में बहुत बढ़ गया और बड़े-बड़े विज्ञानाचार्य एडीसन की विचित्र बुद्धि के प्रशंसक बन गए। सब ओर से यही आवाज़ आने लगी—"एडीसन पर परमात्मा की विशेष कृपा है; उनका जन्म ही आविष्कारों के लिए हुआ है, नहीं तो साधारण मनुष्य इस कला में इतना निपुण नहीं हो सकता। एडीसन वास्तव में आविष्कारक नहीं, जादूगर है, जिसने दुनिया भर को अपने विचित्र बुद्धि-जाल में फाँस रक्खा है।"

अन्य आविष्कार

चुम्बक द्वारा लोह-चूर्ण से व्यर्थ वस्तुएँ दूर कर असली सामग्री एकत्र करने के लिए भी एडीसन ने कई मशीनें बनाईं, जिनसे पहाड़ों की चट्टानें टूट-फूट और पिसकर आटे के समान बन जाती थीं और फिर उनसे चुम्बक की सहायता द्वारा लोहे के कण इकट्ठे करने में कोई कठिनाई न होती थी। इस आविष्कार से लोहे के व्यापार को बड़ा लाभ हुआ। जिन लोगों को लौह-चूर्ण एकत्र करते समय उसके साथ मिली हुई और भी बहुतसी व्यर्थ चीजें लाकर अनावश्यक रूप से रेल का भाड़ा देना पड़ता था, उन्हें भी यह आविष्कार उपयोगी सिद्ध हुआ। तोड़-फोड़ का जो काम अन्य प्रकार से महीनों में होता था, वही एडीसन की कृपा से घण्टों में होने लगा और इस प्रकार धन तथा समय की बहुत बचत हो गई। साथ ही लौह-चूर्ण न मिलने का भय भी जाता रहा। इन मशीनों के साफ़ करने से लौह-कणों के अतिरिक्त और कुछ मसाला बच रहता था, वह भी बिक जाता था और उससे मकान आदि बनाने में बड़ी मदद मिलती थी। एडीसन ने जिस जंगल में अपना उपर्युक्त परीक्षण किया, उसमें एक सुन्दर नगर बस गया। सैकड़ों लोग वहाँ घर बनाकर रहने लगे। बिजली के प्रकाश की व्यवस्था कर दी गई तथा और भी अनेक सुविधाएँ जुटाई गईं। पीछे लोहे की खानें मिल जाने से यह सदुद्योग विशेष सफल सिद्ध न हुआ। खानों से निकला लोहा बहुत सस्ता मिलने लगा, इससे एडीसन का यह

काम ढीला पड़ गया। फिर भी संसार इस बात को अच्छी तरह समझ गया कि एडीसन जैसे धुन के पक्के वैज्ञानिक के लिए कोई बात कठिन नहीं है। वह पहाड़ की चट्टानों को पीसकर उनका काजल बना सकता है और इस कजली को अपनी प्रतिभा-शक्ति द्वारा सम्पत्ति के रूप में बदल सकता है। एडीसन ने नए तरीक़े की बढ़िया सीमेंट बनाने में खूब सफलता प्राप्त की। इसके लिए भी उन्होंने मशीनें बनाई, जिसके द्वारा तैयार की हुई सीमेंट ने पहले से प्रचलित सीमेंट का मान-मर्दन कर दिया।

एडीसन ने जो आविष्कार किये वे प्रायः सभी विचित्र हैं, देखकर बुद्धि चकरा जाती है। सीनेमा को ही लीजिए; इसमें जो चलती-फिरती तस्वीरें दिखाई देती हैं, उनका फ़ोटो-यन्त्र इन्हीं के विशाल मस्तिष्क की उपज है। एडीसन ने ऐसा केमरा बनाया है, जिसके द्वारा एक सैकिण्ड में पचास-साठ चित्र लिये जा सकते हैं। अगर वह उस यन्त्र को न बनाते, तो आज चित्र-पट पर लोगों को चर-चित्र न दिखाई देते। सिनेमा मनोरंजन की ही सामग्री नहीं है, उससे किसा देश जाति के आचार-व्यवहार, वहाँ की शासन-नीति तथा मनुष्यों की विविध मानसिक अवस्थाओं का हाल भी जाना जा सकता है। कितनी ही ऐसी विचित्र क्रियाओं का चर-चित्रों द्वारा प्रत्यक्ष होता है, जिनका अन्य प्रकार देख सकना असम्भव नहीं तो कष्ट-सम्भव अवश्य है परन्तु एडीसन की कृपा से ये सब कार्य सरल हो गये और जगह-जगह दर्शकों

के मनोरंजन तथा उपदेश के लिए सिनेमा-गृहों की स्थापना होने लगी। सिनेमा के चर-चित्र बनाने में एडीसन का ही केमरा काम में लाया जाता है और उसी से ली हुई चलती-फिरती तस्वीरें देखने के लिए सिनेमा-हाउसों में दर्शकों की भीड़ लगी रहती है।

विज्ञानाचार्य एडीसन के सम्बन्ध में यहाँ केवल थोड़ी-सी बातें लिखी गई हैं। इनके सैकड़ों आविष्कारों का पूरा क्या अधूरा विवरण भी नहीं दिया जा सकता। फिर भी उपर्युक्त पंक्तियों से यह बात भले प्रकार जानी जा सकती है कि उन्होंने अपने मस्तिष्क द्वारा संसार का कितना अधिक उपकार किया। वे अपनी धुन के कितने पक्के थे; जिस बात पर अड़ जाते, उसे बिना पूरा किये न छोड़ते थे। एक साधारण स्थिति से, बिना किसी स्कूल-कॉलेज में पढ़े, केवल अपने बल-बूते पर एडीसन कितने बड़े आदमी हो गये! अमेरिका की ही नहीं, वे विश्व की विमल विभूतियों में समझे जाते हैं। ऐसे आदर्श बुद्धिमानों के चारु चरित्रों का संसार पर खूब प्रभाव पड़ना चाहिए। एडीसन साहब १९३१ ई० के अक्टूबर मास में ही परलोकवासी हुए हैं। इसमें सन्देह नहीं कि एडीसन का भौतिक शरीर नष्ट हो गया, परन्तु उनकी विमल कीर्ति अजर-अमर होकर विश्व में फैल रही है। हमारा विश्वास है कि जब तक एडीसन के अद्भुत आविष्कार संसार की शोभा बढ़ाते रहेंगे, तब तक यह महा-मस्तिष्कशाली महान् पुरुष बराबर अमर बना रहेगा।

—हरिशंकर शर्मा

दो उपवन*

काश्मीर का कलेवर प्रकृति के निरुपम सौन्दर्य से अलंकृत है। उस अज्ञात विश्व-स्रष्टा की कमनीय कृति नदी-नाले, गिरि-शिखर और गहन-वहन के स्वरूप में वहाँ विद्यमान है। वह सौन्दर्य तो अद्भुत है, वर्णनातीत है। उस प्रकृति-निर्माता कलाकार ने जहाँ हरे-भरे वन, हिम-मण्डित पर्वतमाला और विस्तृत जल-राशि से पृथ्वी को अलंकृत किया है, वहीं उसी सौन्दर्य के बीच उपवन का निर्माण करके मनुष्य ने भी अपनी कला का परिचय दिया है। प्रकृति की उस कला के बीच यह मानव-कला उपहासास्पद है क्या ? यह तो अपनी-अपनी रुचि पर निर्भर है। परन्तु उन उद्यान-प्रेमियों की कलामय अभिरुचि की परिचायिका अवश्य है। प्रकृति अगणित वृक्षों को लगाती है, उन्हें फुलाती है, फलाती है, पर मनुष्य भी अपनी शक्ति के अनुसार उद्यान-रचना करके उसमें वृक्ष लगाता है, पौधे लगाता है, लता-वितानों से उसे सुशोभित करता है। उसके उद्योग के फल-स्वरूप जब उस उद्यान में कोई फूल फूलता है अथवा फल फलता है, तब उसे हर्ष होता है, गर्व होता है। उसी हर्ष और गर्व के लिए, उसी अपनेपन के

---

* शालामार और निशात।

अनुभव के लिए, प्रकृति के इस विशाल उद्यान के बीच में भी मनुष्य ने अपने उद्यान का निर्माण किया है।

प्रकृति के उस विशाल उद्यान में भी यदि कोई अपनापन अनुभव करने लग जाय, वन के एकान्त स्थान में पुष्पित एक सुमन से भी वही आनन्द प्राप्त करने लग जाय जो अपने निजी उपवन में फूले हुए फूल से किसी को होता हो, तो उसका आनन्द सीमित नहीं रह जाता। वह समस्त संसार के सौन्दर्य को अपना मानने लग जाता है। परन्तु उस असीमित आनन्द के भोक्ता तो दुर्लभ हैं। सभी अपनेपन की छोटी-सी सीमा में क़ैद हैं। आनन्द के उस निस्सीम साम्राज्य में विचरण करने से उन प्राचीन ऋषि-मुनियों के संसर्ग से, भारतीय संस्कृति में, अपने निजी आनन्द में भी धार्मिक भावों का प्राधान्य हो गया है। अपने उस आनन्द की प्राप्ति के लिए मनुष्य जो प्रयत्न करता है, वह कला है। भारतीय कला धार्मिक भावों से विहीन नहीं है जिस प्रकार भारत की अन्य कलाओं को हमें देखना चाहिए, उसी प्रकार उद्यान-निर्माण की कला का भी अवलोकन करना चाहिए।

ऐतिहासिक घटनाओं का जैसा और जितना प्रभाव भारत की अन्य कलाओं पर पड़ा है, वैसा ही प्रभाव उद्यान-रचना की कला पर भी पड़ा है। बहुत प्राचीन काल से भारत में उद्यान-रचना का प्रेम पाया जाता है। प्राचीन भारतीय साहित्य में उद्यानों का यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। संस्कृत-नाटकों में तो उपवन के दृश्यों

का प्राधान्य पाया ही जाता है। बौद्ध-साहित्य में भी भारत के तत्कालीन उद्यानों का अच्छा परिचय मिलता है। बौद्ध-स्तूपादि के बग़ीचों के जो भग्नावशेष पाये जाते हैं, वे इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। जिस प्रकार भारत की उस प्राचीन उन्नति के अन्य प्रमाण नष्ट हो गये हैं, उसी प्रकार उद्यानों के प्रमाण भी अब अवगत नहीं। हाँ, मुग़ल शासन-काल में भारत ने इस विषय में जो उन्नति की थी, उसका ऐतिहासिक विवरण और प्रत्यक्ष प्रमाण दोनों प्राप्य हैं। मुग़ल शासकों के द्वारा निर्मित कई रमणीय उद्यान काश्मीर में देखने को मिलते हैं। उस सर्वशक्तिमान् कलाकार की कमनीय कृति के साथ ही साथ इस मानवीय कला का अवोलकन करने के लिये कौन उत्साहित न होगा?

पूर्वीय कला के रूप को समझने के लिए और उसको प्रशंसा करने के लिए पहले उसकी अन्तर्गत भावनाओं का ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है। प्राचीन भारत कला-प्रेमी था। उसने सौन्दर्य का आनन्द उठाया; परन्तु उस सौन्दर्य—उस कला—से, जो निरर्थक है, भारत का कोई सम्पर्क नहीं रहा है। केवल धार्मिक उच्च भावनाओं के कारण ही उसको भारत की ओर से सम्मान मिला है। मुग़लों के जमाने में भी कला का वह सार्थक्यवाद नष्ट तो नहीं हो गया था, पर उसके वे पवित्र भाव अक्षुण्ण नहीं रह गये थे। इसलिए यह निस्संकोच रूप से नहीं कहा जा सकता कि मुग़लों के द्वारा निर्मित काश्मीर के उद्यान धार्मिक भावों से परिपूर्ण कला के द्योतक हैं। तो भी उन उद्यानों को देखते समय हमें केवल

उनके बाह्य सौन्दर्य तक ही नहीं रह जाना चाहिए। हमें उस सौन्दर्य की तह तक जाना चाहिए।

काश्मीर के वर्णनीय और दर्शनीय उद्यानों में शालामार और निशात बाग़ सबसे पहले उल्लेखनीय हैं। श्रीनगर शहर के समीप ही विशाल डल झील के तट पर स्थित इन उपवनों की जोड़ के प्राचीन उद्यान काश्मीर में ही तो क्या, अन्य किसी भी स्थान में नहीं। शालामार बाग़ डल झील के सुदूरवर्त्ती तट पर बना है। दन्तकथा के अनुसार इस उद्यान का निर्माण श्रीनगर बसानेवाले द्वितीय प्रवरसेन ने किया था। उस दन्तकथा से मालूम होता है कि झील के पूर्वोत्तर कोण पर उसने एक उद्यान बनाया था, जिसका नामकरण उसने "शालामार" (कामदेव का स्थान) किया था। सुकर्मा स्वामी के दर्शन के लिए हरवन जाकर लौटते समय राजा उसी उद्यान में विश्राम किया करता था। काल की गति के अनुसार वह बाग़ तो नष्ट हो गया, पर उसी के समीप उसके नाम से "शालामार" नाम का गाँव बस गया। इस दन्तकथा में वर्णित उद्यान के स्थान पर ही संवत् १६७६ में सम्राट् जहाँगीर ने शालामार का फिर से शिलारोपण किया।

उद्यान-प्रेमी जहाँगीर और शाहजहाँ के शासन-काल में पूर्ण सौन्दर्य को प्राप्त करने के बाद काश्मीर के ऐतिहासिक उत्थान-पतन के चक्र में यह बाग़ भी चढ़ ही गया। बहुत वर्षों तक शालामार अनादृत अवस्था में बिना किसी पूछ के पड़ा अपने दुःख के दिन गिनता रहा; परन्तु फिर उसके दिन पलटे। वह शाही बाग़ अब

फिर दूर-दूर से काश्मीर-यात्रा के लिए आनेवालों के आकर्षण का कारण बन गया है।

शालामार शाही बाग़ था। वह तीन भागों में विभक्त था। बाहरी प्रांगण आम लोगों के लिए खुला था। बीच का प्रांगण बादशाह का निजी निवास-स्थान था और पीछे का तीसरा सबसे अधिक सुन्दर प्रांगण ख़ास बेग़मों का बिहार स्थल था। बाग़ की लंबाई-चौड़ाई ५९० और २६७ गज़ है इस प्रकार यह विशाल उद्यान तीन भागों में विभक्त बहुत ही सुन्दर ढंग से लगाया गया है।

मुग़लों के ज़माने के बग़ीचों की विशेषता उनके पेड़-पौधों के सौन्दर्य में ही नहीं है, पर बग़ीचों के फ़व्वारों और जल-प्रपातों में और भी अधिक आकर्षण समाया हुआ है। दिल्ली और आगरे के मुग़लों के समय के बग़ीचों में भी फ़व्वारों का प्राधान्य पाया जाता है। स्वतः चलनेवाले फ़व्वारों की पंक्ति-की-पंक्ति प्रायः सभी मुग़ल-बग़ीचों की सौन्दर्य-वृद्धि का काम करतीं हैं। काश्मीर के शालामार में तो इन फ़व्वारों का कहना ही क्या? सैकड़ों फ़व्वारे उद्यान की शोभा बढ़ा रहे हैं। और उससे भी अधिक शोभा उन कृत्रिम जल-प्रपातों की है जो बाग़ के ऊपर की ओर से बहती हुई नहर से बने हैं। हरवन झील से एक नहर निकाली गई है। वह बाग़ के पीछे पहाड़ की ऊँचाई पर से बहकर आती है; वहीं से नहर का पानी उद्यान के बीचोंबीच बहनेवाली जल-धारा में आता है। स्थान-स्थान पर ऊँचाई से गिरने और फ़व्वारों को

घेरकर वहने के कारण उद्यान की शोभा अद्वितीय हो गई है। फ़व्वारों और जल-धाराओं से बग़ीचों को सजाने का ढंग मुग़लों के द्वारा भारत ने पारस्य देश से सीखा है। पारस्य देश का उद्यान-प्रेम तो फ़ारसी-साहित्य में भले प्रकार वर्णित है। मुग़लों के द्वारा भारत में उनकी उद्यान-कला का बहुत कुछ प्रचार हुआ है। भारत के प्राचीन उद्यानों पर उनकी छाप स्पष्ट दिखाई देती है।

अन्य मुग़ल-उद्यानों की भाँति शालामार की इमारतों के कुछ भग्नावशेष पाये जाते हैं। सम्राट् जहाँगीर काश्मीर-यात्रा में उस उद्यान में रहता था। उसके निवास के लिए उस समय भव्य भवन बने ही होंगे। शालामार की बारहदरी इसके प्रमाण-स्वरूप अब तक मौजूद है। उद्यान के बाहरी प्रांगण के उस ओर दीवान-ए-आम है। दीवान-ए-आम के बीचोंबीच भी ऊपर से आती हुई जलधारा बहती और भवन के इस ओर ऊँचाई पर से नीचे के कुण्ड में गिरती है। जलधारा के बीच में अब भी काले संगमरमर का शाही तख़्त रखा है। इसी बाहरी प्रांगण में एकत्रित होकर जन-समुदाय सम्राट् का दर्शन किया करता था।

बीच के प्रांगण में दीवान-ए-ख़ास बना था, पर अब वह नष्ट हो गया है। केवल उसकी नींव-मात्र रह गई है। चारों ओर फ़व्वारों से वेष्टित एक सुन्दर चबूतरा भी अब तक है। आगे की दीवाल के पास शाहजहाँ की बनाई हुई काले संगमरमर की एक बहुत ही सुन्दर बारहदरी है। शाहजहाँ अपनी भवन-निर्माण-कला के लिए जगत्प्रसिद्ध है। इस बारहदरी में भी उसकी यह अभिरुचि भले

प्रकार व्यक्त है। हरे-भरे सुविशाल वृक्षों से आच्छादित और धवल जलधार और फ़व्वारों से वेष्टित गहरे काले चमकते हुए पत्थर की बनी हुई यह बारहदरी अद्भुत शोभा का घर हो गई है। चाँदनी रात में उद्यान के इस भाग की शोभा तो अलौकिक रहती है। पुराने ज़माने में सामने के जल-प्रपात के पीछे की दीवाल के आलों में जब सैकड़ों रंग-बिरंगे दीपक जला दिये जाते थे तो उसका सौन्दर्य कैसा रहा होगा? हम लोगों ने तो सूर्य के प्रखर प्रकाश में ही वह दृश्य देखा था। चाँद के शीतल अथवा दीप-माला के विविध वर्णों के प्रकाश से आलोकित दृश्य तो कल्पना का ही विषय है। अब भी थोड़े वर्ष पहले तक उन आलों में बिजली के प्रकाश की व्यवस्था थी, पर न जाने अब क्यों नहीं है?

यह रमणीय उद्यान अपने चारों ओर के प्राकृतिक दृश्यों के कारण और भी अधिक चित्ताकर्षक हो गया है। उद्यान के पीछे की ओर महादेवगिरि के उच्च शिखर हैं। सामने डल झील के विशाल पाट में, उसके उस ओर खड़ी पीरपंजाल श्रेणी की हिम-मण्डित गिरि-माला झाँक रही है। पहाड़ और झील के बीच का स्थान चुनकर उद्यान-निर्माताओं ने सचमुच अपने कौशल का परिचय दिया है। उद्यान की उस बारहदरी में बैठकर, उद्यान के कोमल किसलय और मुकुलित पुष्प-राशि पर और महादेवगिरि की हिमाच्छादित उज्ज्वल धवल चोटियों पर और सामने उस विशाल झील में कमल-वन पर, खिली हुई चाँदनी को देखने में कितना आनन्द है, कितना आकर्षण है! एक साथ उस सर्वशक्तिमान्

की कला का और मनुष्य की परिमित शक्तियों से उद्भूत कला का आनन्द-लाभ करने का यह साधन मुग़लों के—अथवा उनसे भी पहले के उद्यान-निर्माताओं के—कला-प्रेम का द्योतक है।

मुग़ल सम्राटों के उद्यान-प्रेम के साथ-ही साथ उन शाही दम्पतियों की प्रेम-क्रीड़ा भी वहाँ भले प्रकार अंकित है। मुग़ल सम्राट् जहाँगीर और उसकी जगत्प्रसिद्ध पत्नी नूरजहाँ ने अपने आमोद-प्रमोद के लिए इस उद्यान की रचना की थी। शाहजाँह ने भी अपनी रुचि के अनुकूल इसमें वृद्धि करके इसे और भी अधिक सुन्दर बना दिया था। उन्हीं जल-प्रपातों और फ़व्वारों के समीप कोमल दूब पर बैठकर शाही दम्पति आमोद-प्रमोद किया करते थे। उसी दीवान-ए-आम के उस काले तख़्त पर भारत के भाग्य-विधाता बैठते थे। अब यहाँ उसी बाग़ में घूमने पर इन सब बातों को विचारने पर कितना कौतूहल होता है? जहाँगीर उठ गया, वह अलौकिक सुन्दरी नूरजहाँ भी काल के गाल में विलीन हो गई, उनके प्रेम की गाथा केवल इतिहास की बात रह गई, उनके आमोद-प्रमोद के वे स्थल भी जीर्ण-शीर्ण होने को आये, वे मनोहारी फ़व्वारे भी अब बुढ़ापा बिता रहे हैं, संगमरमर के बने उन विहार-स्थलों में से कुछ विदा ले चुके और कुछ लेने के लिए तैयार बैठे हैं; परन्तु पीछे का वह गिरिशृङ्ग, सामने की वह विशाल डल झील अब भी उसी प्रकार अपने अमर सौन्दर्य पर हर्षित हो रही है, पुलकित हो रही है।

निशात भी शालामार की भाँति डल झील के तट पर स्थित

एक दूसरा रमणीय और नयनाभिराम उद्यान है। शालामार सम्राज्ञी नूरमहल का क्रीड़ा-स्थल था। दूसरी ओर नूरमहल के भाई आसफ़खाँ ने अपने लिए निशात बाग़ बनाया था। निशात मुग़ल-ज़माने के बाग़ों में सबसे अधिक सुन्दर है। एक निजी उद्यान होने के कारण इसके अलग-अलग प्रांगण नहीं बनाये गये हैं। पीछे के पर्वतों की चढ़ाई के अनुसार बारह चबूतरे एक के ऊपर एक बनाये गये हैं। उद्यान के बीच में से बहती हुई जल-धारा इन बारह स्थानों पर गिरती हुई बहती है। शालामार की भाँति यहाँ जल ऊपर से गिरता नहीं, पर विध प्रकार से खोदी हुई शिलाओं पर बहता है। शालामार के जल-प्रपातों में अपना निराला आकर्षण है, तो निशात के इस प्रवाह में भी अद्भुत सौन्दर्य है। शालामार की भाँति यहाँ भी अनेक फ़व्वारे जल-कुंडों में चलते रहते हैं। जलस्रोत और उन फ़व्वारों के अविरल प्रवाह से उद्यान में एक नवजीवन-सा व्याप्त रहता है। उन विविध प्रकार के लता-वितानों और पुष्प-राशि की शोभा का तो कहना ही क्या ?

आसफ़ख़ाँ के इस उद्यान को संवत् १६९० में शाहंशाह शाह-जहाँ ने देखा था। उद्यान के भव्य सौन्दर्य और पीछे की पर्वत-माला और सामने की झील के अद्भुत सौन्दर्य को देखकर शाहजहाँ इस निर्णय पर आया कि ऐसे उद्यान के आनन्दोपभोग का सौभाग्य केवल सम्राट् को ही होना चाहिए, किसी साधारण व्यक्ति का उसपर अधिकार नहीं हो सकता, चाहे वह उसका प्रधान मंत्री अथवा निकट का सम्बन्धी ही क्यों न हो ? बादशाह ने बहुत बार

अपनी इच्छा प्रकट की कि यह उद्यान उसे भेंट कर दिया जाय, परन्तु आसफ़ख़ाँ को अपना बग़ीचा इतना प्रिय था कि वह उसके लिए बादशाह की प्रसन्नता की ओर भी ध्यान नहीं देता था। शाहजहाँ ने एक दिन क्रोधित होकर निशात बाग़ का पानी बंद करवा दिया। शालामार और निशात को हरवन से आनेवाली एक ही नहर से पानी मिलता है। जल के बिना आसफ़ख़ाँ के उस प्रिय उद्यान की अवस्था ख़राब होने लगी। पानी के अभाव में वह जलधारा और फ़व्वारे जब निर्जीव-से दिखाई दिये होंगे, तो आसफ़ख़ाँ को कितना दुःख हुआ होगा? आजकल भी केवल रविवार को ही शालामार और निशात की जलधाराओं और फ़व्वारों में पानी छोड़ा जाता है। बाक़ी दिनों में तो वे निर्जीव-से ही दिखाई देते हैं।

बादशाह के क्रोध से जल के अभाव में बाग़ की हीन दशा देखकर आसफ़ख़ाँ बहुत दुःखी हुआ, पर एक दिन अकस्मात सब फ़व्वारों और जलधारा में कलकल स्वर होने लगा। सारा उद्यान फिर से सजीव हो गया। जलधारा में खुदे हुए पत्थरों पर विविध प्रकार की लहरें फिर दिखाई देने लगीं। आसफ़ख़ाँ के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा।

उद्यान के सच्चे प्रेमी अपने मालिक को दुःखी देखकर अपनी जान को जोखिम में डालकर बादशाह के हुक्म के विरुद्ध माली ने पानी खोल दिया। बादशाह इस घटना से और अधिक नाराज़ न होकर ख़ुश ही हुआ। आसफ़ख़ाँ के उद्यान-प्रेम को वह

जान गया। उसी दिन बादशाह ने आसफ़ख़ाँ को निशात बाग़ का सर्वाधिकारी मानकर एक सनद लिख दी।

निशात बाग़ दो भागों में विभक्त है। पुराने ज़माने में बग़ीचों में आने का मार्ग झील से ही था, पर अब झील और बग़ीचों के बीच में सड़क बनाकर आगे का भाग हटा दिया गया है। बग़ीचे के प्रवेश-द्वार के पास ही पुराने ज़माने में जब झील का निर्मल जल टकराया करता था, उस समय उसकी शोभा अद्भुत रही होगी। अब भी उसका आकर्षण कुछ कम नहीं, पर उद्यान की दीवाल के सहारे ही लहरों का टकराना और उस जलस्रोत का अविराम गति से उसमें गिरना कुछ और ही दृश्य था, जो अब नष्ट हो गया है। उद्यान की लम्बाई-चौड़ाई ५९५ और ३६० गज़ है। उद्यान के दो विभागों में से ऊपर का विभाग ज़नाने उपयोग में आता था। ज़नाना-बाग़ १८ फ़ीट ऊँचा है और दोनों विभागों के बीच में इतनी ही ऊँचाई की मज़बूत दीवाल बनी है। जलधारा ज़नाने बाग़ के मध्य भाग से प्रवाहित होकर आती है और ऊपर से नक़्क़ाशीदार पत्थरों पर से लुढ़कती हुई नीचे के बड़े टाँके में गिरती है। इस टाँके में सैकड़ों फ़व्वारे लगे हैं। टाँके के चारों ओर हरी-भरी दूब है, सुन्दर और सुवासित पुष्पों के पौधे हैं। इन सबको और भी अधिक सुन्दर बनानेवाले काश्मीर के सुप्रसिद्ध और सुविशाल चिनार वृक्षों के समूह हैं। जल-प्रपात और फ़व्वारों से निनादित इस सौन्दर्य-सम्पन्न स्थान पर बैठकर घड़ी दो घड़ी बिताने में कितना सुख और कितना आकर्षण है,

यह वही अनुभव कर सकता है, जिसे वह सौभाग्य प्राप्त हुआ हो।

ऊपर ज़नाने-बाग़ में जाने के लिए सीढ़ियाँ बनी हैं। ज़नाना-बाग़ समतल है। पर नीचे के मुख्य बाग़ में बहुतसे उतराव-चढ़ाव हैं। ज़नाने-बाग़ के इस सिरे पर, जहाँ से जलस्रोत नीचे की ओर बहता है, एक सुन्दर चबूतरा बना है। उस चबूतरे पर बैठकर नीचे की ओर स्थान-स्थान पर लुढ़कती जलधारा और उसके बीच में लगी हुई फ़व्वारों की पंक्ति को देखते-देखते जब दृष्टि सामने की झील के वक्षःस्थल का स्पर्श करती हुई सामने की गिरिमाला से टकराकर लौटती है, तो कितना कौतूहल होता है? वही दृश्य सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित न होकर चन्द्रालोक से आलोकित हो, तो उसका सौन्दर्य न जाने कितने गुने अधिक हो जाता है।

काश्मीर में पहुँचकर वहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ ही साथ इन उपवनों की ओर कौन आकर्षित नहीं होता? काश्मीर की सुख-स्मृतियों के साथ ही साथ इन बग़ीचों के अनेक रमणीय दृश्यों की याद सदा बनी रहेगी। जितने दिन हम लोग श्रीनगर में रहे, प्रत्येक रविवार इन्हीं बग़ीचों में बीतता था। रविवार को ही शालामार और निशात की शोभा देखने लायक़ होती है। उसी दिन जलधारा और फ़व्वारे प्रवाहित होते हैं। रविवार को तो वहाँ मेला-सा लग जाता है। सड़क पर सैंकड़ों मोटरें और झील के तट पर सैकड़ों शिकारों की भीड़

लग जाती है। बग़ीचों के आगे दुकानें लग जाती हैं। केवल बाहर से आनेवाले यात्रियों का ही नहीं, पर काश्मीर-वासियों का भी अच्छा जमघट वहाँ देखने को मिल जाता है।

रविवार की भीड़ में शान्ति-प्रिय लोगों को उद्यान का उतना आनन्द नहीं मिल सकता। जनरव से पूर्ण वातावरण की अपेक्षा पक्षियों की कोमल स्वर-लहरियों से पूरित वातावरण कहीं अधिक आकर्षक होता है। मनुष्य के अपने आडम्बरमय दिखाव की अपेक्षा प्रकृति का वह दिखाव कहीं अधिक मनोमोहक होता है। यह तो अपनी-अपनी अभिरुचि की बात है। उद्यान में लिखे हुए गुलाबों के साथ ही साथ नव-युवतियों का समूह, विविध वर्ण की पुष्प-राशि के साथ ही साथ रङ्ग-बिरङ्गे वस्त्र, और पक्षियों और जलस्रोत के कलरव के साथ ही साथ कल-कण्ठियों के श्रुति-मधुर स्वर भी लोगों के आकर्षण का कार्य करते हैं।

काश्मीर में अब भी तीन पुष्पोत्सव मनाये जाते हैं। तीनों उत्सवों पर इन उद्यानों की शोभा देखने लायक़ होती है। अगणित पुष्पों के साथ ही साथ अगणित नर-नारियों के समुदाय से ये उपवन खिल उठते हैं। शालामार बाग़ गुलाबों का घर है। जब गुलाब पूर्ण रूप से खिलते हैं, तो पुष्पोत्सव का—गुलाबों का—मेला वहाँ लगता है। सुविशार चिनार वृक्षों की छाया में कोमल दूब के हरित आसन पर बैठकर काश्मीरी परिवार हँसी-ख़ुशी समय बिताते रहते हैं। ऊपर वृक्षों में पक्षियों का कलरव होता रहता है,

सामने झरनों और फ़व्वारों का। हुक्के और चायदान—सामावार—की आग बुझती ही नहीं। गुलाबी, लाल अथवा हरे गहरे रङ्ग के लम्बे-लम्बे चोगे पहनकर, बालों की लटों को एक सफ़ेद वस्त्र से ढककर, पुष्पों से प्रतिद्वन्द्विता करनेवाले नारी-समुदाय का और नन्हें बालकों का दृश्य अनोखा होता है। पर जो उद्यानों के वास्तविक सौन्दर्य का प्रेमी है, वह तो एकान्त और शांत समय ही ढूँढ़ेगा। एक-एक मुकुलित पुष्प के समीप खड़े होकर उसके साथ मुस्कुराने के लिए, एक फ़व्वारे की कलकल ध्वनि के साथ अपने आनन्द की मौन-ध्वनि का सम्मिश्रण करने के लिए तो उसे नीरव वातावरण की ही आवश्यकता होगी। उद्यान का आनन्द लेने के लिए वह उसके एक कोने से दूसरे कोने तक हवा की भाँति नहीं उड़ेगा। मन भरकर उसका अवलोकन करने से ही उसे वास्तविक आनन्द आवेगा सच्चे उद्यान-प्रेमी वहाँ अच्छी संख्या में प्रतिदिन देखे जाते हैं।

शालामार और निशात के सामने उस विशाल डल झील का वक्षःस्थल कमल के पत्तों और पुष्पों से आच्छादित हो जाता है। उपवन गुलाबों से भरे-पूरे रहते हैं। उस समय का दृश्य कितना सुन्दर होता है! झील कमलवन में परिणत हो जाती है। उद्यान में गुलाब के पौधे नहीं, पर पेड़ और लताएँ फूलों से लद उठती हैं। गुलाब का एक पेड़ हम लोगों ने देखा था। उसका तना क़रीब डेढ़ फ़ुट मोटा था। फूलों के बोझ को उठाने के लिए उसके नीचे एक लकड़ी का फ्रेम लगाना पड़ा था। हिन्दुओं का

प्रिय कमल और मुसलमानों का प्रिय गुलाब दोनों का अद्भुत सम्मिश्रण होता है। बाल-सूर्य के उदय पहले शिकारे* में बैठकर उस कमल-वन को पार करके उद्यान में पहुँचकर उस दृश्य की वास्तविक शोभा का आनन्द-लाभ किया जा सकता है। जल से दो-तीन हाथ ऊँचे उठते हुए पत्तों और फूलों के बोझ से झुके हुए कमल-नाल देखकर कौन आनन्द-विमुग्ध न होगा? सूर्य की प्रथम किरण के स्पर्श के साथ वे अगणित कमल-दल प्रस्फुटित हो उठते हैं। मुग़ल अथवा उनसे भी पहले के हिन्दू राजाओं के द्वारा निर्मित इन उद्यानों में भारतीय कला के स्वरूप का अवलोकन करने का रहस्य इस बात में बहुत कुछ निहित है।

इन उद्यानों की इसी शोभा से आकर्षित होकर तो एक कवि ने कहा है—

सुबह दर बाग़े निशातो शाम दर बाग़ नसीम।
शालामारो लालाज़ारो सैरै कश्मीरस्तो बमू॥

कवि की इन पंक्तियों में इन उद्यानों का कितना महत्त्व प्रकट होता है। उसकी दृष्टि में काश्मीर में इनसे अधिक आनन्दमय स्थान और कोई है ही नहीं। कवि की दृष्टि में और बहुतसे लोगों की दृष्टि में ऐसा हो सकता है। पर जिन्हें इन अप्राकृतिक उद्यानों की अपेक्षा नैसर्गिक सौन्दर्य से प्रेम है, वे इन दोनों उद्यानों से दूर श्रीनगर से ११ मील की दूरी पर हरवन झील के तट पर पहुँचे

---

* एक छोटी नौका —सम्पादक

बिना नहीं रहेंगे। शालामार और निशात की जलधाराओं में बहुत कुछ अप्राकृतिक सौन्दर्य है, पर हरवन झील से निकाले गये उस जलस्रोत में स्वाभाविक सौन्दर्य है। तीन ओर ऊँचे गिरिशिखरों के बीच एक सुविशाल झील है। एक ओर बाँध बनाकर झील का पानी रोक दिया गया है। इसी बाँध में से वह जलस्रोत बहा है जो शालामार और निशात तक गया है।

समुद्र के समान फेनिल लहरें मारता हुआ और गर्जन करता हुआ यह नाला अविराम गति से बहता रहता है। सुविशाल देवदारु और चिनार के वृक्षों से आच्छादित तट-प्रदेश पर बैठकर अथवा बाँध के ऊपर झील के तट पर बैठकर प्रकृति-सुख का उपभोग किया जा सकता है। इस जलस्रोत के दाहिनी ओर एक दूसरा नाला भी है। वह भी उसी की भाँति आकर्षक और दर्शनीय है। शालामार और निशात में बैठकर यदि मानव-कला की सुखानुभूति की जा सकती है, तो इस हरवन में तो उस कुशल कलाकार के कौशल का वह परिचय मिलता है जो अगम्य है। काश्मीर तो उसकी कला की प्रदर्शिनी है। उसकी कला में उसका अवलोकन करने के लिए ही शायद प्राचीन समय में साधु-संन्यासी और बौद्ध भिक्षु इस स्थान में वास किया करते थे।

—श्रीगोपाल नेवटिया

मातृभूमि*

जिसके भाल पर काश्मीरजन्मा कुंकुम-केसर का तिलक है, जिसके हृदय पर जह्नु-तनया की एकावली है, जिसके चरणों में भक्ति-भाव से अवनत सिंहल प्रणाम करता है, जिसके चरणामृत का महोदधि नित्य पान करते हैं—उस माता के स्वरूप को जानने की किसे इच्छा न होगी ? जिसके रक्षक स्वयं शैलराज हिमवन्त हैं, जहाँ सरस्वती की शाश्वत धारा प्रवाहित है, जहाँ सिन्धु और ब्रह्मपुत्र शैलराज के अमृत-संदेश को अगाध सागर के समीप मन्त्रणा के लिये ले जाते हैं, जहाँ मरुस्थल और दण्डकारण्य जैसे विशिष्ट प्रदेश हैं—वह भूमि किस नाम से विश्रुत है ?

जिसमें वेत्रवती, सुवर्णरेखा और ताम्रपर्णी जैसे सुन्दर नामवाली नदियाँ हैं, जिसमें कांची, द्वारावती, विशाला और मथुरा

---

* पहले-पहल यह निबन्ध 'माधुरी' वर्ष ६ खंड १, पृ० २६२-७१ में प्रकाशित हुआ था। गद्य-रत्न-माला में इसे प्रकाशित करने का निश्चय होने पर इसके विद्वान् लेखक ने इसका परिशोधन आवश्यक समझ इसे संशोधित कर मुद्रणार्थ भेजा है। तदनुसार यहाँ यह परिशोधित रूप में छापा गया है।

—सम्पादक

जैसी राजधानियाँ हैं, जहाँ आदि-कवि ने मर्यादा-पुरुषोत्तम के पुण्यश्लोक चरित्र का गान किया है, जहाँ आर्ष ज्ञान का प्रथम स्फुरण हुआ, जिसमें दौष्यन्ति भरत ने समुद्र पर्यन्त पृथिवी का एक-छत्र शासन किया—वही हम सबकी जन्मभूमि भारतमही है।

इसके उत्तर में गिरिराज हिमालय पूर्व में पश्चिम तक के प्रदेश को व्याप्त करके पृथ्वी के मानदण्ड की तरह स्थित हैं। यहीं गौरीशंकर और धवलगिरि सदृश तुंग गिरिशिखर हैं, जहाँ नित्य प्रभात के समय सूर्य-रश्मियाँ सुवर्ण-जल से हिमाचल को स्नान कराती हैं। जब तक पृथिवी पर गंगा-यमुना की वारिधाराएँ हैं, तब तक उन्नत गौरीशंकर की महिमा प्रख्यात रहेगी। यहीं के एक आश्रम में यौवनोन्मेष के समय आभूषणों के स्थान पर वल्कल पहनकर पर्वतकुमारी ने अखण्ड तपःसमाधि के द्वारा शिव को प्राप्त किया था, जिसके कारण इस गिरिशृङ्ग की संज्ञा आज तक गौरीशंकर प्रसिद्ध है। इसी पर्वतराज को अर्वाचीन युग में बंगाल के एक सुपुत्र सिकदर महोदय ने वैज्ञानिक जगत् के समक्ष विज्ञापित किया था।

हिमालय के एक प्रदेश में ही मानसरोवर और राक्षसताल हैं। मानस की अध्यात्म-महिमा को मातृ-भाषा के अनेक कवियों ने गाया है। यहीं कैलाश के उत्संग में अलकापुरी बसती है, जहाँ के कान्ता-विश्लेषित यक्ष ने श्रावण मास में मेघ को दूत बनाकर भेजा था। जहाँ सरल और देवदारु के वृक्ष हैं; यह आज तक किन्नरों की निवास-भूमि है; अखोट के विटप इसी प्रदेश में होते

हैं, जिनके गर्भ में हिम से त्रस्त उष्णता छिपकर शरण लेती है। इन वनों में कृष्ण मृग स्वच्छन्द विचरते हैं। इन कन्दराओं में वन-केसरी निवास करते हैं। यहाँ के तपोवनों में कपिला धेनु ऋषियों के साथ रहती हैं—ये देवभूमियाँ अनन्त समय तक भारत के पुत्रों को संयम का पाठ पढ़ाती रहेंगी।

यहाँ नाना प्रकार की वीर्यवती ओषधियाँ होती हैं। शिलाजतु का जन्म यहीं होता है। अनन्त रत्नों के प्रभव-स्थान इस प्रदेश में ज्योतिष्मती ओषधियों के रूप में बिना तैल के प्रदीप जलते हैं। वेदों और उपनिषदों के लिखने योग्य भूर्जत्वच् यहीं होता है। यहाँ की चमरी गाएँ हिम के सदृश सान्द्र दुग्ध देती हैं। यह हिमवन्त आर्ष सभ्यता का अमर गोप्ता है। यहीं त्रिविष्टप भूमि है। यहीं उत्तर कुरु प्रदेश हैं, जिनके उत्तर में रम्यक और हिरण्यक वर्षों का विस्तार है।

वह देखो भारत का भाल काश्मीर प्रदेश सुशोभित है, जिसके लिए कवि बिल्हण ने कहा है।

'सहोदराः कुंकुमकेसराणां भवन्ति नूनं कवितविलासाः।
न शारदादेशमपास्य दृष्टस्तेषां यदन्यत्र मया प्ररोहः॥'

अर्थात् शारदा देश काव्य और केसर का सनातन प्रभव-स्थान है। इस देश के उत्तर में निषध पर्वत है, जिसके दूसरी ओर वक्षु और कपिशा नदियाँ हैं। किसी समय आर्य-साम्राज्य का विस्तार वहाँ तक था। काश्मीर खण्ड की राजधानी श्रीनगर की स्थापना

प्रियदर्शी महाराज अशोक ने की थी। भाष्यकार पतञ्जलि की जन्मभूमि गोनर्द यहीं है। कथासरित्सागर के रचयिता सोमदेव यहीं हुए हैं। व्याकरण, साहित्य और शैव-सिद्धान्त-रूप शास्त्र-त्रिमूर्ति के युगपद्-विलास की साक्षी यही काश्मीर-भूमि है। नीलमत-पुराण के रचयिता नील मुनि और राजतरंगिणी के लेखक कल्हण यहीं हुए हैं। मनु-भाष्य के रचयिता मेधातिथि ने यहीं जन्म लिया था। छविल्लभट्ट, हेलाराज, जोनराज, राजानक रुय्यक, बिल्हण, जल्हण, क्षेमेन्द्र, मंख आदि कवियों के हृदय में मानों काश्मीर की प्रतिभा एकसाथ ही स्फुरित हो उठी। काव्य-प्रकाशकार मम्मट और वैयाकरण-शिरोमणि कैयट ने काश्मीर की ही पुण्य-भूमि को अलंकृत किया। यहीं जम्मू के समीप एक पर्णशाला में बैठकर कापिष्ठल वसिष्ठ-गोत्री श्रीदुर्गाचार्य ने यास्कीय निरुक्त पर प्रसिद्ध ऋज्वर्था नामक वृत्ति की रचना की। इस काश्मीर के नर-रत्न अभी तक भारत के मस्तक को ऊँचा बना रहे हैं। यहाँ के जल-वायु का माहात्म्य विश्व-विश्रुत है।

काश्मीर के बीच से सिन्धु नद बहता है। सिन्धु के उस पार केकय और गान्धार देश हैं। पुरायुग से लेकर आज तक ये प्रदेश, श्वेती, कुभा, क्रुमु और गोमती आदि नदियों के द्वारा अपनी जलराशि सिन्धु को अर्पित करते रहे हैं। इसी परोपनिषद् भूखण्ड को मौर्य्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ने यवनी*-राजलक्ष्मी के साथ सिल्यूकस से छीन लिया था। यहीं सिन्धु के समीप तक्षशिला नगरी है,

---

* यह शब्द यूनानियों (ग्रीकों) का सूचक है। —सम्पादक

जहाँ के विश्वविद्यालय में महाराज बिम्बिसार के राजवैद्य जीवक ने, जो कौमारभृत्य-शास्त्र के निष्णात पंडित थे, सात वर्ष तक शिक्षा पाई थी। यहीं चरक ने आयुर्वेद के अष्टांगों का निरूपण किया तथा महामुनि सुश्रुत ने शल्य-शास्त्र के सूक्ष्म प्रयोग किए। सिन्धु-तट के शालातुर ग्राम में जन्म लेकर दाक्षीपुत्र भगवान् पाणिनि ने तक्षशिला के विश्वविद्यालय में ही शिक्षा पाकर अष्टाध्यायी व्याकरण की रचना की। जब तक संसार में विज्ञान का अस्तित्व है, तब तक आर्य जाति के इस विराट् मस्तिष्क के प्रति मनीषियों की श्रद्धाञ्जलि अर्पित होती रहेगी। मातृभूमि के स्वरूप का दर्शन करनेवालो ! इस तक्षशिला नगरी को प्रणाम करो। यहाँ के इंगुदी वृक्ष धन्य है, जिनके तेल से पाणिनि ने अध्ययन किया।

जिसके क्रोड़ में हिमालय की पाँच पुत्रियाँ कल्लोल करती हैं, वह पंजाब देश है। वितस्ता, चन्द्रभागा (असिक्री), इरावती (परुष्णी), शुतुद्रु और विपाशा—पाँचों पाँच उँगलियों की तरह फैली हुई हैं। यहीं असिक्री नदी के तीर पर सम्राट् सुदास का दस राजाओं के साथ घोर संग्राम हुआ था। वितस्ता के तीर पर वीर-केसरी महाराज पुरु ने यवन-सम्राट् सिकन्दर का रण-प्राङ्गण में आह्वान किया था। शुतुद्रु के तीर पर चींटियों की तरह फैली हुई हूण-सेना को दुर्दान्त महाराज स्कन्दगुप्त ने परास्त करके भारतीय सभ्यता की रक्षा की। यहीं धर्म क्षेत्र कुरुक्षेत्र है, जहाँ अनेक बार विधाता ने भारत के भाग्य-अंकों को मेटकर फिर लिखा है। इसी के

समीप देहली है, जो मदोद्धत नृपतियों को विनाश-क्षेत्र में भेजने के लिए सचमुच ही भारत का देहली-द्वार रहा है।

पंजाब प्रदेश में ही कठों का गण-राज्य था, जहाँ कठोपनिषद् की रचना हुई। यहीं के एक तपःपूत ब्रह्मचारी ने मृत्यु और अमृत के प्रश्नों पर गहन विचार किया था। यहीं मालव और क्षुद्रक गणों के राज्य थे—वे मालव, जिनके विषाक्त तीरों ने यवनराज सिकन्दर को मरणासन्न बना दिया था; और वे क्षुद्रक, जिन्होंने अपने अमोघ शस्त्रों के प्रताप से अकेले ही यूनानी-सेना को परास्त करके सिकन्दर को सन्धि करने पर बाध्य किया था। यहाँ कैसे कैसे पराक्रमी योद्धा थे! तीन-तीन गज़ लम्बे तीरों से लड़नेवाली काल के समान भयंकर पदाति-सेना इसी भूमि में विचरती थी। यहीं शिवि और आरट्टों के गण-राज्य थे, जिनके विशीर्ण खँडहर अब भी प्राचीन वैभव का स्मरण दिलाते हैं। यहीं सरस्वती और दृषद्वती नदियों के बीच में ब्रह्मावर्त प्रदेश में सामवेद का मधुर गान होता था।

इसी पंजाब प्रदेश के सुपुत्रों ने अनन्त बार अपने रक्त की आहुति देकर भारत के मान-गौरव की रक्षा की है। क्यों माता! क्या प्रसिद्ध बलि-वेदि अमृतसर इसी प्रदेश में है? हाँ, देवी को असाधारण भेंट चढ़ानेवाले गुरु गोविन्दसिंह के स्थान को छोड़कर और कौन स्थान उसके उपयुक्त हो सकता है। इन्हीं पाँच नदियों के बीच घूम-घूमकर गुरु नानक ने एक ईश्वर का गुण-गान किया था। फिर दो शताब्दी बाद इसी प्रदेश में वीर बैरागी बन्दा ने शोणित-

तर्पण की प्यासी तलवार को दुर्विनीत यवनों के विरुद्ध धारण किया। जिस स्थान पर चिड़ियों से बाज़ मारे गये, उस भूखंड को माता गौरवपूर्वक अपने वक्ष पर धारण करती है।

इस प्रदेश के उत्तर-पश्चिम दिगन्तर में पुरुषपुर है, जहाँ अनेकों बार भारत के पौरुष की परीक्षा हुई है। यहीं पर राजा आनन्द-पाल ने असंख्य हिन्दू-सेना लेकर यवनों* को चालीस दिन तक मृत्यु-पाश में बाँध रक्खा था। इसी के निकट की पर्वत-उपत्यकाओं में प्राचीन केकय देश के वंशधर पुरुष-सिंह गक्खड़ निवास करते थे, जिन्होंने यवन सेनापति† के लिए यमलोक का मार्ग प्रशस्त कर दिया था। पंजाब के नैर्ऋत कोण में मुलतान नगर है। प्राचीन मूलस्थान का मार्तण्ड-मंदिर अपने समय में भारत की स्थापत्य कला का एक अद्भुत नमूना था। हिन्दू-अभ्यु-दय के संध्या-काल में इसी पंजाब प्रान्त के महाराणा रणजीतसिंह ने अपने शौर्य-पराक्रम से अफ़गानों के विरुद्ध भालों की नोक से निर्मित मानों एक लोहे का अभेद्य प्राचीर खड़ा कर दिया था। उनके प्रधान सेनापति हरिसिंह नलवा के विजय-गीत आज भी पंजाब के घर-घर में गाये जाते हैं।

पंजाब के दक्षिण-पूर्व में इन्द्रप्रस्थ था। इस प्रदेश में महाराज हस्तिन् ने हस्तिनापुर बसाया था। इसी चक्र में 'जय'‡ नामक

---

* यहाँ यह शब्द मुसलमानों का सूचक है। —सम्पादक

† मुहम्मद ग़ोरी। —सम्पादक

‡ यह महाभारत का पर्यायवाची शब्द है। —सम्पादक

इतिहास की घटनाएँ आज से लगभग पाँच सहस्र वर्ष पूर्व घटित हुई थीं। शान्तनु-पुत्र सनातन ब्रह्मचारी गांगेय भीष्म यहीं रहते थे। इसी के दक्षिण में द्वैत वन था, जहाँ राज्यश्री-विहीन पाण्डवों ने कुछ समय तक निवास किया था। यहीं स्थाण्वीश्वर के सम्राट् यशोमती-पुत्र महाराजाधिराज हर्षवर्धन ने विक्रम की छठी शताब्दी में धर्म-राज्य स्थापित किया। यहाँ की धूली के कण-कण में माता का सौरभ मिला हुआ है।

यमुना नदी के तट पर खड़े होकर देखने से दाहिने हाथ की ओर विशाल राजस्थान है और बाइं ओर संयुक्त प्रान्त। ऐसा प्रतीत होता है मानों सूर्य की दुहिता क्षात्रधर्म और ब्राह्मण-धर्मों के बीच की सीमा बना रही है। जिस राजस्थान की महिमा का पार चन्द और सूरजमल की लेखनी भी पूरी तरह न पा सकी, वहाँ के क्षात्रधर्म का सम्पूर्ण चित्र कौन खींच सकता है? जब सरस्वती नदी समुद्र तक बहती थी, उस प्रत्न युग में यह मरु-भूमि सलिलार्णव के नीचे छिपी हुई थी। विधाता के विशेष प्रसाद से वीर रस ने अपने निवास के लिए इस भूखंड को सागर-गर्भ से प्राप्त किया था। यहाँ के रण-बाँकुरे नर-पुंगवों और आर्य-देवियों के उदात्त चरित्रों का गान करके कविगण अनन्त काल तक अपनी लेखनी को पवित्र करते रहेंगे। यहाँ का प्रत्येक स्थान एक-न-एक वीर की कीर्तिगाथा से सम्बद्ध है। यहाँ पद-पद पर आर्य-देवियों ने सहस्रों की संख्या में सनातन सतीत्व की रक्षा के लिए हँसते-खेलते आत्मबलि दी है। इसके अर्बुद पर्वत की दुर्गम घाटियों

से अनेक बार राजस्थान की आकुल मर्यादा को बचाया है। बापा रावल, समरसो, राणा कुम्भा तथा राणा साँगा जैसे वीर इसी राजस्थान में जन्मे हैं। हिन्दू जाति को स्वातन्त्र्य का पाठ पढ़ानेवाले अमर आचार्य महाराणा प्रतापसिंह ने यहीं सिसोदिया वंश की मानरक्षा के लिए संसार-प्रसिद्ध हल्दी घाटी के युद्ध में असंख्य यवन-सेना का वध किया था। जिस नीले चेटक के अश्वारोही का चरित्र राजस्थान के प्रत्येक घर में आज भी गाया जाता है, उस वीर-केसरी का यश जब तक भारत-वसुन्धरा के युवकों में प्राण है, तब तक अक्षुण्ण बना रहेगा।

राजस्थान ने किसी समय यौधेय और मालव गणों को शरण दी थी। पंजाब प्रदेश के समान ही यह भूमि भी अनेक गण-राज्यों की जननी रही है। उनके अंक और लाञ्छनों से चिह्नित मुद्राएँ आज भी पाई जाती हैं। यहाँ की मध्यमिका नगरी किसी समय शिवि जनपद की राजधानी थी। उसमें संकर्षण और वासुदेव के देवधाम थे। इसी राजस्थान में विराट् नगर था, जहाँ पाण्डु-कुल के वंशतन्तु को अविच्छिन्न रखनेवाली देवी उत्तरा का जन्म हुआ था। यहीं दक्षिण में महाकवि माघ की जन्मभूमि श्रीमाल नगरी है। राजस्थान के क्षत्रियों के छत्तीस कुलों का पृथक्-पृथक् विस्तार-वर्णन प्रायः असम्भव ही है। पद्मिनी और दुर्गावती की जन्मभूमि को आर्य-सन्तान अब भी श्रद्धा के साथ प्रणाम करती है। भक्ति-स्रोतस्विनी मीराँबाई का स्मरण करके भारतीय महिलाओं के मुखमंडल आज भी प्रसन्नता से जगमगा

उठते हैं। श्रद्धा की साक्षात् मूर्ति मीराँ के अध्यात्म-अनुभव बड़े मूल्यवान् हैं।

यमुना के बाएँ तट पर ब्रह्मर्षि देश है। यहाँ ब्रह्म-विद्या का संतत प्रचार था। गंगा के तट पर पांचालों की कान्यकुब्ज नामक राजधानी थी। माया, अयोध्या, काशी, कौशाम्बी, श्रावस्ती आदि प्रसिद्ध पुरियाँ यहीं पर हैं। शूरसेन राज्य की राजधानी मथुरा योगिराज भगवान् श्रीकृष्ण की जन्म-भूमि है। उत्तर कोशल की राजधानी अयोध्या नगरी में पुण्यश्लोक भगवान् रामचन्द्र ने जन्म लिया था। जिस सरयू के तीर पर इक्ष्वाकु-वंश के नृपतियों के अनेक यूप थे, आज भी वह अयोध्या के पास से बहती हुई उस अतीत महिमा का संदेश दे रही है। जिन अरुन्धती-पति तपोनिधि वसिष्ठ के लिए कवि ने निम्नलिखित श्लोक लिखा है, उनका आश्रम अयोध्या के समीप ही था:—

पुरुषस्य पदेष्वजन्मनः समतीतं च भवच्च भावि च।
स हि निष्प्रतिघेन चक्षुषा त्रितयं ज्ञानमयेन पश्यति ॥*

यह श्लोक समस्त गंगा की अन्तर्वेदी का रहस्य-सूत्र है।

यहीं से कुछ दूर पर वाल्मीकि मुनि का तपोवन था, जहाँ शब्दब्रह्म का साक्षात्कार करनेवाले प्राज्ञ कवि की वाणी का आदि-काव्य रामायण के रूप में अवतार हुआ। वह अवध-भूमि धन्य है, जहाँ काव्य-मानस के हंस गोस्वामी तुलसीदासजी ने जन्म

* महाकवि कालिदास-प्रणीत रघुवंश, सर्ग ८, श्लोक ७८—संपादक

लेकर अनेक पुराण और श्रुतियों के रहस्यों को अपने रामचरितमानस द्वारा हिन्दू जाति के लिए गंगाजी के समान सुलभ कर दिया। देवों की यज्ञभूमि प्रयाग में गंगा-यमुना के संगम का दृश्य कितना मनोहर है, जिसकी छटा से मुग्ध होकर कालिदास की सरस्वती के प्रवाह में कुछ समय के लिए उपमाओं की बाढ़ आगई थी†। प्रयाग के समीप ही वत्सराज उदयन की कौशाम्बी नामक राजधानी थी। वासवदत्ता के स्वामी उदयन भारतीय उपाख्यानों के प्रकृष्टतम नायक हैं। महाकवि सुबन्धु, भास, हर्ष आदि ने अनेक बार उदयन का गुण-गान किया।

लोकपावनी गंगा के बाएँ तट पर काशी नगरी बसी हुई है। यहाँ के ज्ञान की महिमा अनन्त समय से संसार में व्याप रही है। संसार के इतिहास में सब से प्राचीन पुरी यही है। काशी इतिहास से अतीत है। काशी के व्योम में सर्वप्रथम ज्ञान-सूर्य का प्रकाश हुआ। संयम और समाधि की मूर्ति जैन तीर्थंकर श्रीपार्श्वनाथ ने यहीं जन्म लिया। इसी महापुरी में शारीरक भाष्य के रचयिता श्रीशंकराचार्य का ज्ञानचक्षु स्वयं शिव की कृपा से उन्मिषित हुआ। वाचस्पति मिश्र और मधुसूदन सरस्वती जैसे प्रकाण्ड विद्वानों की धात्री यही पुरी है। यहीं कुल्लूक भट्ट ने मनु के अर्थ का प्रकाश किया। पाण्डित्यरूपी महाकान्तार के निर्भय सिंह पण्डितराज जगन्नाथ ने यहीं पर अपनी गर्जना से समस्त उत्तरापथ

† रघुवंश, अध्याय १३, श्लोक ५५-५९। —सम्पादक

को कम्पायमान कर दिया था। व्याकरण-शास्त्र के उद्भट संस्कारक श्रीभट्टोजि दीक्षित ने यहीं सिद्धान्तकौमुदी की रचना की। उनसे पूर्व पाणिनि के सूत्रक्रम का प्रतिपादन करने वाली काशिका का यहीं निर्माण हुआ था। अप्पय दीक्षित जैसे अद्वितीय पंडित ने यहीं सिद्धान्तलेश की रचना की। इस ज्ञानपुरी में विद्या का नित्य नवीन उत्सव रहा है। यहीं के बापूदेव शास्त्री और शिवकुमार शास्त्री की कीर्ति दिग्-दिगन्त तक फैल गई थी। इसी काशी पुरी में पुनः एक बार श्रुतिमहती आर्य-सरस्वती की रक्षा और प्रचार के लिए एक ब्राह्मण† द्वारा विश्व-विश्रुत हिन्दू-विश्वविद्यालय की स्थापना हुई है।

काशी से थोड़ी दूर पर‡ धर्म-चक्र-परिवर्त्तन-महाविहार है, जहाँ सर्वप्रथम भगवान् बुद्ध ने सत्यचतुष्टय का सब लोकों के हित और सुख के लिए उपदेश दिया तथा आर्य अष्टांगिक मार्ग को प्रशस्त किया। तथागत के उस सनातन मानव-धर्म को जानने के लिए आज सब संसार उत्सुक है।

कोशल से थोड़ी दूर उत्तर में शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु थी। इसी के निकट लुम्बिनी उद्यान में मायादेवी के पुत्र सिद्धार्थ ने जन्म लिया था। आज भी रुम्मिनिदेई गाँव में अशोक का स्तम्भ उसी स्थान पर प्रतिष्ठित है। यहीं जेतवन था, जिसे अनाथपिण्डिक नामक नगर-श्रेष्ठी ने कार्षापणों से बिछाकर

---

† महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय —सम्पादक।

‡ सारनाथ में।—सम्पादक

सौगत-संघ को प्रदान कर दिया था। इस प्रदेश के विक्रम-ऊर्जित गण-राज्य आज कीर्तिमात्रावशिष्ट ही हो गए हैं।

इसके पूर्व में बिहार प्रान्त है, जहाँ पृथिवी के नीचे प्रस्तर-कला के अनुपम रत्न छिपे हुए हैं। यहाँ ही मिथिला में अध्यात्मवेत्ता विदेह राजर्षि जनक का राज्य था। याज्ञवल्क्य के शिष्य राजर्षि जनक के सदृश ब्रह्मनिष्ठ और कर्मनिष्ठ और कौन हुआ है? संसार के राजाओं में जनक का नाम अकेला ही है। चन्दन-सुलसित दक्षिण-बाहु तथा खड्ग-निकृन्तित वाम-बाहु में समान भाव रख सकनेवाले विदेह जनक का अभी तक भारत के अध्यात्मज्ञानी श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं। उन्हीं की पुत्री सीता थीं, जिन्होंने सदा के लिए जगत् में पातिव्रत का आदर्श स्थापित किया। ब्रह्मवादिनी सुलभा और ब्रह्मपरायण अवधूत अष्टावक्र ने यहीं पर जनक को तत्त्वोपदेश दिया था। यहीं योगीश्वर याज्ञवल्क्य ने आदित्यवर्ण पुरुष का साक्षात्कार करके वाजसनेयी शाखा का प्रचार किया। भारतीय अध्यात्म-विद्या के अक्षय्य निधि याज्ञवल्क्य का 'शतपथ ब्राह्मण' अद्यावधि वेदों के रहस्यों का प्रकाश कर रहा है। उनकी स्मृति पर कल्याण नगरी के धर्म-शास्त्र-कोविद विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा नामक टीका आज तक हिन्दू-विधान का नियंत्रण करती है। इसी भूमि में मैत्रेयी ने इस शाश्वत सत्य का प्रकाश किया था—'येनाहं नामृता स्याम् किमहं तेन कुर्याम्', अर्थात् जिस वस्तु से मैं अमर न बन सकूँ, उसे लेकर मैं क्या करूँ?

यहीं पर लिच्छवियों का गण-राज्य था, जिनसे विवाह-सम्बन्ध हो जाने के कारण प्रतापी गुप्त-महीपति अपने विरुद में लिच्छवि-दौहित्र लिखना गौरवास्पद समझते थे। यहीं गिरिव्रज नगरी थी, जिसके खँडहर अभी तक वर्तमान हैं। यह महाभारत-काल में महाराज जरासंध की राजधानी थी; यहीं श्रीकृष्ण ने राजकुमार सहदेव का राज्याभिषेक किया था। उस समय के दुर्ग का पाषाण का दुर्घट प्राचीर अब भी देखनेवालों को आश्चर्य-चकित करता है। इसी गिरिव्रज के पास राजगृह है, जिसके समीप वैभार, विपुल, तपोवन, शैलगिरि और रत्नगिरि नामक पाँच गिरि-शिखर थे। नगर के दक्षिण-पूर्व में स्थित रत्नगिरि पर एक गुफा में मुमुक्षु गौतम ने कठोर तपश्चर्या की थी। इस सप्तपर्णी का प्रत्येक रजःकण अत्यन्त तपःपावित है।

राजगृह से थोड़ी दूर पर नालंद-विश्वविद्यालय के भवन अभी तक विराजमान हैं। दस सहस्र विद्यार्थियों को शिक्षा देनेवाले इस केन्द्र में सुदूर बृहत्तर भारत तथा पूर्वी देशों से छात्रगण आते थे। श्रीनालंद-महाविहारीय-आर्य-भिक्षुक-संघ का प्रशंसा-पत्र प्राप्त करना अपूर्व गौरव का चिह्न समझा जाता था। इसी मगध देश में पाटलिपुत्र नगर आठ सौ वर्षों तक भारत के क्षात्रतेज का अनुपम गोप्ता रहा है। यहीं के सम्राटों से पृथ्वी राजन्वती कहलाती थी। पाटलिपुत्र की दुर्ग-रचना बड़ी विलक्षण थी। एक गहरी परिखा ने नगर को चारों ओर से मेखला के समान घेर रक्खा था। नगर की रक्षा के लिए सुदृढ़ काष्ठ का

बना हुआ एक बृहत्काय प्राचीर था, जिसमें आने-जाने के चौदह मार्ग थे। इसके गोपुरों पर यत्र-तत्र तोरण बने हुए थे। नगर के भीतर पाँच सौ सत्तर सुवर्ण-खचित अट्टालिकाएँ थीं। चन्द्रगुप्त मौर्य के सुगांगेय नामक राज-प्रासाद में सोने की बेलों पर चाँदी की चिड़ियाँ लगी हुई थीं। ऐसा अतुल सम्पत्ति और वैभव के भार से सिल्यूकस का राजदूत एकदम स्तब्ध हो गया था। जिस चाणक्य के अमर्ष ने नन्दराज को श्रीविहीन कर दिया, तथा जिसके प्रसाद ने चन्द्रगुप्त को सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया, उसी कुशल मंत्री की राजनीति से शासित होनेवाले विशाल मौर्य-साम्राज्य के सुप्रबन्ध की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

इसी पाटलिपुत्र में 'देवानां प्रिय' प्रियदर्शी महाराज अशोक ने राज्य किया। बौद्ध-संघ में दीक्षा लेकर जिन्होंने भगवान् के नीति-धर्म का सुवर्णभूमि ब्रह्मा से गान्धार तक सिंहल से काश्मीर तक प्रचार किया, जिन्होंने स्वदेश और विदेशों में सब प्राणियों के हित-सुख के लिये अनेक पुण्य-कर्म किए, तथा मिस्र देश और सीरिया तक जिनका राज्य-सम्बन्ध था, उन महाराज अशोक की अमर कीर्ति का बखान करनेवाले स्तम्भ और धर्मलेख शाहबाजगढ़ी से जूनागढ़ तक तथा धौली-जौगड़ से सिद्दापुर (मैसूर) तक फैले हुए हैं। जिन्होंने भिक्षुसंघ भेजकर मध्य-एशिया की वर्वर जातियों में तथागत के धर्म का प्रचार किया, जिनके पुत्र और पुत्री ने स्वयं तप में दीक्षित होकर धर्मपथ को आलोकित किया, तथा एशिया भूखंड की एकता के स्वप्न को सबसे पहले

जिन्होंने सत्यात्मक रूप दिया, उन महाराज अशोक को जन्म देनेवाली भारतभूमि ही हम सबकी जन्मभूमि है।

इसी पाटलिपुत्र में महाराज पुष्यमित्र, परमभट्टारक परम भागवत महाराज समुद्रगुप्त तथा महाराजाधिराज परमेश्वर आदित्यसेन ने अनेक बार अश्वमेध यज्ञ करके 'पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराट्', इस वैदिक आदर्श की स्थापना की। यह पाटलिपुत्र विद्या का भी अनुपम केन्द्र था। यहीं वर्ष, उपवर्ष, पाणिनि, पिंगल, व्याडि, वररुचि, पतञ्जलि आदि शास्त्र-रचयिता शलाका आदि नाना परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर ख्याति को प्राप्त हुए। मीमांसा और वेदान्त-सूत्रों पर भाष्य रचनेवाले भगवान् उपवर्ष पाणिनि के गुरु थे। इसी पुरी में जन्म पाकर आर्यभट्ट ने आर्यभटीय ज्योतिषशास्त्र की रचना की और आज से सहस्रों वर्ष पूर्व सूर्य के चारों ओर पृथिवी के परिभ्रमण का व्याख्यान किया। इसी तिरहुत (तीरभुक्ति) में नव्य-न्याय का जन्म हुआ, जिसने कुतार्किक विरोधियों को काटने के लिए पैने खाँडे का काम दिया। इस शस्त्र के होते हुए आस्तिक-शास्त्रों को जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास आदि प्रबल रिपुओं से एकदम निर्भयता प्राप्त हो गई। बिहार में ही शोण नदी के तट पर स्थित प्रीतिकूट गाँव में महाकवि बाणभट्ट का जन्म हुआ, जिनकी कादम्बरी नामक 'अतिद्वयी कथा' ने अकेले ही संस्कृत-गद्य की प्रतिष्ठा रख ली है। हर्ष के मित्र इस ऐतिहासिक ने 'हर्षचरित' के द्वारा मध्यकालीन भारत की दशा का बड़ा सजीव वर्णन किया है। इसी प्रदेश में मैथिल-कोकिल विद्यापति ने काव्य-

रचना की, जिसका सम्मान तीन-तीन प्रान्तों में समान रूप से हुआ है। इसी प्रान्त के दक्षिण में उत्कल और कलिङ्ग हैं, जहाँ के समुद्र-तटों पर सुदूर पूर्वी द्वीपों के साथ बराबर व्यापार होता था। महार्घ पदार्थों का क्रय-विक्रय करनेवाले भाण्डागारिक सुदृढ़ पोतों पर सामान लादकर द्वीपान्तरों में जाते थे। कलिंग के प्रतापी महाराज महामेघवाहन खारवेल ने पाटलिपुत्र तक अपने राज्य का विस्तार किया था। उन्हीं की कृपा से कुमारी पर्वत पर जिन-शास्त्रों का पारायण किया गया।

विहार के पूर्व में बंग देश है। यहाँ के समतट प्रदेश सदा से गंगा के अनुपम कृपा-पात्र रहे हैं। गंगा और ब्रह्मपुत्र की क्रोड़ में स्थित यह भूखंड बहुत उपजाऊ है। बंगाल के 'आपाद-पद्म-प्रणत कलमों'* का वर्णन कौन कर सकता है? यहाँ के पुण्ड्रवर्धन और सुवर्णकुड्या स्थानों में अनुपम कौशेय दुकूल तैयार होते थे। कर्णसुवर्ण के समीप नागकेसर, लिकुच, बकुल तथा वट वृक्षों पर कोष-कीट पाले जाते थे। यहाँ के बुननेवालों का सम्बन्ध लाट (उत्तरी गुजरात) तथा दशपुर (वर्तमान मंदसौर, मध्यभारत) के अंशुक-व्यवसायियों से था। कर्णसुवर्ण के समीप में ही रक्त-मृत्तिका स्थान है, जहाँ के पोताधिपति महानाविक बुद्धगुप्त का शिलालेख मलय प्रायःद्वीप के वैलेज़ली नामक स्थान में अभी तक विराजमान है।

यहाँ का साहित्य अपूर्व है। जहाँ कृष्णभक्त चैतन्य का जन्म

* आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम्। रघुवंश सर्ग ४, श्लो० ३७—सं०

हुआ हो, इस भूमि के पुण्यभाग का क्या कहना है! कविवर जयदेव की त्रिपंची इसी बंगभूमि में निनादित हुई। उनके समकालीन धोयी कवि और रूपगोस्वामी ने भी अद्भुत काव्य-रचना की। यहीं नासिरशाह, हुसेनशाह आदि के समय में विद्यापति, कृत्तिवास, चंडीदास और मालाधर वसु ने भगवद्भक्तिमयी काव्य-वाणी का प्रसार किया। भक्त हरिदास के कीर्तन की पुण्यभूमि यही है। धर्म-शास्त्र के धुरन्धर पंडित जीमूतवाहन ने इसी प्रान्त में दायभाग नामक ग्रन्थ की रचना की। हे मातृभूमि, तेरा गौरव अपूर्व है, जिसमें ऐसे-ऐसे धर्मतत्त्व-कोविद उत्पन्न हुए। शक्ति-तत्त्व की उपासना करनेवाले इस प्रान्त ने भारत के अभ्युत्थान में अग्रणी बनकर भाग लिया है। 'वन्दे मातरम्' गान प्रारम्भ में यहीं गाया गया। काव्य, कला, साहित्य, नाटक, विज्ञान, सबमें ही बंगीय प्रतिभा का प्रकाश हुआ है। बंग के उत्तर-पूर्वी कोण पर नवद्वीप नगरी है, जो श्रीचैतन्य महाप्रभु की जन्मभूमि है। प्राची के ललाट पर आभासित रोचना-बिन्दु के सदृश नवद्वीप को दूसरी तक्षशिला ही कहना चाहिए। तिरहुत में निर्मित नव्य-न्यायरूपी खड्ग पर नवद्वीप में ही धार रक्खी गई। काशी, काञ्ची, तक्षशिला और नवद्वीप, इनको ज्ञानगुरु भारत का अन्तःकरण-चतुष्टय ही समझना चाहिए। प्रकृति के अनुपम कृपापात्र कामरूप में कामाक्षा देवी का प्रसिद्ध मंदिर है। इस प्राग्ज्योतिष प्रान्त से भी मातृभूमि को बहुत कुछ आशाएँ हैं।

मध्यभारत में मालव प्रदेश है। यहीं अवन्ति और विदिशा

नामक राजधानियाँ हैं। चर्मण्वती, शिप्रा, गंभीरा, वेत्रवती, सिन्धु, तमसा आदि वारिधाराएँ इसी प्रदेश से यमुना के पास नित्य उपहार ले जाती हैं। उत्तरी मालव की उज्जयिनी नामक राजधानी थी; दक्षिण-मालव की प्रधान पुरी माहिष्मती थी। उज्जयिनी नगरी में देश के प्रधान व्यापारमार्ग मिलते थे। पहला मार्ग सौवीर देश से अवन्ती तक, दूसरा प्रतिष्ठान से अवन्ति-विदिशा होता हुआ कौशाम्बी से साकेत और श्रावस्ती को जाता था। वहाँ से कुशीनगर, पावा, पाटलिपुत्र और राजगृह तक सम्बद्ध था। तीसरा मार्ग अवन्ती से काशी होता हुआ चम्पा और ताम्रलिप्ती तक जाता था। चौथा प्रसिद्ध मार्ग अवन्ती से गान्धार देश को मिलाता था। इस विशाला पुरी में किसी समय प्रद्योतों का राज्य था। यहीं ज्योतिष-विद्या की अपूर्व उन्नति हुई। पंच-सिद्धान्तों के रचयिता आचार्य वराहमिहिर यहीं रहते थे। सारे भारत में यह पुरी संस्कृत का केन्द्र थी। महाकवि कालिदास ने जहाँ निवास किया हो, उसको स्वर्ग का ही कान्तिमत् खंड* कहना चाहिए। यहीं शिप्रा के तीर पर स्थित महाकाल के मंदिर में नित्य महाभारत की कथा होती थी। यह अवन्ती किसी समय हूण-नृपतियों की राजधानी थी। प्रबल प्रतापी क्षत्रप रुद्रामन् विक्रम की द्वितीय शताब्दी में यहीं राज करते थे। मालव प्रदेश में ही पुष्यमित्रों का गणराज्य था, जिन्होंने गुप्त-कुल की राजलक्ष्मी को विचलित कर दिया था।

---

*शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम्।

कालिदास-प्रणीत 'मेघदूत' पूर्वमेघ, श्लो० ३०.—संपादक

इन्हीं समुदित-बल-कोप पुष्यमित्रों पर समर-विजयी होने के लिये महाराज स्कन्दगुप्त ने भितरी गाँव के पास एक रात्रि पृथ्वी-तल पर शयन करके तपस्या से व्यतीत की थी। विप्लुत वंश-लक्ष्मी के संस्तंभन के लिये जब सेनानी लोग तपस्या करते हैं, तब क्षात्रधर्म समुदीर्ण हो जाता है। जिन्होंने समरांगण में विक्रान्त हूणों से लोहा लेकर अपने भुज-दंडों से पृथ्वी को कम्पायमान कर दिया, तथा जिन्होंने अनन्त म्लेच्छों को मार भारत-मही को पुनः आर्य-धर्म में दीक्षित किया, यह अवन्तिपुरी उन्हीं हूणहनन-केसरी जनेन्द्र कल्किराज महाराज यशोधर्मन् की पुण्यभूमि है। इसी अवन्ति के समीप दक्षिण में धारा नगरी है, जहाँ सरस्वती के अवतार महाराज भोज ने राज्य किया। भोज की विद्या के अगाध गाम्भीर्य को त्रिलोकी में कौन पूरी तरह जानता है? वह कौनसा विषय है, जिसपर सरस्वती-कण्ठाभरण महाराज भोज ने लेखनी न उठाई हो। हे मालव-भूमि! तुझे वारंवार प्रणाम है।

मध्यभारत के पूर्वी भाग में विदिशा नामक नगरी है। इसी प्रदेश को दशार्ण कहते थे। यहाँ साँची और भरहुत के स्तूप हैं, जिनकी शिल्पकला के कारण मातृभूमि का गौरव प्रकृष्ट हो रहा है। ये शिल्प के उदाहरण किसी सम्राट् की आज्ञा से नहीं बने हैं, वरन् सामान्य पौर-जानपद प्रजा ने अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार इनके निर्माण का भार वहन किया था। साँची के विशाल तोरण भारतीय शिल्पकला के अद्भुत उदाहरण हैं। उनमें तक्षक के अमर हृदय की छाप लगी हुई है। समीप ही भरहुत के स्तूपों

में भदन्त, कश्यपगोत्र, मध्यम, दुन्दुभिसार और गोतीपुत्र आदि की अस्थियाँ बाइस सौ वर्ष बाद भी उसी तरह रक्खी हुई हैं। इन महात्माओं ने युद्ध-दुन्दुभि की जगह धर्म का भेरी-घोष करनेवाले महाराज अशोक की आज्ञा से प्रेरित होकर हिमालय के प्रदेशों में भगवान् बुद्ध के धर्म का प्रचार किया था। इस भूखंड में हिन्दी भाषा खूब फली-फूली है। यहीं चम्पतराय के पुत्र छत्रसाल ने अलौकिक पुरुषार्थ के साथ हिन्दू-राज्य की स्थापना की थी।

मध्यभारत के दक्षिण में मध्य-प्रदेश है। यहीं विन्ध्य और पारियात्र पर्वतों के बीच मेकल-कुमारी रेवा बहती है। यहाँ के पर्वतों और बनखंडों में अभी तक आदिम सभ्यता बसती है। महाकान्तार और दण्डकारण्य यहीं थे। यहीं शून्य जनस्थान में राम, लक्ष्मण और सीता ने भ्रमण किया था। इसके दक्षिण में विदर्भ देश है, जहाँ दमयन्ती और इन्दुमती जैसे रमणी-रत्न हुए हैं। यहीं पद्मपुर नामक ग्राम में कश्यपगोत्रीय ब्रह्मवादी उदुम्बर ब्राह्मणों के घर में कविवर भवभूति हुए; शब्द-ब्रह्म को प्रत्यक्ष करनेवाले इन प्राज्ञ महात्मा की परिणत वाणी ही 'उत्तर-रामचरित' के रूप में प्रकट हुई। कुमारिल के वेदोत्थान-आंदोलन के समय जिस वैदिक सभ्यता का उद्धार हुआ, उसका समस्त आदर्श भवभूति में पूंजीभूत हो गया था। इसी विदर्भ के अचलपुर ग्राम में कौशिक गोत्र में महाकवि भारवि और दंडी ने जन्म लिया, जिनके अर्थ-गौरव और पद-लालित्य ने सहृदय जनों को

मुग्ध कर लिया है। इस मध्य-प्रान्त में ही रामगिरि, मालक्षेत्र और आम्रकूट हैं। यहाँ के छत्तीसगढ़ के इतिहास को राजस्थान का ही एक टुकड़ा समझना चाहिए। इसी के दक्षिणवर्ती वेनगङ्गा और गोदावरी तथा तुंगभद्रा और कृष्णा नदियों के बीच में महा-कान्तार-प्रदेश हैं। ये किसी समय वन्य जातियों से भरे हुए थे। यहाँ ही सातवाहन-राज्य का विस्तार हुआ था। यहाँ अभी तक प्राचीन संस्कृत-साहित्य के अनेक ग्रंथ सुरक्षित हैं। इसके उत्तर-पश्चिम कोने में अजन्ता की गुफ़ाएँ हैं, जिनको राष्ट्रीय शिल्पशाला का गौरवपद प्राप्त है। मौर्य, गुप्त, चालुक्य, पल्लव, सब सम्राटों ने अजन्ता की गुफ़ाओं के सँवारने में अपना ध्यान दिया था। इन्हीं गुफ़ाओं के निर्माण में श्रीमान् और वित्तपाल सदृश तक्षकों के कौशल का परिचय मिलता है।

पश्चिम में उत्तर से दक्षिण तक फैला हुआ महाराष्ट्र देश है। इसके उत्तर में सिन्धु-सौवीर देश है, जहाँ के राजा जयद्रथ ने कुरु-क्षेत्र के युद्ध में भाग लिया था यह क्षेत्र सिन्धु नदी का अनुपम कृपापात्र है यहाँ किसी समय अम्बष्ठ और क्षत्रिय नाम के जन-पद तथा मुचुकर्णि गणराज्य था, जिन्होंने सिकन्दर की गति को रोककर अंतर्राष्ट्रीय विधान का पालन किया था। यहाँ के अधि-वासी दंडनीति में बड़े निष्णात थे। मुचुकर्णि संघ के राज्य में सोने-चाँदी की खानें थीं। ये लोग स्वास्थ्य के नियमों का धर्म की तरह पालन करते थे और सवा सौ डेढ़ सौ वर्षों का दीर्घायुष्य प्राप्त करते हुए 'जीवेम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्' का

आदर्श रखते थे। स्वतंत्रता के उपासक इस जनपद में कोई कदय और दास नहीं था। यहीं पर सिन्धु के पास पाटल नगर था, जहाँ से पाश्चात्य देशों के साथ विपुल व्यापार होता था। इस सौवीर प्रान्त में राजा दाहिर ने देशाभिमान की वेदी पर अपनी बलि चढ़ा दी थी। विक्रम की सातवीं शताब्दी में सिन्धु-तीर पर सुखासीन ऋषिसत्तम देवल ने अपनी स्मृति की रचना की, जिसमें समाज और जाति की रक्षा के लिये पुनरावर्तन संस्कार का प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रा॰ के उमरकोट दुर्ग में सम्राट् अकबर का जन्म हुआ था। सिन्ध देश की शुष्क भूमि में वेदान्त और सूफ़ी-धर्म अत्यन्त पल्लवित हुआ है। सत्रहवीं शताब्दी में शाह लतीफ़ नाम के महात्मा ने 'रसालो' लिखकर 'अहं ब्रह्म' के उपदेश द्वारा मानव-हृदयस्थित एकता को खोज निकाला था। सचल, स्वामी और दलपत ने उसी ज्ञान को घर-घर में पहुँचा दिया। यह सिन्ध प्रांत यद्यपि देश के एक कोने में है, तथापि मातृ-भूमि के हृदय के साथ इसका हृदय एक है। इसके निकट ही आनर्त, सुराष्ट्र और लाट प्रदेश हैं। इनमें सरस्वती, साभ्रमती (सावरमती), मही, नर्मदा और पयोष्णी नदियाँ बहती हैं। सरस्वती नदी के तीर पर अणहिलपत्तन नगर है, जहाँ कलिकाल के आचार्य, कुमारपाल के सचिव पाहिणी-पुत्र श्रीहेमचंद ने अनेक ग्रंथों का निर्माण किया। इन्होंने जैन और ब्राह्मण-धर्म के अनुयायियों को समान रूप से अनुगृहीत किया। इस पत्तन में जैन हस्तलिखित ग्रंथों के भंडार अभी तक सुरक्षित हैं। श्री हेमचन्द्राचार्य

का समस्त पुस्तकालय खरतर गच्छ की दीवारों में बन्द है। यहाँ के साहित्य की ओर सब लोग आशाभरी दृष्टि से देख रहे हैं।

सौराष्ट्र में वलभी राजधानी है, जहाँ गुप्त-नरेशों की एक शाखा ने कई शताब्दियों तक राज्य किया। इसी के समीप पालिताना और शत्रुंजय तीर्थ हैं, जहाँ सहस्रों अर्हत प्रतिवर्ष यात्रा करते हैं। इसी के गौरव का धनेश्वर ने शत्रुंजय-माहात्म्य नामक ग्रन्थ में गुणगान किया है। सुराष्ट्र मंडल की सर्वप्रसिद्ध पुरी द्वारावती है, जो अंधक-वृष्णि गणराज्य की राजधानी थी। यहीं विक्रम से चौदह सौ वर्ष पूर्व अर्धभोक्ता राजन्य श्रीकृष्ण सात्वत दाशार्ह वृष्णि आदि यादवों के प्रधान बनकर शासनसूत्र चलाते थे। इन्हीं वृष्णियों के 'वृष्णिसंघस्य त्रातरस्य' शब्दों से अंकित प्राचीन सिक्के अब भी मिलते हैं, जिनपर चक्र की मुद्रा बनी हुई है। द्वारावती और इन्द्रप्रस्थ के तत्कालीन राजनीतिक सम्बन्ध को कौन भारत-वासी नहीं जानता ? यहीं समुद्र-तीर पर प्रभास तीर्थ है, जहाँ मदोद्धत यादवों का विनाश हुआ था। यही प्रभास पीछे से सोम-नाथ नाम से विख्यात हुआ। यहीं पर आर्य जाति को 'दंडनीति का नाश होने पर सब धर्म भी डूब जाते हैं' (मज्जेत् त्रयी दंड-नीतौ हतायां सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुर्विवृद्धाः), इस अत्यन्त कड़वे सत्य का यवन विध्वंसक के हाथ से प्रत्यक्ष अनुभव करना पड़ा। यह गुजरात प्रान्त वही है, जो व्यापार में अत्यन्त उन्नतिशील था, जहाँ के नाविक अपनी-अपनी तरी और पोतों में अत्यन्त महार्घ पदार्थ लादकर द्वीप-द्वीपान्तरों में बेचकर उत्तम लाभ और पृथु

धन लाते थे, जहाँ से एक सहस्र रथकार किसी समय विराट् भारत को बसाने के लिए गए थे। इसी गुर्जर प्रान्त में मोरवी और पोरबन्दर हैं, जहाँ तेजस्वी दयानन्द-से आदित्य-ब्रह्मचारी और गाँधी-से सत्याग्रही हुए हैं। इस पुण्यभूमि ने नरसी मेहता और अक्खा को जन्म दिया है। यहीं गिरिनार पर्वत के पास सुदर्शन झील है, जिसे मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ने अपने हाकिम पुष्यगुप्त द्वारा बनवाया था। उनके पौत्र अशोक ने तुषाष्फ नामक प्रादेशिक को आज्ञा देकर यहाँ नहरें बनवाई थीं। इस सुदर्शन ने सुराष्ट्र की भूमि को अदेवमातृक बना दिया था। चार शताब्दी बाद प्रचण्ड वर्षा के कारण इस झील का बाँध टूट गया था। तब उज्जैन के प्रतापी क्षत्रप रुद्रदामन ने इसके निर्माण के लिये अपने मंत्रिमंडल से रुपया माँगा था, परन्तु मंत्रियों के अस्वीकार करने पर रुद्रदामन् ने अपने निजी कोष से इसका निर्माण कराया था। गिरिनगर का शिलालेख सूचित करता है कि भारत में राजा के अधिकारों पर मंत्रिमंडल का कितना अंकुश था।

इसके दक्षिण में महाराष्ट्र देश है, जहाँ सह्याद्रि पर्वत-श्रेणियाँ हैं। विदर्भ के पश्चिम का भाग कुन्तल कहलाता था। यहीं प्राकृत-कवि राजशेखर का जन्म हुआ, जिसने कुन्तल-कुमारी कर्पूरमंजरी के चरित्र का वर्णन किया है। महाराष्ट्र के मध्य भाग में भीमा नदी के दक्षिण तट पर पंढरपुर स्थित है। यहीं ज्ञानेश्वर महाराज ने जन्म लेकर ज्ञानेश्वरी की रचना की। यहीं मुक्ताबाई के गर्भ से भक्त चोखामेला ने जन्म लिया। महाराष्ट्र के सन्तों का परिगणन

कहाँ तक किया जाय ? एकनाथ, नामदेव आदि महात्मा इसी प्रान्त में उत्पन्न हुए। कविवर मोरोपन्त और साधु तुकाराम ने अपने काव्यामृत से महाराष्ट्र-वासियों को तृप्त कर दिया। समर्थ गुरु रामदास ने छत्रपति शिवाजी जैसा शिष्य पाकर राष्ट्रीय धर्म की योजना की; सारे मराठों को संगठित करके महाराष्ट्र-धर्म को बढ़ाने का उपदेश दिया। हिन्दू-राज्य-प्रणाली के उद्धारकर्त्ता छत्रपति शिवाजी को, जिन्होंने स्वधर्म और स्वराज्य की स्थापना करके भारतीय सभ्यता को बचाया, कौन नहीं जानता ? इनकी कीर्ति को गाकर मतिमान् भूषण अमर हो गए हैं।

दक्षिण का द्रविड़ देश भक्ति और ज्ञान का आगार है। इस दक्षिणापथ के कई भाग हैं। गोदावरी और कृष्णा नदी के बीच आन्ध्र देश है, जहाँ श्रीशैल, द्राक्षाराम और कालेश्वर के शिवलिङ्ग हैं। इसी से यह प्रान्त तिलंगाना भी कहलाता है। यहीं आञ्जनेय हनुमान् ने जन्म लिया था। यहीं सातवाहन-नृपतियों की राजधानी थी, जिन्होंने चार शताब्दी तक वैदिक धर्म की दृढ़ ध्वजा का आरोपण किया। यहाँ का पौरजानपद-प्रबन्ध प्रशंसनीय था। यहाँ की नैगम, पूग और कुलिक सभाएँ जनता को पूर्ण स्वराज्य का अनुभव कराती थीं। आन्ध्र देश का मनुष्य-वर्गीकरण भी स्तुत्य था। महारथी, महासेनापति, अमात्य, महामात्र, भांडागारिक, नैगम, सार्थवाह, श्रेष्ठिन्, लेखक, वैद्य, गन्धिक, हालकीय, वर्धकि, लोहवनिज और मालाकार आदि उद्योगों के अनुसार समाज का संगठन हुआ था। आन्ध्रों का समुद्रवाहिक व्यापार उन्नति की

चरम सीमा पर था। यहाँ काव्य और साहित्य का भी विपुल विकाम हुआ है। नन्नय भट्ट, तिक्कन सोमयाजी और ऐरीप्रेग्गडा नाम के कवित्रय ने तीन शताब्दियों के अन्दर आन्ध्र-महाभारत की रचना की। भक्त-शिरोमणि पोतनामात्य और वेद-पुराणों के अद्वितीय विद्वान् महाप्रतिभाशाली श्रीनाथ कवि ने आन्ध्र देश को गौरवान्वित किया है। त्यागराज आन्ध्र के विद्यापति किंवा जयदेव हैं। ऐसे-ऐसे महाकवियों से विभूषित गोदा और कृष्णा के बीच के इस भू-प्रदेश के अधिवासी सरलता और अध्यवसाय की मूर्ति हैं।

कर्णाट या तामिल प्रान्त पूर्वी समुद्र-तट पर दूर तक फला हुआ है। यहां कावेरी और ताम्रपर्णी नदियाँ हैं। यहीं मुक्ताफल, जवादु, रिसेय आदि महार्घ पदार्थों का व्यापार होता था। यहाँ के नाना देशी संघों में देश-विदेशों के व्यवसायीगण सम्मिलित होते थे। स्थानीय स्वशासन की प्रवृत्ति यहाँ चरम सीमा को पहुँच गई थी। यहाँ ही तृतीय संगम के समय में तिरुवल्लुवर महाकवि ने तिरुकुरल ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ ने कोटि-संख्यक मनुष्यों को शान्ति और नीति की शिक्षा दी है। तिरुवल्लुवर सदृश कवि ही राष्ट्र की सभ्यता और संस्कृति का वर्धन करते हैं। धन्य है तिरुवल्लुवर की सरस्वती, जिसने तुलसीदास की शारदा के सदृश ही दक्षिण-भारत में धर्म की स्थापना की। अनन्त रत्न अपनी-अपनी प्रभाओं के व्यतिकर से मातृभूमि के स्वरूप को भासित कर रहे हैं। शैव-धर्मानुरागी मैकंड ने जिनकी उपाधि श्वेताचार्य श्वेतवन भी

है, शिवज्ञानबोध नामक ग्रंथ की रचना की, जो तामिलों की सबसे प्रिय धर्म-पुस्तक है। श्वेताचार्य के ही शिष्य अरुलनन्दि उत्कृष्ट दार्शनिक हुए, तथा दूसरे शिष्य श्रीकण्ठ ने ब्रह्मसूत्रों पर ब्रह्म-मीमांसा नामक भाष्य रचा। बोधायन, शंकर, भास्कर और रामानुज के बाद श्रीकण्ठ का ही भाष्य है। कम्बर की वाल्मीकि-रामायण भी तामिल-साहित्य का हृदय-हार है। यहाँ चोलों और पाण्ड्यों के विस्तृत साम्राज्य थे। चोल महीपतियों ने तंजोर नगरी को अतुल सम्पत्ति व्यय करके सजाया था। यहाँ के विशाल मन्दिर अब भी दर्शकों को चकित करते हैं। पल्लवों की राजधानी काञ्ची थी, जिसकी गणना भारत की महापुरियों में की जाती है। यहीं के सिंहविष्णु पल्लव के आश्रित भारवि कवि थे। सम्राट् नृसिंहवर्मन् ने अपने प्रखर प्रताप से महाराज पुलकेशी की प्रतिभा को तिरोहित कर दिया था। कांची पुरी के आपणों में, ऊँचे-ऊँचे विमान-गृह, सौध और अट्टों में तथा राजमार्ग के तोरणों और प्राकारों में अनन्त लक्ष्मी बरसती थी। इसे दक्षिण का पाटलिपुत्र ही कहना चाहिए।

पश्चिमी सागर के तीर-प्रान्त के केरल और महिशूर (मैसूर) हिरण्यवक्षा मातृभूमि के परम प्रिय अंग हैं। मध्व-धर्म के केन्द्र इन प्रान्तों में पम्पा, रन्ना, लक्ष्मीश तथा अड़सिंगाचार्य जैसे भक्त और कवि-सम्राट् हुए हैं, जिनकी रचनाओं से कन्नड़ भाषा अलंकृत है। यहीं धाड़वाड़ के समीप गजेन्द्रगढ़ में कोलाचल-सूरि मल्लिनाथ के वंशज अभी तक रहते हैं। कणाद, व्यास, पतञ्जलि, और गौतम-शास्त्रों में पारंगत तथा अतुल विषयों के ज्ञाता मल्लिनाथ के सदृश

दूसरा टीकाकार किसी भाषा में नहीं हुआ; उनकी सञ्जीवनी और घण्टापथ टीकाएँ अनन्य-सामान्य हैं। परम पावन कनकदास ने यहीं पंचम-कुल में जन्म लेकर हरितोषिणी भक्तितरङ्गिणी से समस्त जनों को स्नान कराया। यह किष्किन्धा प्रदेश है, जहाँ पम्पा और ऋष्यमूक पर्वत हैं। केरल में सरस्वती, वेत्रवती और मुरला नाम की नदियाँ हैं। यहाँ केतकी की धूलि निरन्तर वायु में उड़ती रहती है। यहीं मलय-स्थली से बहता हुआ दक्षिणानिल माता के विपुल-व्यापी अंचल को सुरभित करता है। ताम्बूल-वल्ली, एलालता, पूग और तमालपत्रों से आस्तीर्ण इन भू-प्रदेशों का स्मरण करके न जाने कितनी बार भारतीय कविजन विह्वल हो गये हैं। यही केरल-भूमि भगवान् शंकर* की जन्म-भूमि है। केवल पन्द्रह वर्ष की आयु में ही जिन्होंने शारीरक सूत्रों पर भाष्य की रचना की, उन ब्रह्मज्ञानी शंकर ने विश्व भर में भारत के यश को फैलाया है। कुमारिल, शंकर, यामुन, वेदान्तदेशिक, रामानुज, वल्लभ, उम्वेक, माधव, मध्व, सायण आदि आचार्यों का जन्म दक्षिणापथ में ही हुआ था। इनकी प्रतिभा आज तक दर्शन और वेद के विषय में अप्रतिद्वन्द्विनी मानी जाती है। इन्होंने वैदिक सभ्यता का आदर्श उत्कृष्टतम रूप में लोक के सामने रखा था। ज्ञान और भक्ति की जो तरङ्गें दक्षिणापथ से उठीं, सारे देश पर उनकी अमिट छाप लगी हुई है। दक्षिणापथ में ही ध्रुवस्वामिन्, देवस्वामिन्, भवस्वामिन्, अग्निस्वामिन् आदि ने धर्मसूत्रों पर भाष्य

---

* शंकराचार्य —संपादक

रचकर सामाजिक आचार की प्रतिष्ठा की। यहीं चालुक्य विक्रमांक की राजधानी कल्याण नगरी में श्रीविज्ञानेश्वर ने 'मिताक्षरा' की रचना की, जो व्यावहारिक धर्मशास्त्र का देश भर में सर्वशिरोमणि ग्रन्थ है।

असामान्य विद्वज्जनों को उत्पन्न करनेवाली, कला, साहित्य और विज्ञान में उन्नति की चरम सीमा को पहुँची हुई, पौर-जानपदों को उत्कृष्ट कक्षा की स्वतंत्रता प्रदान करनेवाली भारतभूमि के विषय में देवता भी गाते हैं। आहा! वे कैसे धन्य-भाग हैं, जिनकी ऐसी जननी है। हे भुवन-मन-मोहिनी, हे शुभ्र-तुषार-किरीटिनी, निर्मल-सूर्यकरोज्ज्वलधरणी! तुम जनक-जननि-जननी हो। तुम्हारा-हमारा सम्बन्ध कुछ नया नहीं है; हमारे माता-पिता और उनके पूर्वजों की भी तुम धात्री हो। हे देवी! नील-सिन्धु नित्य तुम्हारे चरणतल को धोते हैं; जलदकाल में तुम्हारे मेघ-मेदुरित अम्बर को समुद्रानिल विकम्पित करता है। तुम्हारे गगन में सर्वप्रथम ज्ञान-सूर्य का उदय हुआ, तुम्हारे यहाँ सामवेद की उत्पत्ति तपोवनों में हुई है; ज्ञान और धर्ममयी काव्य-गाथाएँ आरम्भ में तुम्हारे वन-भक्तों में प्रचारित हुईं। हे चिरकल्याण-मयी देवी, तुम धन्य हो! तुम देश-विदेश में सकल सामग्री का वितरण करती हो। हे अमृत-निष्यन्दिनी मातृभूमि! अब हम तुम्हारे वैदिक गीत गाते हैं—

"सत्य, यज्ञ, दीक्षा, तप और ब्रह्म तुम्हें धारण करते हैं। तुम हमारे भूत की साक्षी और भविष्य की अधिष्ठात्री हो। तुम

विषमता से रहित होकर नाना प्रकार की वीर्यवती ओषधियों का भरण करती हो। तुम्हारे ऊपर अग्नि और सोम नित्य प्रीतिपूर्वक सृष्टि-कार्य करते हैं। तुम्हारे गिरि-पर्वत और अरण्य हमें सुख देते हैं। तुम्हारा वारिधाराएँ प्रमाद-रहित होकर रात-दिन बहती रहती हैं। तुम व्रीहि और यवादि अन्नों को उत्पन्न करती हो। तुम्हारी षट् ऋतुएँ—ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर और वसन्त—हमें सदा सुखावह होती हैं। तुम चतुष्पाद् और द्विपाद्, उभय प्राणियों का मातृभावना से पोषण करती हो। हे विश्वम्भरे देवि, तुम हिरण्यवक्षा हो। मणि, हिरण्य आदि निधियाँ तुम्हारे निगूढ़ स्थानों में सुगुप्त हैं। तुम्हारी गोद में जन्म लेकर हमारे पूर्वजनों ने अनेक पराक्रम किए। तुमसे जन्म लेकर सब तुम्हारे ही विराट् स्वरूप में विलीन हो जाते हैं। तुम्हारे ऊपर नृत्य, गान आदि नाना प्रमोद होते हैं। तुम्हारे महायुद्धों में दुन्दुभि-घोष होता है। तुम हमारे धर्म की आश्रयदात्री हो। तुम्हारे ऊपर ही यथाप्रान्त विभिन्न-भाषा-भाषी ('नाना विवाचसः') और नाना धर्मों के माननेवाले मनुष्य निर्विघ्न असम्बाध रूप से रहते हैं। सबमें तुम्हारी ही गन्ध बसी हुई है। तुम ही युवा का तेज और युवती का वर्चस् हो। तुम्हारे पथ अनेक हैं, जिनमें भद्र और पापी, दोनों प्रकार के पुरुष समान रूप से चलते हैं। तुम्हारी अनेक सभा और समितियाँ हैं, जिनमें हमारे सभेय युवा सुचारु रूप से बोलते हैं।"

मातृभूमि का हृदय परब्रह्म में स्थित है। देवयुग में यह भमि

सलिलार्णव के नीचे छिपी हुई थी। विचार करने वाले मनीषियों के लिए ही यह मातृभूमि प्रगट हुई। सुपुत्रों के लिए यह अमृत से परिपूर्ण है, तथा दूसरों के लिये केवल जड़ मर्त्य है। जिस मातृ-भूमि में भद्र की कामना करने वाले ऋषियों ने तप किया है, जहाँ गायत्री मंत्र का गान हुआ है, वह भूमि हमें उत्तम राष्ट्र में बल और ब्राह्म तेज की देने वाली हो। उसी के लिए हमारी सम्मिलित प्रार्थना है—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्।
दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा
जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्।
निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु
फलवत्यो नः ओषधयः पच्यन्ताम्
योगक्षेमो नः कल्पताम्॥ ❀ (यजु० अ० २२। २२)

॥ इति ॥

—वासुदेवशरण अग्रवाल

❀ हे प्रभो! इस यजमान के राष्ट्र में ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस्वी हों, क्षत्रिय शूर, धनुर्धर, शत्रु के प्रबल संहारक और महारथी हों, गौ दूध देनेवाली, बैल भारवाही, अश्व वेगवान्, स्त्री कुटुम्ब-धारण में समर्थ, रथी वीर, युवा विजयशील और सभ्य हों। आवश्यकतानुसार मेघ बरसे, ओषधियाँ फलवाली होकर पकें और हमारा योगक्षेम (समृद्धि-प्राप्ति तथा रक्षा) हो।

परिशिष्ट

लेखक-परिचय

श्रीयुत बाबू प्रेमचन्द, बी० ए०—

हिन्दी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार और कहानी-लेखक बाबू प्रेमचंदजी का असली नाम मुंशी धनपतराय है। 'प्रेमचन्द' नाम से कहानी लिखते रहने से सर्वसाधारण में आप इसी नाम से प्रसिद्ध हैं। संवत् १९२७ में आपका जन्म एक प्रतिष्ठित कायस्थ-कुल में हुआ था। पहले आपने उर्दू में कहानियाँ लिखीं। उर्दू में कहानी-कला के प्रवर्तकों में आपका प्रमुख स्थान है। फिर आपने हिन्दी में लिखना आरम्भ कर पर्याप्त प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा पाई। आप छोटी-छोटी मनोहर कहानियाँ तथा बड़े-बड़े मौलिक उपन्यास लिखने में बहुत सफल हुए हैं। आपकी लेखनी द्वारा पारिवारिक, नागरिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय, सभी प्रकार के जीवन पर प्रकाश पड़ा है। आपकी कहानियों में, जिनकी संख्या लगभग ४०० तक होगी, चरित्र-चित्रण और मानसिक भावों का विश्लेषण खूब देख पड़ता है। आपके उपन्यासों में 'प्रेमाश्रम', 'सेवासदन', 'कायाकल्प', 'रंगभूमि', 'गबन', और 'कर्मभूमि' उल्लेखनीय हैं। आपकी गल्पों के तो अनेक संग्रह प्रकाशित हुए हैं। आपकी प्रस्तुत गल्पें क्रमशः 'हंस' (इसमें 'साहित्योपासक' नहीं बल्कि 'लेखक' शीर्षक है)-तथा 'प्रेम-प्रसून' से उद्धृत है।

श्रीयुत सुदर्शन—

आपका जन्म ई० स० १८९६ में स्यालकोट (पंजाब) में हुआ था। प्रेमचन्दजी की तरह आपने भी प्रारम्भ में उर्दू भाषा में कहानियाँ लिखीं और समय-समय पर ५–६ उर्दू सामयिक पत्रों का सम्पादन

किया। हिन्दी भाषा में आपकी पहली कहानी ई० सन् १९२० में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। तभी से आप बराबर हिन्दी में कहानियाँ लिखते रहे हैं। आपकी कहानियाँ सरल, स्वाभाविक और मनोरञ्जक होती हैं और उनमें समाज का सुन्दर एवं स्वाभाविक चित्रण देख पड़ता है। आपके हिन्दी-ग्रन्थों में 'सुदर्शन-सुधा', 'सुदर्शन-सुमन', 'तीर्थयात्रा', 'पुष्पलता' आदि मुख्य हैं। हिन्दी, उर्दू और पंजाबी में अब तक आपने ६० से अधिक पुस्तकें लिखी हैं। 'न्यायमंत्री' गल्प 'गल्प-मंजरी' से ली गई है।

श्रीविश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक—

आप कानपुर के निवासी हैं। घर के रईस होने के कारण आजीविका की समस्या से निश्चिन्त होकर आप अपना समय साहित्य-सेवा में ही बिताते हैं। हिन्दी की अनेक मासिक पत्रिकाओं में प्रायः आपकी कहानियाँ प्रकाशित होती रहती हैं। आपकी कहानियों में पारिवारिक जीवन के अत्यन्त मार्मिक तथा सच्चे चित्र होते हैं। 'चाँद' में आप प्रायः विजयानंद दुबे के नाम से 'दुबेजी का चिट्ठा'-शीर्षक हास्य-रस-पूर्ण पत्र लिखते हैं। आपका 'माँ' नाम का उपन्यास और 'चित्रशाला' तथा 'मणिमाला' नामक कहानी-संग्रह उल्लेखनीय हैं। प्रस्तुत गल्प 'ताई' आपकी 'चित्रशाला' का उद्धरण है।

बाबू जयशंकर 'प्रसाद'—

आपका जन्म वि० सं० १९४६ में काशी के प्रसिद्ध वैश्य-कुल में हुआ था। हिन्दी के उच्च कोटि के प्रतिभाशाली साहित्यकारों में आपका स्थान है। अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के कारण आपको कवीन्द्र रवीन्द्र की तरह नाटक, काव्य, कहानी, उपन्यास, सबके लिखने में सफलता प्राप्त हुई है। आपने भारत के प्राचीन इतिहास का अच्छा अध्ययन किया है और अपने नाटकों में प्राचीन भारतीय समाज के भूले हुए चित्रों को दिखाने में आपकी प्रशंसनीय योग्यता है। आपकी रचनाओं में उत्कृष्ट भाषा-सौष्ठव देख पड़ता है, जिसमें संस्कृत-शब्दों की बहुतायत

रहती है। आपके कहानी-संग्रहों में 'आँधी' तथा 'आकाशदीप', नाटकों में 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'चन्द्रगुप्त' एवं 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य', उपन्यासों में 'कंकाल' और काव्यों में 'आँसू' मुख्य हैं। 'पुरस्कार' गल्प 'त्यागभूमि' से ली गई है।

राजा लक्ष्मणसिंह—

आपका जन्म सन् १८५३ में हुआ था। आप आगरा के निवासी थे। हिन्दी के पुराने लेखकों में आप एक विशेष शैली के प्रवर्त्तक थे। विशुद्ध भाषा के पक्षपाती होने से आपकी भाषा में उर्दू-फ़ारसी के शब्द नहीं देख पड़ते। इनकी रचना में हमें जो गद्य का निखरा रूप प्राप्त होता है, वह एकान्त उद्योग और कठिन तपस्या का फल है। आपने ही सर्वप्रथम कालिदास रचित 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक का हिन्दी में उत्कृष्ट अनुवाद किया था। आपका कोई मौलिक ग्रन्थ नहीं मिलता, परन्तु आपके सुन्दर और सरस अनुवाद-ग्रन्थों में 'मेघदूत', 'शकुन्तला' और 'रघुवंश' उल्लेखनीय हैं। वि० सं० १९५२ में आपका स्वर्गवास हुआ। 'सर्वदमन' आपके हिन्दी शकुन्तला नाटक का एक अंश है।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र—

वि० सं० १९०७ में आपका जन्म काशी में सेठ अमीचन्द के इतिहास-प्रसिद्ध घराने में हुआ था। आधुनिक हिन्दी-गद्य के जन्मदाता और हिन्दी-नाटकों के सूत्रधार के रूप में आपका हिन्दी-साहित्य के इतिहास में अत्यन्त आदरणीय स्थान है, वहुत छोटी आयु में ही आपकी प्रतिभा का उन्मेष हुआ था और सोलह वर्ष के होने पर आपने प्रौढ़ रचना आरम्भ की थी। ३४ वर्ष की आयु में ही आपका स्वर्गवास हो जाने पर भी आपने अपने अल्प जीवन-काल में नाटक, काव्य और इतिहास-संबंधी कुल मिला कर लगभग १७५ पुस्तकें लिखीं, जिनमें आपके नाटकों की विशेष प्रसिद्धि हुई। आपमें उत्कट देश-प्रेम और समाज-हितैषिता के भाव थे। आपकी भाषा ललित, ओजस्विनी और चुभती हुई है। आपने

अनेक सभाओं और क्लबों की स्थापना की। हिन्दी के मौलिक साहित्यकार तथा भाषा की नई धारा के प्रवर्तक रूप में आपका नाम सदा अमर रहेगा। ई० स० १८८० में समाचारपत्रों ने आपको 'भारतेन्दु' की उपाधि से भूषित किया था। २५ जनवरी सन् १९३५ ई० को सारे भारतवर्ष में आपकी निधन-अर्द्धशताब्दी मनाई गई। 'भारतदुर्दशा' और 'अंधेर-नगरी', दोनो अंश आपके उसी नाम के नाटकों से लिये गये हैं।

श्रीयुत जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द'—

आप मुरार (ग्वालियर राज्य) के निवासी हैं। आपका जन्म एक खत्री-घराने में हुआ था। छायावादी कवियों में आपका प्रमुख स्थान है। 'प्रताप-प्रतिज्ञा' नाटक, जिसका 'एक झलक' एक अंश है, आपकी मुख्य रचना है। आपकी भाषा भावपूर्ण और ओजस्विनी है। आपकी कविताएँ और लेख प्रायः पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। मिलिन्दजी कवीन्द्र रवीन्द्र के शान्तिनिकेतन में हिन्दी-अध्यापक रह चुके हैं।

पंडित बालकृष्ण भट्ट—

आपका जन्म वि० सं० १९०१ में प्रयाग में हुआ था। संस्कृत और हिन्दी-साहित्य के मर्मज्ञ पण्डित होने के सिवा आपने उर्दू, फ़ारसी और अँगरेज़ी भाषा का भी अच्छा अभ्यास किया था। हिन्दी-गद्य-लेखकों में भट्टजी का अपना निराला स्थान है। ३२ वर्ष तक आपने 'हिन्दी-प्रदीप' का सम्पादन कर अपने अनुपम गद्य-निबन्धों द्वारा हिन्दी-पाठकों की साहित्यिक रुचि को जागृत किया। विचार-स्वातंत्र्य, नवीनता, गम्भीरता, ओज, खोज एवं भाव-व्यंजना आपकी शैली के विशेष गुण हैं। 'नूतन ब्रह्मचारी', 'सौ अजान एक सुजान', 'रेल का विकट खेल' तथा 'साहित्य-सुमन' आदि आपकी पठनीय पुस्तकें हैं। 'संसार-महानाट्यशाला' और 'कल्पना-शक्ति' आपके 'साहित्य-सुमन' से उद्धृत हैं।

पंडित प्रतापनारायण मिश्र—

मिश्रजी का जन्म वि० सं० १९१३ में कानपुर ज़िले के बैजेगाँव में

हुआ था। इन्हें हिन्दी, संस्कृत और अँगरेज़ी की शिक्षा मिली थी। आपने उर्दू-फ़ारसी का भी अच्छा अभ्यास किया था। आप भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समकालीन एवं अनन्य भक्त थे; आपके लेखों में उन्हीं की शैली देख पड़ती है। आपमें जातीयता कूट कूटकर भरी हुई थी, अतः आप हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान के लिये सर्वस्व अर्पण करने को तैयार रहते थे। मिश्रजी हास्यप्रिय और मौजी जीव थे, जिससे आपकी रचनाओं में रोचक तथा मुहावरेदार भाषा, चुटीला व्यंग्य और ज़िन्दादिली देख पड़ती है। आपकी लिखी हुई अथवा अनुवादित लगभग ४० पुस्तकों में 'भारत-दुर्दशा', 'युगलांगुलीय', 'हठी हमीर', 'तृप्यन्ताम्', 'आल्हा', 'मन की लहर' आदि मुख्य हैं। 'निबन्ध-नवनीत' नाम से आपके कुछ लेखों का संग्रह भी प्रकाशित हुआ है।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त—

वि० सं० १९२२ में आपका जन्म रोहतक ज़िले के गुरियानी गाँव में हुआ था। आपने पत्र-सम्पादन से ही अपनी जीविका चलाई। पहले आप उर्दू के मुंशी और सुलेखक थे और 'अख़बारे चुनार' तथा 'कोहेनूर' नामक पत्रों के सम्पादक रहे। फिर आपकी प्रतिभा, हास्य, स्वाभाविक व्यंग्य और चुभती हुई शैली हिन्दी में भी प्रस्फुरित होने लगी। सरस एवं सुबोध भाषा में लिखे हुए आपके अनेक लेख ज़िन्दादिली के जीते-जागते नमूने हैं। हिन्दी-पत्रों में आपने 'हिन्दोस्तान', 'बंगवासी' और 'भारतमित्र' का सम्पादन किया था। 'शिवशंभु' के कल्पित नाम से आपने बहुत से चुटीले लेख लिखे थे। 'गुप्त-निबंधावली', 'शिवशंभु शर्मा के चिट्ठे' तथा 'चिट्ठे और ख़त' आपके उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। आपकी स्फुट कविताओं का भी एक संग्रह प्रकाशित हुआ है। सं० १९६४ में आपका स्वर्गवास हुआ।

राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द, सी० आई० ई०—

वि० सं० १८८० में आपका जन्म एक सम्पन्न जैन घराने में हुआ था। १९ वर्ष की आयु तक आपने अँगरेज़ी, हिन्दी, संस्कृत, फ़ारसी,

अरबी, बँगला आदि भाषाओं में अच्छी योग्यता प्राप्त की थी। आप सरकारी शिक्षा-विभाग के इन्स्पेक्टर रहे थे और अपने समय में हिन्दी—उर्दू-संस्कृत-मिश्रित भाषा, जिसे आजकल 'हिन्दुस्तानी' कहते हैं—के प्रबल पक्षपाती थे। युक्त प्रान्त में देवनागरी लिपि और स्कूलों में हिन्दी को राजा साहब की ही बदौलत स्थान मिला था। आप हिन्दी-गद्य-लेखकों के अग्रणी और सुप्रसिद्ध भारतेन्दुजी के विद्या-गुरु थे। राजा साहब ने हिन्दी की असाधारण सेवा की है। इतिहास, भूगोल, बाल-साहित्य आदि अनेक विषयों पर आपने कोई २५ पुस्तकें लिखीं। आप ठेठ हिन्दी, शुद्ध हिन्दी और खिचड़ी हिन्दी, कई प्रकार की भाषा सफलतापूर्वक लिख सकते थे; उदाहरणार्थ आपके 'गुटका' में ठेठ हिन्दी, 'मानव-धर्मसार' में शुद्ध हिंदी और 'भूगोल हस्तामलक' में खिचड़ी हिन्दी का प्रयोग हुआ है। आप हिन्दी ही नहीं, उर्दू के भी सिद्धहस्त लेखक थे। ई० स० १८७२ में आपको सी० आई० ई० की उपाधि और सन् १८८७ में वंशपरम्परा के लिए 'राजा' की पदवी प्राप्त हुई। २३ मई सन् १८९५ ई० को काशी में आपका देहान्त हुआ।

बाबू रामचन्द्र वर्मा—

वि० सं० १९४६ में काशी के एक उच्च खत्री-कुल में वर्माजी का जन्म हुआ था। बाल्यावस्था में आपके पिताजी का स्वर्गवास होने से आपकी स्कूली शिक्षा अधिक न हो सकी, पर बाल्यकाल से ही आपमें हिन्दी-अनुराग के अंकुर उत्पन्न हो गए थे, जिससे १४-१५ वर्ष की आयु में ही आपकी लेखनप्रवृत्ति आरम्भ हुई। आप 'हिन्दी-केसरी' (नागपुर), 'बिहार-बन्धु' (बाँकीपुर), 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' (मासिक) तथा 'नागरी-प्रचारिणी लेखमाला' के सम्पादक रहे हैं। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा के कोश-विभाग में नियुक्त होकर आपने बरसों तक मनोयोगपूर्वक 'हिन्दी-शब्दसागर' का सम्पादन-सम्बन्धी कार्य किया है। अँगरेज़ी, उर्दू, फ़ारसी, गुजराती, मराठी, बँगला आदि भाषाओं के अच्छे

ज्ञाता होने के कारण आपने प्रत्येक भाषा के कई ग्रन्थों का उत्तम अनुवाद किया है। आपकी स्व-रचित पुस्तकों में 'सफलता और उसकी साधना के उपाय', 'मानव-जीवन', 'भूकम्प' और 'उपवास-चिकित्सा' आदि मुख्य हैं, और अनुवादित ग्रन्थों में 'हिन्दू-राजतंत्र', 'दासबोध', 'करुणा', 'अकबरी दरबार,' 'छत्रसाल' और श्रीद्विजेन्द्रलाल राय के अनेक नाटक हैं। आपकी लिखी हुई, अनुवादित और संकलित पुस्तकों की संख्या १०० के लगभग है।

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी—

कौन हिन्दी-प्रेमी स्वनाम-धन्य आचार्य द्विवेदीजी के नाम से अपरिचित होगा? वस्तुतः द्विवेदीजी के नाम से अपरिचित रहना हिन्दी न जानने के बराबर है। आपका जन्म वि० सं० १९२१ में युक्त प्रान्त के रायबरेली ज़िले के दौलतपुर क़स्बे में हुआ था। आप हिन्दी, संस्कृत, अँगरेज़ी आदि भाषाओं के पारगामी विद्वान् हैं। आप जी० आई० पी० रेल्वे में अच्छे वेतन पर हेड-क्लर्क थे, परन्तु अपनी हिन्दी-सेवा की प्रबल भावना से प्रेरित होकर आपने वह पद छोड़ दिया और लगभग बीस वर्ष तक 'सरस्वती' मासिक पत्रिका के आदर्श सम्पादन द्वारा हिन्दी की संस्मरणीय सेवा की है। कहना न होगा कि हिन्दी-गद्य को इतना उन्नत करने में द्विवेदीजी की लेखनी बहुत सहायक हुई है। अपने अनवरत प्रोत्साहन से आपने अनेक हिन्दी-लेखकों को तैयार किया है। आपकी भाषा बहुत शुद्ध, परिष्कृत, संयत एवं मुहावरेदार होती है। वर्तमान हिन्दी-गद्य पर द्विवेदी-क़लम का प्रभाव स्पष्ट झलकता है। गद्य और पद्य, दोनों में आपको पूर्ण सफलता मिली है, पर आपने विशेषतः गद्य-साहित्य की ही सृष्टि की है। आप बहुत ही खरे समालोचक और इस युग के हिन्दी के सबसे बड़े उन्नायक हैं। आपके निबन्धों के अनेक सुन्दर संग्रह प्रकाशित हुए हैं। आपके ग्रन्थों में 'बेकन-विचार-रत्नावली', 'शिक्षा', 'स्वाधीनता', 'महाभारत' तथा 'काव्य-मंजूषा' मुख्य हैं। ई० स० १९३३

में आपकी सत्तरवीं वर्षगाँठ के उपलक्ष्य में काशी-नागरीप्रचारिणी सभा ने आपको अत्यन्त सुन्दर एवं बृहद् 'द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रन्थ' भेंट किया। उसी अवसर पर प्रयाग में साहित्य-सेवियों का द्विवेदी-मेला भरा था। द्विवेदीजी ने संस्कृत-ग्रन्थों के आधार पर कई एक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें 'रघुवंश', 'किरातार्जुनीय' तथा 'महाभारत' उल्लेख योग्य हैं। 'तीन भाषण' आपके किरातार्जुनीय से संक्षिप्त रूप में उद्धृत किया गया है। पढ़ने पर यह संस्कृत का अनुवाद नहीं, बल्कि स्वतंत्र रचना जान पड़ती है। द्विवेदीजी के जीवन से प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी को शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

पंडित पद्मसिंह शर्मा—

पंडित पद्मसिंहजी शर्मा युक्त प्रान्त के बिजनौर ज़िले के नायक-नगला गाँव के निवासी और उदार विचारों के आर्यसमाजी थे। आप संस्कृत, हिन्दी, उर्दू तथा फ़ारसी के पारङ्गत विद्वान् और उच्च कोटि के काव्य-मर्मज्ञ थे। हिन्दी में शर्माजी द्वारा आविष्कृत तुलनात्मक समालोचना की शैली वस्तुतः अपने ढंग की एक अनूठी चीज़ है। बिहारी की सतसई की पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र की टीका पर आपने 'सतसई-संहार' नामक अपूर्व आलोचना लिखी, तब हिन्दी-संसार ने आपके सच्चे स्वरूप को पहचाना। इसी तुलनात्मक आलोचना पर आपको हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से १२००) रु० का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला था। आपकी भाषा अत्यन्त सजीव और चुटीली है; बीच-बीच में उर्दू तथा संस्कृत की भी बहार रहती है। शर्माजी सत्कवियों के बड़े भक्त थे, इसी से हिन्दी, उर्दू तथा संस्कृत के सुकवियों की मनोहर सूक्तियाँ बात-बात में आपके मुख से सुन पड़ती थीं। इसके सिवा शर्माजी एक आदर्श पत्र-लेखक थे; पत्रों के एक-एक शब्द में आपका व्यक्तित्व झलकता था। आपके ग्रंथों में बिहारी-सतसई के दो भाग, 'हिन्दी उर्दू या हिन्दुस्तानी' (प्रयाग की हिन्दुस्तानी एकेडेमी की अवधानता में दिये गये व्याख्यान), 'पद्म-पराग-'

शीर्षक आपके निबन्धों का संग्रह (जिसका एक अंश 'पंडित श्रीसत्यनारायण कविरत्न' इस ग्रन्थ में लिया गया है) तथा संपादित 'प्रबन्ध-मंजरी' (संस्कृत) उल्लेखनीय हैं। ई० स० १९३२ में आपका स्वर्गवास हुआ।

पंडित रामचन्द्र शुक्ल—

वि० सं० १९४१ में युक्त प्रान्त के बस्ती ज़िले के अगोना गाँव में शुक्लजी का जन्म हुआ था। आपने बाल्यकाल में संस्कृत की शिक्षा पाई और कॉलेज में इंटरमीडिएट तक अध्ययन किया। सन् १९०६ में आप 'हिन्दी-शब्दसागर' के सहकारी संपादक नियुक्त हुए और लगभग नौ वर्ष तक 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' (मासिक) का सम्पादन करते रहे। इधर कई वर्षों से आप काशी के हिन्दू-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में प्रोफ़ेसर हैं। आप उत्कृष्ट कवि और गम्भीर गद्य-लेखक हैं, परन्तु आपकी अधिकतर रचनाएँ गद्य में हैं। आप प्रकृति से ही गम्भीर हैं, अतः आपने मनोविकारों अथवा साहित्यिक विषयों पर अनेक उत्कृष्ट लेख लिखे हैं। आपकी भाषा बहुत शुद्ध, प्रौढ़, गठी हुई और विषय की दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त होती है, किन्तु निबन्धों की शैली गंभीर एवं पाण्डित्य-पूर्ण होने से सर्व-साधारण के लिये क्लिष्ट होती है। सूरदास, तुलसीदास, और जायसी पर लिखे गये आलोचनात्मक निबन्ध आपकी अध्ययनशीलता, बहुश्रुतता एवं प्रकाण्ड पाण्डित्य के परिचायक हैं। वस्तुतः हिन्दी-साहित्य में आप अपना जोड़ नहीं रखते। 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', 'बुद्ध-चरित', 'आदर्श जीवन' आदि आपके मननीय ग्रन्थ हैं। 'अध्ययन' आपके 'आदर्श जीवन' का एक अंश है।

बाबू राय कृष्णदास—

आपका जन्म काशी में वि० सं० १९४९ में हुआ था। राय साहब के पिता भारतेन्दुजी के फुफेरे भाई थे। ९ वर्ष की आयु में ही काव्य-रचना आरम्भ कर इन्होंने अपनी साहित्यिक प्रतिभा का परिचय दिया था। बाबू मैथिलीशरण गुप्त कविता में आपके पथ-प्रदर्शक रहे हैं। आपकी

लेखनी के द्वारा कहानी, काव्य, उपन्यास आदि साहित्य के विविध अंगों की पूर्ति होती रही है। आपपर बंगला-साहित्य का प्रभाव पड़ा है, अतः कवीन्द्र रवीन्द्र की 'गीताञ्जलि' के ढंग पर आपने 'साधना' की रचना की। आपकी रचनाओं में शुद्ध भाषा और गंभीर भाव रहते हैं। आप प्रसिद्ध कला-मर्मज्ञ हैं आपने कला-कृतियों का एक सुरुचिपूर्ण एवं बृहद् संग्रह किया, जो वास्तव में आपकी सबसे बड़ी कीर्ति है। कुछ वर्ष पूर्व आपने यह अपूर्व संग्रह काशी-नागरीप्रचारिणी सभा को प्रदान कर दिया है।

श्रीयुत् वियोगी हरि—

वि० सं० १९५३ में छतरपुर (बुन्देलखंड) के एक कान्यकुब्ज-कुल में आपका जन्म हुआ था। आपका पुराना नाम हरिप्रसाद द्विवेदी है; उसी की एक संज्ञा 'वियोगी हरि' है, जो आपकी रचनाओं में मिलती है। मैट्रिक्युलेशन तक आपकी शिक्षा हुई और संस्कृत का भी आपने अध्ययन किया। सात मास की आयु में ही आपके पिताजी का देहान्त होने से नाना के यहाँ आपका लालन-पालन हुआ। आप बड़े भावुक, भक्त और गद्य-पद्य के उत्कृष्ट लेखक हैं, और गद्य-काव्य की रचना में बहुत सफल हुए हैं। व्रजभाषा-मर्मज्ञ होने से आपकी पद्य-रचना व्रजभाषा में ही होती है। आपने अनेक ग्रन्थों की रचना और सम्पादन किया है, जिनमें से 'वीरसतसई', 'साहित्य-विहार', 'अन्तर्नाद', 'विश्वधर्म', 'प्रेम-योग', 'प्रबुद्ध यामुन' आदि रचनाएँ मुख्य हैं। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने 'वीरसतसई' पर आपको १२००) रु० का मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्रदान किया है। इस समय आप दिल्ली में अखिल भारतवर्षीय हरिजन-सेवक-संघ के मुखपत्र 'हरिजन' का सम्पादन कर रहे हैं। 'चित्रांकण' और 'तीर्थयात्रा' लेख आपके 'अन्तर्नाद' के उद्धरण हैं।

रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास, बी० ए०—

आचार्य द्विवेदीजी की भाँति बाबू श्यामसुंदरदासजी का नाम भी हिन्दी के इतिहास में अमर रहेगा। ई० स० १८७५ में काशी के एक

खत्री-कुल में आपका जन्म हुआ था। सन् १८९७ में बी० ए० पास करने के पश्चात् आप काशी के सेंट्रल हिन्दू कॉलेज में अध्यापन, शिमला के इरिगेशन-विभाग तथा काश्मीर-नरेश के प्राइवेट दफ़्तर में कार्य और लखनऊ के कालीचरण हाई स्कूल की हेडमास्टरी करते रहे। फिर आप हिन्दू-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष-पद पर नियुक्त हुए, जहाँ अब तक कार्य कर रहे हैं। सन् १८९३ में आपने अपने कुछ साहित्य-प्रेमी मित्रों के साथ हिन्दी की सबसे प्रतिष्ठित साहित्यिक संस्था—काशी की नागरीप्रचारिणी सभा—की स्थापना की। विगत ४२ वर्षों से आप उसकी प्राणपण से सेवा कर रहे हैं। वस्तुतः यह संस्था आपका सजीव कीर्तिस्तंभ है। एक बार युक्त प्रान्त के शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर श्रीमैकेंज़ी साहब ने आपको सभा का Intellectual dynamo कहा था। आप हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के जन्मदाता और 'सरस्वती' मासिक पत्रिका के आदि-सम्पादक हैं। विश्वविद्यालयों में आज हिन्दी को जो प्रतिष्ठा प्राप्त है, उसका श्रेय बाबू साहब को ही है। आपके द्वारा 'पृथ्वीराज रासो', 'हिन्दी-शब्दसागर' तथा 'वैज्ञानिक कोश' का संपादन और प्राचीन हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों की खोज आदि कई महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कार्य सम्पन्न हुए हैं। आपने अब तक कोई एक दर्जन पुस्तकें लिखकर हिन्दी में गम्भीर विषयों के साहित्य की सृष्टि की है। 'साहित्यालोचन' (जिसका एक अंश इस पुस्तक का 'साहित्य की आलोचना' लेख है), 'भाषा-विज्ञान' तथा 'हिन्दी भाषा और साहित्य' आपकी मुख्य रचनाएँ हैं। आपकी संपादित और संकलित पुस्तकों की संख्या तो बहुत बड़ी है। वस्तुतः आपने राष्ट्र-भाषा की चिरस्मरणीय सेवा की है। इस समय आप 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' (त्रैमासिक) के सम्पादक हैं।

बाबू पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी, बी० ए०—

बख़्शीजी का 'उपन्यास-रहस्य' लेख आपके 'पंचपात्र' नामक ग्रन्थ के

एक निबन्ध का संक्षिप्त उद्धरण है। आपने विश्वसाहित्य का गम्भीर अध्ययन किया है; इस विषय पर आपके पांडित्यपूर्ण लेख समय-समय पर 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित हुए हैं। आप हिन्दी में उच्च कोटि के लेखक हैं। आचार्य द्विवेदीजी के अनन्तर आपने कई वर्षों तक 'सरस्वती' का सफलतापूर्वक सम्पादन किया। आपकी रचनाओं में परिष्कृत भाषा और गम्भीर भाव रहते हैं। 'पंचपात्र', 'विश्वसाहित्य' तथा 'हिन्दी-साहित्य-विमर्श' आपके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। आपका 'प्रदीप'-शीर्षक लेख-संग्रह भी उपादेय है।

महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर-हीराचन्द ओझा—

"सिरोही राज्यान्तर्गत रोहिड़ा ग्राम में सन् १८६३ ई० में ओझाजी का सहस्र-औदीच्य ब्राह्मण-कुल में जन्म हुआ। आपका अध्ययन मैट्रिक्युलेशन के पश्चात् नैयमिक रूप से थोड़ा हुआ, किन्तु आपने अपने परिश्रम से संस्कृत, प्राकृत, प्राचीन इतिहास और प्राचीन लिपियों का काफ़ी अध्ययन किया। सन् १८८८ ई० में आप उदयपुर के इतिहास-कार्य्यालय में मन्त्री नियत हुए। इसके पश्चात् वहाँ म्यूज़ियम् तथा लाइब्रेरी के अध्यक्ष हुए और इस समय आप अजमेर म्यूज़ियम् (अजायबघर) के अध्यक्ष हैं। ओझाजी हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के प्रधान भी रह चुके हैं। 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' की ओर से आप प्राचीन इतिहास पर व्याख्यान देने के लिये निमन्त्रित किये गये थे। ओझाजी ने हिन्दी में कई अनूठे ग्रन्थ लिखे हैं। 'प्राचीन लिपिमाला' नामक ग्रन्थ ने हिन्दी का मुख उज्ज्वल कर दिया है। इतिहास-सम्बन्धी कितनी ही पुस्तकें आपके हाथ से निकल चुकी हैं। अब आप 'राजपूताने का इतिहास' नामक विशद ग्रन्थ लिख रहे हैं। इसके चार खण्ड निकल चुके हैं। इस ग्रन्थ ने इतिहास के संसार में हलचल पैदा कर दी है। इस ग्रन्थ की प्रशंसा देश-विदेश के इतिहासज्ञ मुक्तकण्ठ से कर रहे हैं। इसकी भाषा में सादगी है। इसकी युक्तियाँ अकाट्य हैं।*"

---

* प्रो० देवकीनन्दन शर्मा के 'हिन्दी-साहित्य-संकलन' पृ० १८९ से उद्धृत

इसके सिवा इनके ग्रन्थों में 'सिरोही राज्य का इतिहास', 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास' तथा 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' उल्लेखनीय हैं। आपकी ऐतिहासिक शोध की गुणग्राहकता प्रकट करने के लिए सरकार ने आपको सन् १९१४ में राय बहादुर और १९२८ में महामहोपाध्याय की उपाधि प्रदान की। 'प्राचीन लिपिमाला' पर आपको सन् १९२४ में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से १२००) रु० का मंगलाप्रसाद पारितोपिक मिला था। तेरह वर्ष तक आपने 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' (त्रैमासिक) का संपादन किया है।

पंडित हरिशंकर शर्मा कविरत्न—

आप हरदुआगंज (अलीगढ़ ज़िला, युक्त प्रान्त) के निवासी तथा सुप्रसिद्ध कवि पं० नाथूराम शंकर शर्मा के विद्वान् सुपुत्र हैं। आपकी आयु ४२ वर्ष की है। आप गद्य और पद्य के सुलेखक हैं। प्रायः देखा जाता है। कि गम्भीर विषयों के लेखक हास्य रस के लेख नहीं लिखते, परन्तु शर्माजी की यह विशेषता है कि आप गद्य में गम्भीर और हास्यपूर्ण विषयों पर सफलतापूर्वक लिखते हैं। आपकी भाषा परिष्कृत, गठी हुई और मुहावरेदार होती है। आपने बरसों तक 'भारतोदय' और 'आर्यमित्र' का उत्तम सम्पादन किया है। आपने लगभग २० पुस्तकें लिखी हैं। आपके ग्रन्थों में 'चिड़ियाघर', 'जीवन-ज्योति', 'प्रतापी प्रताप' तथा 'धर्म का आदिस्रोत' (अनुवाद) उल्लेखनीय हैं। अन्तिम पुस्तक के कई संस्करण हो गये हैं। 'चहचहाता चिड़ियाघर' और 'विज्ञानाचार्य एडीसन' क्रमशः आपके 'चिड़ियाघर' और 'जीवन-ज्योति' के उद्धरण हैं।

श्रीयुत रविशंकर-महाशंकर रावल—

ई० स० १८९२ में भावनगर (काठियावाड़) में आपका जन्म एक सहस्र-औदीच्य ब्राह्मण-कुल में हुआ था। सन् १९१० में मैट्रिक्युलेशन परीक्षा पास कर आपने बंबई की आर्ट-सोसाइटी में चित्रकला की शिक्षा पाई। पाँच वर्षों के अभ्यास के अनन्तर

अपने सर्वोत्कृष्ट चित्रों के लिए आपको उक्त संस्था की ओर से एक सुवर्ण-पदक तथा मेयो-पदक प्राप्त हुआ। इस समय आप गुजरात के सर्वश्रेष्ठ चित्रकार एवं कला-कोविद माने जाते हैं। आप चाहते तो अपने चित्रों द्वारा प्रचुर धन उपार्जन कर सकते थे, किन्तु आपके हृदय में अपने प्रान्त में कलामय वातावरण उत्पन्न करने की प्रवल भावना विद्यमान थी; इसलिए आपने कला के विविध अंगों के प्रचार के उद्देश्य से 'कुमार' मासिक पत्र का सम्पादन एवं प्रकाशन आरम्भ किया। इस समय अहमदाबाद का कुमार-कार्यालय तथा कुमार-प्रिंटरी गुजरात की संस्कृति को उज्ज्वल और देदीप्यमान करने में बहुत सहायक हो रहे हैं। इधर कुछ समय से आपने अहमदाबाद में 'गुजरात-कला-संघ' की स्थापना की है। इसका उद्देश्य गुजरात-काठियावाड़ की कला के सब अंगों का अध्ययन और चित्रकला की उत्तम शिक्षा द्वारा नये कलाकोविदों को तैयार करना है। 'सोळ सुन्दर चित्रों' में रावलजी की कुछ उत्कृष्ट कला-कृतियों का संग्रह प्रकाशित हुआ है। आपका 'अजन्ता का कलामंडप' लेख 'विशाल भारत' ('कलांक') से उद्धृत किया है।

बाबू रामचन्द्र टंडन, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०—

टंडनजी का जन्म युक्त प्रान्त के फ़ैज़ाबाद ज़िले के अकबरपुर क़स्बे में ई० स० १८९९ में हुआ था। आपने हिन्दी और अँगरेज़ी-साहित्य का अच्छा अध्ययन किया है। इतिहास भी आपका प्रिय विषय है। आपकी भाषा साहित्यिक और विवेचना सुन्दर होती है। समय-समय पर पत्रिकाओं में आपके अनेक उत्तम लेख निकले हैं। हिन्दी और अँगरेज़ी में आपकी कई मौलिक एवं अनूदित रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं, जिनमें 'श्रीमती सरोजिनी नायडू', 'रेणु', 'कलाकार निकोलस रोरिक', 'सॉङ्ग्ज़ ऑफ़ मीराबाई', 'रूसी कहानियाँ', 'टाल्स्टाय की कहानियाँ', 'कसौटी', 'कलरव' आदि उल्लेखनीय हैं। कुछ वर्षों से आप प्रयाग की हिन्दुस्तानी एकेडेमी के लिटरेरी असिस्टेंट तथा तिमाही पत्रिका 'हिन्दुस्तानी' के सम्पादक हैं।

बाबू श्रीगोपाल नेवटिया—

आप जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रान्त के फ़तहपुर नगर के निवासी हैं। विक्रम सं० १९६३ में आपका जन्म एक अग्रवाल वैश्य-कुल में हुआ था। आपने हिन्दी, संस्कृत, बँगला, मराठी और गुजराती भाषाओं की जानकारी ही नहीं, बल्कि उच्च कोटि के साहित्य का भी अध्ययन किया है। आप हिन्दी के उदीयमान एवं प्रतिभाशाली लेखक हैं। 'त्यागभूमि' आदि पत्रिकाओं में आपके भावप्रधान लेख और कविताएँ छपी हैं। नेवटियाजी ने कवितामय हृदय पाया है। आपकी "भाषा प्रौढ़, कवित्वपूर्ण, मधुर और भावापन्न होती है"। आप साधारण बात का भी ऐसा सरस वर्णन करते हैं मानो कोई गद्य-काव्य हो। भूस्वर्ग काश्मीर पर हिन्दी में आपने सर्वप्रथम सर्वाङ्गसुन्दर ग्रन्थ लिखा। इनकी अन्य रचनाओं में 'यूरोप की कहानियाँ', 'यूथिका' और 'मुस्लिम सन्तों के चरित' उल्लेखनीय हैं। 'दो उपवन' आपके 'काश्मीर' का एक अंश है।

श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल, एम्० ए०, एल-एल्० बी०—

आप लखनऊ-निवासी नवयुवक हैं। आपकी आयु लगभग ३०—३२ वर्ष की है। काशी के हिन्दू-विश्वविद्यालय और लखनऊ-विश्वविद्यालय में आपका अध्ययन-काल बहुत उज्ज्वल रहा है। इतिहास, धर्म, अध्यात्म और वैदिक विषयों का आपने गम्भीर अध्ययन किया है और इन्हीं विषयों पर आपके अनेक मौलिक लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। आप जैसे मौलिक लेखक से हिन्दी-साहित्य को बहुत आशाएँ हैं। वि० सं० १९८९ में 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित 'मथुरा की बौद्ध कला' आपका मननीय निबन्ध है। आपकी भाषा चुस्त, मुहावरेदार और भावापन्न होती है। इस पुस्तक में उद्धृत 'मातृभूमि' लेख से आपकी भाषा, भावुकता तथा अध्ययनशीलता का अच्छा परिचय मिलता है। इस समय आप मथुरा के पुरातत्त्व-संग्रहालय के अध्यक्ष हैं।

'मातृभूमि' पर टिप्पणी

पृ० ४५१. इसके उत्तर में······ ···स्थित है—कालिदास-प्रणीत 'कुमार-सम्भव' महाकाव्य के 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः । पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मान-दण्डः (सर्ग १, श्लोक १) का भाव । कान्ता-विश्लेषित····भेजा था—कालिदास के 'मेघदूत' में वर्णित घटना ।

पृ० ४५२. अनन्त रत्नों····जलते हैं—देखो 'कुमारसम्भव', सर्ग १, श्लोक २ और १० । चमरी गाएँ—इनकी पूँछ के बालों के चँवर बनते हैं; इनके वर्णन के लिये देखो 'कुमारसंभव', सर्ग १, श्लो० १३ । आर्ष—ऋषि-संबंधी अर्थात् वैदिक । गोप्ता—रक्षक । उत्तर कुरु—हिमालय के उस पार का प्रदेश । वर्ष—पौराणिक ग्रन्थों में जम्बूद्वीप के नौ विशाल भाग माने गये हैं, जिनको वर्ष कहते हैं । उनके नाम हैं कुरु, हिरण्मय, रम्यक, इला-वृत, हरि, केतुमाल, भद्राश्व, किम्पुरुष और भारत । 'सहोदराः ···मया प्ररोहः' —'विक्रमाङ्कदेवचरितम्', सर्ग १, श्लो० २१ । शारदा देश—काश्मीर ।

पृ० ४५४. कौमारभृत्य—बालकों के लालन-पालन और चिकित्सा आदि की विद्या; यह आयुर्वेद का एक अंग है । शल्य-शास्त्र—चीर-फाड़ का इलाज, शस्त्र-चिकित्सा । वितस्ता—झेलम नदी । चन्द्रभागा (असिक्नी)—चिनाब नदी । इरावती (परुष्णी)—रावी नदी । शुतुद्र—सतलज नदी । विपाशा—व्यास नदी । सम्राट् सुदास····हुआ था—ऋग्वेद, मंडल ७, सूक्त ८३ में वर्णित ।

पृ० ४५५ देहली—दिल्ली नगर । तपःपूत ब्रह्मचारी—नचिकेता; वाजश्रवा ऋषि का पुत्र, जिसने मृत्यु से ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया था ।

पृ० ४५६. पुरुषपुर—वर्तमान पेशावर, जो पश्चिमोत्तर सीमा-प्रदेश की राजधानी है ।

पृ० ४५७. स्थाण्वीश्वर—वर्तमान थानेसर (पंजाब में) । सूर्य की दुहिता—यमुना नदी । सूरजमल—बूँदी राज्य का चारण कवि मिश्रण सूर्यमल्ल । सलिलार्णव—समुद्र ।

पृ० ४५८. यौधेय—वर्तमान जोहिये। मध्यमिका नगरी—मेवाड़ में चित्तौड़गढ़ के सुप्रसिद्ध दुर्ग से सात मील उत्तर में नगरी नामक अतिप्राचीन स्थान। विराट्—जयपुर राज्य में जयपुर से क़रीब ४० मील उत्तर में बैराट् नामक क़स्बा। श्रीमाल—जोधपुर राज्य का भीनमाल नगर।

पृ० ४५९. माया—प्रसिद्ध तीर्थ हरद्वार। कौशाम्बी—प्रयाग से ३० मील पर यमुना-तट का कोसम नामक स्थान। श्रावस्ती—युक्त प्रान्त के गोंडा ज़िले में राप्ती नदी के तट पर सहेत-महेत नामक स्थान। शब्दब्रह्म·······वाणी—यह महाकवि भवभूति के 'शब्दब्रह्मविदः कवेः परिणतां प्राज्ञस्य वाणीमिमाम्' ('उत्तररामचरित,' अंक ७, श्लो० २०) का अनुवाद है।

पृ० ४६१. सत्य-चतुष्टय—इनको चार आर्य सत्य भी कहते हैं; ये हैं दुःख, दुःख का कारण, दुःख का रोका जाना (दुःखनिरोध) और दुःख-निरोध का प्राप्त करानेवाला मार्ग। अष्टांगिक मार्ग—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सङ्कल्प, सम्यक् वाच्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। तथागत—गौतम बुद्ध।

पृ० ४६२. यहीं के····कहलाती थी—कालिदास-लिखित मगधराज के वर्णन के 'कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम्' ('रघुवंश', सर्ग ६, श्लो० २२) का भावानुवाद।

पृ० ४६४. सिल्यूकस का राजदूत—मेगास्थनीज़।

पृ० ४६५. 'अतिद्वयी कथा'—बाणभट्ट ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कादम्बरी' की भूमिका के अन्तिम श्लोक में इन शब्दों का प्रयोग किया है ('····धिया निबद्धेयमतिद्वयी कथा')। 'अतिद्वयी' का एक अर्थ है अद्वितीय। इससे यह ध्वनि भी निकलती है कि जो कथा (अर्थात् कादम्बरी) दो (पूर्ववर्ती कवियों द्वारा रचित) कथाओं से बढ़कर हो, अर्थात् गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' और सुबन्धु-रचित 'वासवदत्ता', जिनका बाण ने 'हर्षचरित' में उल्लेख किया है, 'कादम्बरी' के सामने फीकी जान पड़ती हैं।

पृ० ४६७. जयदेव—'गीतगोविन्द' का रचयिता। विपंची—एक प्रकार की वीणा। धोयी कवि—'पवनदूत' का प्रणेता। नवद्वीप—वर्तमान नदिया।

पृ० ४६८. चर्मण्वती—चंबल नदी। वेत्रवती—वेतवा नदी। सिन्धु—मध्य भारत की कालीसिन्ध नदी। उज्जयिनी—ग्वालियर राज्य का उज्जैन नगर। माहिष्मती—इन्दौर राज्य का नर्मदा-तटस्थ महेश्वर क़स्बा। ताम्रलिप्ति—बंगाल के मिदनापुर ज़िले का तमलुक नामक क़स्बा। विशाला—उज्जैन नगर।

पृ० ४६९. कल्किराज—कुछ इतिहासवेत्ता महाराज यशोधर्मन् को कल्कि अवतार मानते हैं, परन्तु यह केवल कपोलकल्पना है।

पृ० ४७०. रेवा—नर्मदा नदी। विदर्भ वर्तमान बरार ज़िला।

पृ० ४७२. अणहिलपत्तन—बड़ोदा राज्य का पाटण नामक क़स्बा।

पृ० ४७३. वलभी—काठियावाड़ वळा राज्य की उसी नाम की राजधानी। अर्हत—जैन धर्मावलम्बी। द्वारावती—काठियावाड़ में सुप्रसिद्ध हिन्दू-तीर्थ द्वारका। यवन विध्वंसक—महमूद ग़ज़नवी।

पृ० ४७४. मोरवी—स्वामी दयानंद सरस्वती का जन्म वि० सं० १८८१ में मोरवी राज्य के टंकारा गाँव में हुआ था।